भा० दि० जैन संघ पुस्तकमाला का दूसरा पुष्प

जैन धर्म

[जैन धर्म के इतिहास, सिद्धान्त, आचार, साहित्य, पन्थ, पर्व आदि का परिचय]

भूमिका लेखक—
श्री सम्पूर्णानन्द
शिक्षा मंत्री संयुक्तप्रान्त

लेखक—
श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रधानाध्यापक श्री स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय
काशी।

प्रकाशक—
मंत्री साहित्य विभाग
भा० दि० जैन संघ
चौरासी, मथुरा

पहली बार
श्रावण २४७४
मूल्य चार रुपये

मुद्रक—
द. मा. सप्रे
श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबर, बनारस।

पूज्य माता पिता

के

कर कमलों

में

'कैलाश'

प्रकाशककी ओरसे

भा० दि० जैन संघका साहित्य विभाग इस पुस्तकको प्रकाशित करते हुए विशेष परितोष अनुभव करता है। यद्यपि संघकी ओरसे 'जैन धर्मका परिचय' नामक एक पुस्तिका बहुत पहले प्रकाशित की गई थी जिसका काफी समादार हुआ है, किन्तु वह बहुत ही संक्षिप्त थी। इसी से एक ऐसी पुस्तककी कमी सभी अनुभव करते थे जिसमें जैनधर्मके सम्बन्धकी सभी मुख्य बातोंका समावेश किया गया हो। हर्ष है कि पं० कैलाशचन्द्रजी ने इस पुस्तकको लिखकर उस कमीकी पूर्ति कर दी है। और सयुक्तप्रान्तके शिक्षामंत्री श्री सम्पूर्णानन्दजीने उसका प्राक्कथन लिखकर सोनेमें सुगन्धिकी कहावत चरितार्थ की है। श्री सम्पूर्णानन्दजीके शब्दोंमें हम भी यह आशा करते हैं कि इस सुबोध और उपादेय पुस्तकका समादर होगा।

कानपुरके प्रसिद्ध व्यवसायी लाला कपूरचन्दजी धूपचन्दजी बहुत ही उदार और धर्मप्रेमी सज्जन हैं। उन्होंने विद्वानों और सार्वजनिक संस्थाओंको भेंट देनेके लिये इस पुस्तककी १०० प्रतियां खरीदी हैं। अतः हम लालाजीके आभारी हैं।

श्री बाबूलालजी फागुल्ल वीर कार्यालय देहलीके सौजन्यसे महावीर भगवानकी गुप्तकालीन मूर्तिका ब्लाक प्राप्त हो सका, तथा पं० नेमिचन्दजी ज्योतिषाचार्य जैन सिद्धान्त भवन आराके सौजन्यसे बाहुबलिकी मूर्तिका ब्लाक प्राप्त हो सका। एतदर्थ दोनों विद्वानोंके आभारी हैं।

श्रावण कृ० प्रतिपदा — मंत्री साहित्य विभाग

वी० नि० सं०-२४७४ — भा० दि० जैन संघ

प्राक्कथन

मैं जैनधर्मका अनुयायी नहीं हूं, इसलिए जब श्री कैलाशचन्द्र जैनने मुझसे जैनधर्मका प्राक्कथन लिखनेको कहा तो मुझको कुछ सङ्कोच हुआ। परन्तु पुस्तक पढ जानेपर सङ्कोच स्वतः दूर हो गया। यह ऐसी पुस्तक है जिसका प्राक्कथन लिखनेमें अपनेको प्रसन्नता होती है। छोटी होते हुए भी इसमें जैनधर्मके सम्बन्धकी सभी मुख्य बातोंका समावेश कर दिया गया है। ऐसी पुस्तकोंमें, स्वमत स्थापनके साथ साथ कहीं कहीं परमत दोषोंको दिखलाना अनिवार्य्य सा हो जाता है। कमसे कम अपने मतके आलोचकोंकी आलोचना तो करनी ही पड़ती है। प्रस्तुत पुस्तकमें, स्याद्वादके सम्बन्धमें श्रीशङ्कराचार्य्यने लेखककी सम्मतिमें इस सिद्धान्तके समझनेमें जो भूल की है उसकी ओर सङ्केत किया गया है। परन्तु कहीं भी शिष्टताका उल्लङ्घन नहीं होने पाया है। आज कल हम भारतीय इस बातको भूल सा गये हैं कि गम्भीर विषयोंके प्रतिपादनमें अभद्र भाषाका प्रयोग निन्द्य है और सिद्धान्तका खण्डन सिद्धान्तीपर कीचड़ उछाले बिना भी किया जा सकता है। यह पुस्तक इस विषयमें अनुकरणीय अपवाद है।

भारतीय संस्कृतिके संवर्द्धनमें उन लोगोंने उल्लेख्य भाग लिया है जिनको जैन शास्त्रोंसे स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। वास्तुकला, मूर्तिकला, वाङ्मय—सबपर ही जैन विचारोंकी गहिरी छाप है। जैन विद्वानों और श्रावकोंने जिस प्राणपणसे अपने शास्त्रोंकी रक्षा की थी वह हमारे इतिहासकी अमर कहानी है। इसलिए जैन विचारधाराका परिचय शिक्षित समुदायको होना ही चाहिये। कुछ बातें ऐसी हैं जिनमें जैनियोंको स्वभावतः विशेष अभिरुचि होगी। दिगम्बर श्वेतांबर विवादमें सबको स्वारस्य नहीं हो सकता और न सब लोगोंको उन खाद्याखाद्य व्रतादिके नियमोपनियमोंकी जानकारीकी विशेष आवश्यकता है। परन्तु जो लोग धर्म्म और दर्शनका अध्ययन करते हैं उनको यह तो जानना ही चाहिये कि ईश्वर, जीव, जगत् मोक्ष जैसे प्रश्नोंके सम्बन्धमें जैन आचार्य्योंने क्या कहा है। विशेष और विस्तृत अध्ययनके लिए तो बड़े ग्रंथोंको देखना ही होगा परन्तु प्रारम्भिक ज्ञानके लिए यह छोटी सी पुस्तक बहुत उपयोगी है।

जैन दर्शन जगत्को सत्य मानता है। यह बात शाङ्कर अद्वैतवादके विरुद्ध तो है परन्तु आस्तिक विचारधारासे असंगत नहीं है। उसका अनीश्वरवादी होना भी स्वतः निन्द्य नहीं है। परम आस्तिक सांख्य और मीमांसा शास्त्रोंके प्रवर्तकोंको भी ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनेमें अनावश्यक गौरवकी प्रतीति होती है। वेदको प्रमाण न माननेके कारण जैन दर्शनकी गणना नास्तिक विचार शास्त्रोंमें है परन्तु कर्म्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, तप, योग, देवादि विग्रहोंमें विश्वास जैसी कई ऐसी बातें हैं जो थोड़ेसे उलटफेरके साथ भारतीय आस्तिक दर्शनों तथा बौद्ध और

जैन दर्शनोंकी समानरूपसे सम्पत्ति हैं। इन सबका उद्‌गम एक है। आर्य्य जातिने अपने मूल पुरुषोंसे जो आध्यात्मिक दाय पाया था उसकी पहिली अभिव्यक्ति उपनिषदोंमें हुई। देशकालके भेदसे किञ्चित् नये परिधान धारण करके फिर वही वस्तु हमको महावीर और गौतमके द्वारा प्राप्त हुई।

अनेकान्तवाद या सप्तभङ्गी न्याय जैनदर्शनका मुख्य सिद्धान्त है। प्रत्येक पदार्थके जो सात 'अन्त' या स्वरूप जैन शास्त्रोंमें कहे गये हैं उनको ठीक उसी रूपसे स्वीकार करनेमें आपत्ति हो सकती है। कुछ विद्वान् भी सातमें कुछको गौण मानते हैं। साधारण मनुष्यको यह समझनेमें कठिनाई होती है कि एक ही वस्तुके लिए एक ही समयमें है और नहीं है दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं। परन्तु कठिनाईके होते हुए भी वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है। जो लेखनी मेरे हाथमें है, वह मेजपर नहीं है। जिस बच्चेका अस्तित्व आज है उसका अस्तित्व कल नहीं था। जो वस्तु, पुस्तक रूपसे है वह कुर्सी रूपसे नहीं है। जो घटना एकके लिए भूतकालिक है वही दूसरेके लिए वर्तमानकी और तीसरेके लिए भविष्यत्‌की है। अखण्ड ब्रह्म पदार्थ भले ही एकरस और ऐकान्तिक हो परन्तु प्रतीयमान जगत्‌में तो सभी वस्तुएं, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हों, अनैकान्तिक हैं। शङ्कराचार्य्यजीने इस बातको स्वीकार नहीं किया है इस लिए उन्होंने मायाको सत् और असत्से विलक्षण, अथच अनिर्वचनीया कहा है। मैं सप्तभङ्गी न्यायको तो बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझता हूं परन्तु अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करता हूं। इसी लिए

चिद्विलासमें मैंने मायाको सत् और असत् स्वरूप, अतः अनिर्वचनीया माना है।

अस्तु, चव लोग इन प्रश्नोंकी गहिराईमें न भी जाना चाहें तब भी मैं आशा करता हूँ कि इस सुबोध और उपादेय पुस्तकका आदर होगा। ऐसी रचनाएं हमको एक दूसरेके निकट लाती हैं। ऐसा भी कोई समय था जब 'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न विशेज्जैनमन्दिरम्' जैसी उक्तियां निकली थीं। जैनोंमें भी इस जोड़की कहावतें होंगी। आज वह दिन गये। अब हमें दार्शनिक और उपासना सम्बन्धी बातोंमें वैषम्य रखते हुए एक दूसरेके प्रति सौहार्द रखना है। अपनी अपनी रुचिके अनुसार हम चाहे जिस सम्प्रदायमें रहें परन्तु हमको यह ध्यानमें रखना है कि कपिल, व्यास, शङ्कराचार्य्य, बुद्ध और महावीर प्रत्येक भारतीयके लिए आदरास्पद हैं। और हमको सबसे ही ऐसी शिक्षा मिलती है जो हमारे चरित्रको ऊपर उठाने और हमको निःश्रेयसके पथपर ले जानेमें समर्थ है।

वैशाख शु० १,
२००५ } सम्पूर्णानन्द

लेखकके दो शब्द

यों तो जैनधर्मका साहित्य विपुल है, किन्तु उसमें एक ऐसी पुस्तक की कमी थी जिसे पढ़कर जन साधारण जैनधर्मका परिचय प्राप्त कर सके। इस कमीको सभी अनुभव करते थे। उज्जैनके सेठ लालचन्द जी सेठीने तो ऐसी पुस्तक लिखने वालेको अपनीओरसे एक हजार रुपया पारितोषिक प्रदान करनेकी घोषणा भी कर दी थी। मुझे भी यह कमी बहुत खटक रही थी। अतः मैंने इस ओर अपना ध्यान लगाया, जिसके फल स्वरूप प्रस्तुत पुस्तक तैयार हो सकी।

प्रत्येक धर्मके दो रूप होते हैं—एक विचारात्मक और दूसरा आचारात्मक। प्रथम रूपको दर्शन कहते हैं और दूसरेको धर्म। धर्म और दर्शनके अभ्यासियोंके लिये दोनों ही रूपोंको जानना आवश्यक है। इसलिये मैंने इस पुस्तकमें जैनधर्मके विचार और आचारका परिचय तो कराया ही है, साथ ही साथ साहित्य, इतिहास, पन्थभेद, पर्व, तीर्थक्षेत्र आदि अन्य जानने योग्य बातोंका भी परिचय दिया है, जिसे पढ़कर प्रत्येक पाठक जैनधर्मके सभी अंगों और उपांगोंका साधारण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसके लिये इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती। इस पुस्तकमें जैनधर्मसे सम्बन्ध रखने

वाले जिन विषयोंकी चर्चा की गई है, सब लोगोंको वे सभी विषय रुचिकर हों यह सम्भव नहीं है, क्योंकि—'भिन्नरुचिर्हि लोकः' । इसीसे विभिन्न रुचि वाले लोगोंको अपनी अपनी रुचिके अनुकूल जैनधर्मकी जानकारी कर सकनेका प्रयत्न किया गया है ।

भारतीय विद्वानोंकी प्रायः यह एक आम मान्यता है कि भारतमें प्रचलित प्रत्येक धर्मका मूल उपनिषद हैं । इस मान्यताके मूलमें हमें तो श्रद्धामूलक विचारसरणिका ही प्राधान्य प्रतीत होता है । पुस्तकके अन्तमें जैनधर्मके साथ इतर धर्मोंकी तुलना करते हुए हमने उक्त विचार सरणिकी भी आलोचना की है । तत्वजिज्ञासुओंसे हमारा अनुरोध है है कि इस विचारसरणि पर नये सिरेसे विचार करके तत्त्वकी समीक्षा करें ।

अपनी विद्वत्ता और अध्ययनशीलताके कारण श्री सम्पूर्णानन्द जी पर मेरी गहरी आस्था है । मेरी इच्छा थी कि वह इस पुस्तकका प्राक्कथन लिखें । मैंने भाई प्रो० खुशालचन्दसे अपनी यह इच्छा व्यक्त की और संयुक्तप्रान्तके मंत्रित्वका भार वहन करते हुए भी उन्होंने हमलोगोंके अनुरोधकी रक्षा की । एतदर्थ हम श्री सम्पूर्णानन्दजीके अत्यन्त आभारी हैं ।

जिन ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओंके लेखोंसे हमें इस पुस्तकके लिखनेमें विशेष साहाय्य मिला है उन सभीके लेखकोंके भी हम आभारी हैं । उनमें भी प्रोफेसर ग्लैजनपके जैनधर्मसे हमें बड़ी सहायता मिली है, उसका पर्यवेक्षण करके ही इस पुस्तककी विषय सूची

तैयार की गई है। श्री नाथूरामजी प्रेमीके 'जैन साहित्य और इतिहास' का उपयोग 'सम्प्रदाय-पन्थ' लिखनेमें विशेष किया गया है। जैन हितैषीके किसी पुराने अंकमें जगत्कर्तृत्वके सम्बन्धमें स्व० बा० सूरज भानु वकीलका एक लेख प्रकाशित हुआ था। वह मुझे बहुत पसन्द आया था। प्रस्तुत पुस्तकमें 'यह विश्व और उसकी व्यवस्था' उसीके आधारपर लिखा गया है। अतः उक्त सभी सुलेखकोंके हम आभारी हैं।

अन्तमें पाठकोंसे अनुरोध है कि प्रस्तुत पुस्तकके सम्बन्धमें यदि वे कोई सूचना देना चाहें तो अवश्य देनेका कष्ट करें। दूसरे संस्करणमें उनका यथासंभव उपयोग किया जा सकेगा।

श्रुतपञ्चमी
वी० नि० सं० २४७४ } कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

३. चारित्र १५४—२५४

४. जैन साहित्य २५५-२७१

५. विविध २७२—३७२

मथुरा की खुदाई में प्राप्त भगवान महावीर की
गुप्त कालीन प्राचीन मूर्ति ।

जैन धर्म

१. इतिहास

१—आरम्भकाल

एक समय था जब जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा समझ लिया गया था। किन्तु अब यह भ्रान्ति दूर हो चुकी है और नई खोजोंके फलस्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्मसे न केवल एक पृथक् और स्वतंत्र धर्म है किन्तु उससे बहुत [1]प्राचीन भी है। अब अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरको जैन-

---

(१) इस भ्रान्तिको दूर करनेका श्रेय स्व० डा० हर्मान याकोबीको प्राप्त है। उन्होंने अपनी जैनसूत्रोंकी प्रस्तावनामें इसपर विस्तृत विचार किया है। वे लिखते हैं—"इस बातसे अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, बुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोंमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ़ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोंका, जो आज जैन अथवा आर्हतके नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोंमें कुछ निर्ग्रन्थोंका बुद्ध और उसके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त बातका अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थोंमें किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमें

जैनधर्म

१. इतिहास

१—आरम्भकाल

एक समय था जब जैनधर्मको बौद्धधर्मकी शाखा समझ लिया गया था। किन्तु अब वह भ्रान्ति दूर हो चुकी है और नई खोजोंके फलस्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्मसे न केवल एक पृथक् और स्वतंत्र धर्म है किन्तु उससे बहुत [१]प्राचीन भी है। अब अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरको जैन-

---

(१) इस भ्रान्तिको दूर करनेका श्रेय स्व० डा० हर्मान याकोबीको प्राप्त है। उन्होंने अपनी जैनसूत्रोंकी प्रस्तावनामें इसपर विस्तृत विचार किया है। वे लिखते हैं—"इस बातसे अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, बुद्धके समकालीन थे। बौद्धग्रन्थोंमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ़ करते हैं कि नातपुत्तसे पहले भी निर्ग्रन्थोंका, जो आज जैन अथवा आर्हतके नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोंमें कुछ निर्ग्रन्थोंका बुद्ध और उसके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त बातका अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थोंमें किसी भी स्थानपर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखनेमें

धर्मका संस्थापक नहीं माना जाता और उनसे अढ़ाई सौ वर्ष पहले होनेवाले भगवान् पार्श्वनाथको एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है। इस तरह अब जैनधर्मका आरम्भ-काल सुनिश्चित रीतिसे ईस्वी सन् से ८०० वर्ष पूर्व मान लिया गया है। किन्तु जहाँ अब कुछ विद्वान् भगवान् पार्श्वनाथको जैनधर्मका संस्थापक मानते हैं वहाँ कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो उससे पहले भी जैनधर्मका अस्तित्व मानते हैं। उदाहरणके लिये प्रसिद्ध जर्मन विद्वान स्व० डा० हर्मन याकोबी और प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक सर राधाकृष्णन्का मत उल्लेखनीय है। डा० याकोबी [२]लिखते हैं—

नहीं आता कि निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपरसे हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्धके जन्मसे पहले अतिप्राचीन कालसे निर्ग्रन्थोंका अस्तित्व चला आता है"।

अन्य विद्वानोंने भी इसी तरहका मत व्यक्त किया है। डा० ए० गिरनाट नामक एक फ्रेंच विद्वानने लिखा है—"जैनधर्म और बौद्धधर्मकी प्राचीनताके सम्बन्धमें मुकाबला करनेपर जैनधर्म बौद्धधर्मसे वास्तवमें बहुत प्राचीन है"। स्व० लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलकने अपने एक व्याख्यानमें कहा था—"बौद्धधर्मकी स्थापनाके पूर्व जैनधर्मका प्रकाश फैल रहा था। चौबीस तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। इससे भी जैनधर्मकी प्राचीनता जानी जाती है"।

२ 'There is nothing to prove that Parsva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthnkara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first tirthankara.' —Indian Antiquary vol. IX. P. 163.

'इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्मके संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवको जैन-धर्मका संस्थापक मानने में एक मत है। इस मान्यतामें ऐतिहासिक सत्यकी संभावना है।'

डा० सर राधाकृष्णन् कुछ विशेष जोर देकर [१]लिखते हैं—

'जैन परम्परा ऋषभदेवसे अपने धर्मकी उत्पत्ति होनेका कथन करती है, जो बहुतसी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थङ्करोंके नामोंका निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात-का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे'।

---

१ 'There is evidence to show that so far back as the first centuri B. C. there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed evem before Vardhamana or Parsvanath. The Yajurveda mentions the names of three tirthankaras-Rashabha, Ajitanath and Aristanemi. The Bhagavata Puram endorses the view that Reabha was the fodunder of jainism'.

—Indian Philosophy, Vol. I. P. 287.

उक्त दो मतोंसे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि भगवान पार्श्वनाथ भी जैनधर्मके संस्थापक नहीं थे और उनसे पहले भी जैनधर्म प्रचलित था। तथा जैन परम्परा श्रीऋषभदेवको अपना प्रथम तीर्थङ्कर मानती है और जैनेतर साहित्य तथा उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रीसे भी इस बात की पुष्टि होती है। नीचे इन्हीं बातोंको स्पष्ट किया जाता है।

जैन-परम्परा

जैन परम्पराके अनुसार हमारे इस दृश्यमान जगतमें कालका चक्र सदा घूमा करता है। यद्यपि कालका प्रवाह अनादि और अनन्त है तथापि उस कालचक्रके छ विभाग हैं—१ अति-सुखरूप, २ सुखरूप, ३ सुख-दुःखरूप, ४ दुःख-सुखरूप, ५ दुःखरूप और ६ अतिदुःखरूप। जैसे चलती हुई गाड़ीके चक्र-का प्रत्येक भाग नोचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जाता आता है वैसे ही ये छ भाग भी क्रमवार सदा घूमते रहते हैं। अर्थात् एक बार जगत सुखसे दुःखकी ओर जाता है तो दूसरी बार दुःखसे सुखकी ओर बढ़ता है। सुखसे दुःखकी ओर जाने को अवसर्पिणीकाल—अवनतिकाल कहते हैं और दुःखसे सुखकी ओर जानेको उत्सर्पिणीकाल—विकासकाल कहते हैं। इन दोनों कालोंकी अवधि लाखों करोड़ों वर्षकी है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकालके दुःख-सुखरूप भाग में २४ तीर्थङ्करोंका जन्म होता है, जो 'जिन' अवस्थाको प्राप्त करके जैनधर्मका उपदेश देते हैं। इस समय अवसर्पिणीकाल चालू है। उसके प्रारम्भके चार विभाग बीत चुके हैं और अब हम उसके पाँचवें विभागमेंसे गुजर रहे हैं। चूँकि चौथे विभागका अन्त हो चुका, इसलिये इस काल में अब कोई तीर्थंकर नहीं होगा। इस

युगके २४ तीर्थङ्करोंमें से भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर थे और भगवान महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। तीसरे कालविभाग-में जब तीन वर्ष ८॥ माह शेष रहे तब ऋषभदेवका निर्वाण हुआ और चौथे कालविभागमें जब उतना ही काल शेष रहा तब महावीरका निर्वाण हुआ। दोनोंका अन्तरकाल एक कोटाकोटी सागर बतलाया जाता है। इस तरह जैन परम्पराके अनुसार इस युगमें जैनधर्मके प्रथम प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव थे। प्राचीनसे प्राचीन जैनशास्त्र इस विषयमें एक मत हैं और उनमें ऋषभदेवका जीवन-चरित बहुत विस्तारसे वर्णित हैं।

जैनेतर साहित्य

जैनेतर साहित्यमें श्रीमद्भागवतका नाम उल्लेखनीय है। इसके पाँचवें स्कन्ध के, अध्याय २–६ में ऋषभदेवका सुन्दर वर्णन है, जो जैन साहित्यके वर्णनसे कुछ अंशमें मिलता जुलता हुआ भी है। उसमें लिखा है कि जब ब्रह्माने देखा कि मनुष्यसंख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयंभू मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामका लड़का हुआ। प्रियव्रतका पुत्र अग्नीध्र हुआ। अग्नीध्रके घर नाभिने जन्म लिया। नाभिने मरुदेवीसे विवाह किया और उनसे ऋषभदेव उत्पन्न हुए। ऋषभदेवने इन्द्रके द्वारा दी गई जयन्ती नामकी भार्यामें सौ पुत्र उत्पन्न किये। और बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीरमात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेषमें नग्न विचरण करते थे, मौनसे रहते थे, कोई डराये, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्रविष्ठा फेंके तो इन सब की ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों-का घर है ऐसा समझ कर अहंकार ममकारका त्याग करके

अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेवके समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रियाकर्म बड़ा भयानक हो गया था। शरीरादिकका सुख छोड़कर उन्होंने 'आजगर' व्रत ले लिया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करते हुए भ्रमण करते करते कौंक, वेंक कुटक दक्षिण कर्नाटक देशोंमें अपनी इच्छासे पहुँचे, और कुटकाचल पर्वतके उपवनमें उन्मत्तकी नाई मग्न होकर विचरने लगे। जंगलमें बांसोंकी रगड़से आग लग गई और उन्होंने उसीमें प्रवेश करके अपनेको भस्म कर दिया।

इस तरह ऋषभदेवका वर्णन करके भागवतकार आगे लिखते हैं—[1]"इन ऋषभदेवके चरित्रको सुनकर कौंकवेंक कुटक देशोंका राजा अर्हन् उन्हींके उपदेशको लेकर कलियुगमें जब अधर्म बहुत हो जायगा तब स्वधर्मको छोड़ कर कुपथ पाखंड (जैनधर्म) का प्रवर्तन करेगा। तुच्छ मनुष्य मायासे विमोहित होकर, शौच आचारको छोड़ कर ईश्वरकी अवज्ञा करनेवाले व्रत धारण करेंगे। न स्नान, न आचमन, ब्रह्म, ब्राह्मण, यज्ञ

---

१ "यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजा अर्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमंजसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥ येन सह वावकलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजेच्छया गृह्णाना अस्नानाचमनशौचकेशोल्लुचनादीनि कलिनाऽधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥ ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयाऽन्धपरम्परया श्वस्ताः तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति। अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥" स्क० ५, अ० ६।

सबके निन्दक ऐसे पुरुष होंगे और वेद-विरुद्ध आचरण करके नरकमें गिरेंगे। यह ऋषभावतार रजोगुणसे व्याप्त मनुष्योंको मोक्षमार्ग सिखलानेके लिये हुआ।'

श्रीमद्भागवतके उक्त कथनमें से यदि उस अंशको निकाल दिया जाये, जो कि धार्मिक विरोधके कारण लिखा गया है तो उससे बराबर यह ध्वनित होता है कि ऋषभदेवने ही जैनधर्मका उपदेश दिया था; क्योंकि जैन तीर्थङ्कर ही केवलज्ञानको प्राप्त कर लेने पर 'जिन' 'अर्हत' आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं और उसी अवस्थामें वे धर्मोपदेश करते हैं जो कि उनकी उस अवस्थाके नाम पर जैनधर्म या आर्हत धर्म कहलाता है। सम्भवतः दक्षिणमें जैनधर्मका अधिक प्रचार देख कर भागवतकारने उक्त कल्पना कर डाली है। यदि वे सीधे ऋषभदेवसे ही जैनधर्मकी उत्पत्ति बतला देते तो फिर उन्हें जैनधर्मको बुरा भला कहनेका अवसर नहीं मिलता। अस्तु, श्रीमद्भागवतमें ऋषभदेवजीके द्वारा उनके पुत्रोंको जो उपदेश दिया गया है वह भी बहुत अंशमें जैनधर्मके अनुकूल ही है। उसका सार निम्न प्रकार है—

(१) हे पुत्रो ! मनुष्य लोकमें शरीरधारियोंके बीचमें यह शरीर कष्टदायक है, भोगने योग्य नहीं है। अतः दिव्य तप करो, जिससे अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

(२) जो कोई मेरेसे प्रीति करता है, विषयी जनोंसे, स्त्रीसे, पुत्रसे और मित्रसे ।प्रीति नहीं करता, तथा लोकमें प्रयोजनमात्र आसक्ति करता है वह समदर्शी प्रशान्त और साधु है।

(३) जो इन्द्रियों की तृप्ति के लिये परिश्रम करता है उसे हम अच्छा नहीं मानते क्योंकि यह शरीर भी आत्मा को क्लेशदायी है।

(४) जब तक साधु आत्मतत्वको नहीं जानता तब तक वह अज्ञानी है। जब तक यह जीव कर्मकाण्ड करता रहता है तब तक सब कर्मोंका शरीर और मनके द्वारा आत्मासे बन्ध होता रहता है।

(५) गुणोंके अनुसार चेष्टा न होनेसे विद्वान् प्रमादी हो, अज्ञानी बन कर, मैथुनसुखप्रधान घरमें बस कर अनेक संतापों को प्राप्त होता है।

(६) पुरुषका स्त्रीके प्रति जो कामभाव है वही हृदयकी ग्रन्थि है। इसीसे जीवको घर, खेत, पुत्र, कुटुम्ब और धनसे मोह होता है।

(७) जब हृदयकी ग्रन्थिको बनाये रखने वाले मनका बन्धन शिथिल हो जाता है तब यह जीव संसारसे छूटता है और मुक्त होकर परमलोकको प्राप्त होता है।

(८) जब सार-असारका भेद करानेवाली व अज्ञानान्धकार-का नाश करनेवाली मेरी भक्ति करता है और तृष्णा, सुख दुःख-का त्याग कर तत्त्वको जाननेकी इच्छा करता है तथा तपके द्वारा सब प्रकारकी चेष्टाओंकी निवृत्ति करता है तब मुक्त होता है।

(९) सब जीवोंको जो विषयोंकी चाह है यह चाह ही अन्धकूपके समान नरकमें जीव को पटकती है।

(१०) अत्यन्त कामनावाला तथा नष्ट दृष्टिवाला यह जगत अपने कल्याणके हेतुओं को नहीं जानता है।

(११) जो कुबुद्धि सुमार्ग छोड़ कुमार्ग में चलता है उसे दयालु विद्वान् कुमार्गमें कभी भी नहीं चलने देता।

(१२) हे पुत्रो ! सब स्थावर जंगम जीव मात्रको मेरे ही समान समझ कर भावना करना योग्य है।

ये सभी उपदेश जैनधर्मके अनुसार हैं। इनमें नम्बर ४ का उपदेश तो खास ध्यान देने योग्य है, जो कर्मकाण्डको बन्धका कारण बतलाता है। जैनधर्मके अनुसार मन, वचन और कायका निरोध किये बिना कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। किन्तु वैदिक धर्मोंमें यह बात नहीं पाई जाती। शरीरके प्रति निर्ममत्व होना, तत्त्वज्ञान पूर्वक तप करना, जीवमात्रको अपने समान समझना, कामवासनाके फन्देमें न फँसना, ये सब तो वस्तुतः जैनधर्म ही है। अतः श्रीमद्भागवतके अनुसार भी श्री ऋषभदेवसे ही जैनधर्मका उद्गम हुआ ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है। अन्य हिन्दू पुराणोंमें भी जैनधर्मकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रायः इसी प्रकारका वर्णन पाया जाता है। ऐसा एक भी ग्रन्थ अभी तक देखनेमें नहीं आया, जिसमें वर्धमान या पार्श्वनाथसे जैनधर्मकी उत्पत्ति बतलाई गई हो। यद्यपि उपलब्ध पुराणसाहित्य प्रायः महावीरके बादका ही है, फिर भी उसमें जैनधर्मकी चर्चा होते हुए भी महावीर या पार्श्वनाथका नाम भी नहीं पाया जाता। इससे भी इसी बातकी पुष्टि होती है कि हिन्दू परम्परा भी इस विषयमें एक मत है कि जैनधर्मके संस्थापक ये दोनों नहीं हैं।

इसके सिवा हम यह देखते हैं कि हिन्दू धर्मके अवतारोंमें अन्य भारतीय धर्मोंके पूज्य पुरुष भी सम्मिलित कर लिये गये हैं, यहाँ तक कि ईस्वो पूर्व छठी शताब्दीमें होने वाले बुद्धको भी उनमें सम्मिलित कर लिया गया है, जो बौद्धधर्मके संस्थापक थे। किन्तु उन्हींके समकालीन वर्धमान या महावीरको उसमें सम्मिलित नहीं किया है, क्योंकि वे जैनधर्मके संस्थापक नहीं थे। जिन्हें हिन्दू परम्परा जैनधर्मका संस्थापक मानती थी वे श्री ऋषभदेव पहले से ही आठवें अवतार माने हुए थे। यदि श्री

बुद्ध की तरह महावीर भी एक नये धर्मके संस्थापक होते तो यह संभव नहीं था कि उन्हें छोड़ दिया जाता। अतः उनके सम्मिलित न करने और ऋषभदेवके आठवें अवतार माने जानेसे भी इस बातका समर्थन होता है कि हिन्दू परम्परामें अति प्राचीनकालसे ऋषभदेवको ही जैनधर्मके संस्थापकके रूपमें माना जाता है। यही वजह है जो उन तथा उनके बादमें होनेवाले अजितनाथ और अरिष्टनेमि नामके तीर्थङ्करोंका निर्देश यजुर्वेद में मिलता है।

भारतके दूसरे प्रसिद्ध धर्म बौद्धधर्मके साहित्यमें यद्यपि महावीरका निग्गंठ नाटपुत्तके नामसे निर्देश है किन्तु उन्हें जैनधर्मका संस्थापक नहीं बतलाया है और न जैनधर्मको नवीन सम्प्रदाय बतलाया है। इस परसे तथा निर्ग्रन्थोंका अधिक उल्लेख पाया जानेसे स्व० डा० याकोबी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बौद्धधर्मकी स्थापनाके समय जैन सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें था तथा पहलेसे चला आता था। दूसरे, प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मकीर्तिने अपने [1]न्यायबिन्दु नामक प्रकरणमें सर्वज्ञ और आप्त का उदाहरण देते हुए प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धोंमें भी ऋषभदेवके प्रथम जैन तीर्थङ्कर होने की मान्यता प्रचलित थी।

ऐतिहासिक सामग्री

इस प्रकार जैन और जैनेतर साहित्यसे यह स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव ही जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक थे। प्राचीन

(१) "यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, यथा ऋषभवर्धमानादिरिति"।

शिलालेखोंसे भी यह बात प्रमाणित है कि श्री ऋषभदेव जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर थे और भगवान महावीरके समयमें भी ऋषभदेवकी मूर्तियोंकी पूजा जैन लोग करते थे। मथुराके कङ्काली नामक टीलेकी खुदाईमें डाक्टर फुहररको जो जैन शिलालेख प्राप्त हुए वे करीब दो हजार वर्ष प्राचीन हैं, और उनपर इन्डोसिथियन (Indo-Sythian) राजा कनिष्क हुवष्क और वासुदेवका सम्वत् है। उसमें भगवान ऋषभदेवकी पूजाके लिये दान देनेका उल्लेख है।

इन शिलालेखोंसे भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण शिलालेख खण्डगिरि उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथीगुफासे प्राप्त हुआ है जो जैन सम्राट खारवेलने लिखाया था। इस २१०० वर्षके प्राचीन जैन शिलालेखसे स्पष्ट पता चलता है कि मगधाधिपति पुष्यमित्रका पूर्वाधिकारी राजा नन्द कलिंग जीतकर भगवान श्रीऋषभदेवकी मूर्ति, जो कलिंगराजाओंकी कुलक्रमागत बहुमूल्य अस्थावर सम्पत्ति थी, जयचिह्न स्वरूप ले गया था। वह प्रतिमा खारवेलने नन्दराजाके तीन सौ वर्ष बाद पुष्यमित्रसे प्राप्त की। जब खारवेलने मगध पर चढ़ाई की और उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्रने खारवेलको वह प्रतिमा लौटाकर राजी कर लिया। यदि जैनधर्मका आरम्भ भगवान महावीर या भगवान पार्श्वनाथके द्वारा हुआ होता तो उनसे कुछ ही समय बादकी या उनके समयकी प्रतिमा उन्हींकी होती। परन्तु जब ऐसे प्राचीन शिलालेखमें आदि तीर्थंकरकी प्रतिमाका स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख इतिहासके साथ मिलता है तो मानना पड़ता है श्री ऋषभदेवके प्रथम जैन तीर्थङ्कर होनेकी मान्यतामें तथ्य अवश्य है।

अब प्रश्न यह है कि वे कब हुए ?

ऊपर बतलाया गया है कि जैन परम्पराके अनुसार प्रथम जैन तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव इस अवसर्पिणीकालके तीसरे भागमें हुए, और अब उस कालका पाँचवाँ भाग चल रहा है अतः उन्हें हुए लाखों करोड़ों वर्ष हो गये। हिन्दू परम्पराके अनुसार भी जब ब्रह्माने सृष्टिके आरम्भमें स्वयंभू मनु और सतरूपाको उत्पन्न किया तो ऋषभदेव उनसे पाँचवीं पीढ़ीमें हुए। और इस तरह वे प्रथम सतयुगके अन्तमें हुए। तथा अब तक २८ सतयुग बीत गये हैं। इससे भी उनके समय की सुदीर्घताका अनुमान लगाया जा सकता है। अतः जैनधर्मका आरम्भ काल बहुत प्राचीन है। भारतवर्ष[1] में जब आर्यों का आगमन हुआ उस समय भारतमें जो द्रविड़ सभ्यता फैली हुई थी, वस्तुतः वह जैन सभ्यता ही थी। जैन परम्परामें बादको जो संघ कायम हुए उसमें एक द्रविड़संघ भी था।

२—श्रीऋषभदेव

कालके उक्त छ भागोंमें से पहले और दूसरे भागमें न कोई धर्म होता है। न कोई राजा और न कोई समाज। एक परिवारमें पति और पत्नी ये दो ही प्राणी होते हैं। पासमें लगे वृक्षोंसे, जो कल्पवृक्ष कहे जाते हैं उन्हें अपने जीवनके लिये आवश्यक पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। उसीमें वे प्रसन्न रहते हैं

---

१. मेजर जनरल जे. सी. आर. फर्लांग महोदय अपनी The short study in science of Comporative religion नामकी पुस्तकमें लिखते हैं—'ईसासे अगणित वर्ष पहलेसे जैनधर्म भारतमें फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्य भारतमें आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे।'

मरते समय एक पुत्र और पुत्रीको जन्म देकर वे दोनों चल बसते हैं। दोनों बालक अपना अपना अंगूठा चूसकर बड़े होते हैं और बड़े होनेपर पति और पत्नी रूपसे रहने लगते हैं। तीसरे हिस्सेका बहु भाग बीतने तक यही क्रम रहता है और इसे भोगभूमिकाल कहा जाता है; क्योंकि उस समयके मनुष्योंका जीवन भोगप्रधान रहता है। उन्हें अपने जीवन-निर्वाहके लिये कुछ भी उद्योग नहीं करना पड़ता। किन्तु इसके बाद परिवर्तन प्रारम्भ होता है। धीरे धीरे उन वृक्षोंसे आवश्यकता-की पूर्तिके लायक सामान मिलना कठिन हो जाता है और परस्परमें झगड़े होने लगते हैं। तब चौदह मनुओंकी उत्पत्ति होती है। उनमें से पाँचवा मनु वृक्षोंकी सीमा निर्धारित कर देता है। जब सीमापर भी झगड़ा होने लगता है तो छठवाँ मनु सीमाके स्थान पर चिह्न बना देता है। तब तक पशुओंसे काम लेना कोई नहीं जानता था और न उसकी कोई आवश्यकता ही थी। किन्तु अब आवश्यक होनेपर सातवाँ मनु घोड़ेपर चढ़ना वगैरह सिखाता है। पहले माता पिता सन्तान को जन्म देकर मर जाते थे। किन्तु अब ऐसा होना बन्द हो गया तो आगेके मनु बच्चों के लालन-पालन आदिका शिक्षण देते हैं। इधर-उधर जानेका काम पड़नेपर रास्तेमें नदियाँ पड़ जाती थीं, उन्हें पार करना कोई नहीं जानता था। तब बारहवाँ मनु पुल, नाव वगैरहके द्वारा नदी पार करनेकी शिक्षा देता है।

पहले कोई अपराध ही नहीं करता था, अतः दण्डव्यवस्था-की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी किन्तु जब मनुष्योंकी आवश्यकता पूर्तिमें बाधा पड़ने लगी तो मनुष्योंमें अपराध करनेकी प्रवृत्ति भी शुरू हो गई। अतः दण्डव्यवस्थाकी आव-श्यकता हुई। प्रथमके पाँच मनुओंके समयमें केवल 'हा'

कह देना ही अपराधीके लिये काफी होता था। बादको जब इतनेसे काम नहीं चला तो 'हा' 'अब ऐसा काम मत करना' यह दण्ड निर्धारित करना पड़ा। किन्तु जब इतनेसे भी काम नहीं चला तो अन्तके पाँच कुलकरोंके समयमें इसमें 'धिक्कार' पद और जोड़ा गया। इस तरह चौदह मनुओंने मनुष्योंकी कठिनाइयोंको दूर करके सामाजिक व्यवस्थाका सूत्रपात किया।

चौदहवें मनुका नाम नाभिराय था। इनके समयमें उत्पन्न होने वाले बच्चोंका नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा तो इन्होंने उसको काटना बतलाया। इसीलिये इनका नाम नाभि पड़ा। इनकी पत्नीका नाम मरुदेवी था। इनसे श्रीऋषभ देवका जन्म हुआ। यही ऋषभदेव इस युगमें जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक हुए। इनके समयमें ही ग्राम नगर आदिकी सुव्यवस्था हुई। इन्होंने ही लौकिक शास्त्र और लोकव्यवहारकी शिक्षा दी और इन्होंने ही उस धर्मकी स्थापना की जिसका मूल अहिंसा है। इसीलिये इन्हें आदि ब्रह्मा भी कहा गया है। जैसा कि लिखा है—

'पुरगामपट्टणादी लोयियसत्थं च लोयववहारो।
धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबम्हेण ॥८०२॥'
—त्रि० सा०।

जिस समय ये गर्भमें थे, उस समय देवताओंने स्वर्णकी वृष्टिकी थी इसलिये इन्हें 'हिरण्यगर्भ'[१] भी कहते हैं। इनके

---

१ 'हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि।
हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे ततः ॥ २०६ ॥
आकन्तीक्षुरसं प्रीत्या बाहुल्येन त्वयि प्रभो।
प्रजाः प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यसे ॥२१०॥'
—स० ८, हरि० पु०।

समयमें प्रजाके सामने जीवनकी समस्या विकट हो गई थी, क्योंकि जिन वृक्षोंसे लोग अपना जीवन निर्वाह करते आये थे वे लुप्त हो चुके थे और जो नई वनस्पतियाँ पृथ्वीमें उगी थीं, उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। तब इन्होंने उन्हें उगे हुए इक्षुदण्डोंसे रस निकाल कर खाना सिखलाया। इसीलिये इनका वंश इक्ष्वाकु वंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ, और ये उसके आदि पुरुष कहलाये। तथा [२]प्रजाको कृषि, असि, मषी, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन षट्कर्मोंसे आजीविका करना बतलाया। इसलिये इन्हें प्रजापति भी कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्थाको चलानेके लिये इन्होंने तीन वर्णोंकी स्थापना की। जिनको रक्षाका भार दिया गया वे क्षत्रिय कहलाये। जिन्हें खेती, व्यापार, गोपालन आदिके कार्यमें नियुक्त किया गया वे वैश्य कहलाये। और जो सेवावृत्ति करने के योग्य समझे गये उन्हें शूद्र नाम दिया गया।

भगवान ऋषभदेवके दो पत्नियाँ थीं—एकका नाम सुनन्दा था और दूसरीका नन्दा। इनसे उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। बड़े पुत्रका नाम भरत था। यही भरत इस युग में भारतवर्षके प्रथम चक्रवर्ती राजा हुए।

एक दिन भगवान ऋषभदेव राजसिंहासनपर विराजमान थे। राजसभा लगी हुई थी और नीलांजना नामकी अप्सरा नृत्य कर रही थी। अचानक नृत्य करते करते नीलांजनाका शरीरपात हो गया। इस आकस्मिक घटनासे भगवानका चित्त विरक्त हो उठा। तुरन्त सब पुत्रोंको राज्यभार सौंप कर उन्होंने प्रव्रज्या

---

२. 'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः'
—स्वयं० स्तो०।

हो ली और छ माहकी समाधि लगा कर खड़े हो गये। उनकी देखादेखी और भी अनेक राजाओंने दीक्षा ली। किन्तु वे भूख प्यासके कष्टको न सह सके और भ्रष्ट हो गये। छ माहके बाद जब भगवानकी समाधि भंग हुई तो आहारके लिये उन्होंने विहार किया। उनके प्रशान्त नग्न रूपको देखनेके लिये प्रजा उमड़ पड़ी। कोई उन्हें वस्त्र भेंट करता था, कोई भूषण भेंट करता था, कोई हाथी घोड़े लेकर उनकी सेवामें उपस्थित होता था। किन्तु उनको भिक्षा देनेकी विधि कोई नहीं जानता था। इस तरह घूमते-घूमते ६ माह और बीत गये।

इसी तरह घूमते-घूमते एक दिन ऋषभदेव हस्तिनापुरमें जा पहुँचे। वहाँका राजा श्रेयांस बड़ा दानी था। उसने भगवान्का बड़ा सत्कार किया। आदरपूर्वक भगवानको प्रतिगृह करके उच्चासनपर बैठाया, उनके चरण धोये, पूजन की और फिर नमस्कार करके बोला—भगवन् यह इक्षुरस प्रासुक है, निर्दोष है इसे आप स्वीकार करें। तब भगवानने खड़े होकर अपनी अञ्जलिमें रस लेकर पिया। उस समय लोकोंको जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। भगवानका यह आहार वैसाख शुक्ला तीजके दिन हुआ था। इसीसे यह तिथि अक्षयतृतीया कहलाती है। आहार करके भगवान फिर वनको चले गये और आत्म ध्यानमें लीन हो गये। एक बार भगवान् 'पुरिमताल' नगरके उद्यानमें ध्यानस्थ थे। उस समय उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई। इस तरह 'जिन' पद प्राप्त करके भगवान बड़े भारी समुदायके साथ धर्मोपदेश देते हुए विचरण करने लगे। उनकी व्याख्यान सभा 'समवशरण' कहलाती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें पशुओं तकको धर्मोपदेश सुननेके लिये स्थान मिलता था और सिंह जैसे भयानक जन्तु शान्तिके साथ बैठकर धर्मोपदेश सुनते थे। भगवान

जो कुछ कहते थे सबकी समझमें आ जाता था। इस तरह जीवनपर्यन्त प्राणिमात्रको उनके हितका उपदेश देकर भगवान् ऋषभदेव कैलासपर्वतसे मुक्त हुए। वे जैनधर्मके प्रथम तीर्थंकर थे। हिन्दू पुराणोंमें भी उनका वर्णन मिलता है। इस युगमें उनके द्वारा ही जैनधर्मका प्रारम्भ हुआ।

३—जैनधर्मके अन्य प्रवर्तक

भगवान् ऋषभदेवके पश्चात् जैनधर्मके प्रवर्तक २३ तीर्थंकर और हुए, जिनमेंसे दूसरे अजितनाथ, चौथे अभिनन्दननाथ पाँचवे सुमतिनाथ और चौदहवें अनन्तनाथका जन्म अयोध्या-नगरीमें हुआ। तीसरे संभवदेवका जन्म श्रावस्ती नगरीमें हुआ। छठे पद्मप्रभका जन्म कौशाम्बीमें हुआ। सातवें सुपार्श्वनाथ और तेईसवें पार्श्वनाथका जन्म वाराणसी नगरी (बनारस) में हुआ। आठवें चन्द्रप्रभुका जन्म चंद्रपुरीमें हुआ। नौवें पुष्पदन्त-का जन्म काकन्दी नगरीमें हुआ। दसवें शीतलनाथका जन्म भद्दलपुरमें हुआ। ग्यारहवें श्रेयांसनाथका जन्म सिंहपुरी (सारनाथ) में हुआ। बारहवें वासुपूज्यका जन्म चम्पापुरीमें हुआ। तेरहवें विमलनाथका जन्म कंपिला नगरीमें हुआ। पन्द्रहवें धर्मनाथका जन्म रत्नपुरमें हुआ। सोलहवें शान्तिनाथ, सतरहवें कुन्थुनाथ और अठारहवें अरनाथका जन्म हस्तिनागपुरमें हुआ। १९वें मल्लिनाथ और २१वें नमिनाथका जन्म मिथिलापुरीमें हुआ। बीसवें मुनिसुव्रतनाथका जन्म राजगृही नगरीमें हुआ।

इनमेंसे धर्मनाथ, अरनाथ और कुन्थुनाथका जन्म कुरुवंशमें हुआ, मुनिसुव्रतनाथका जन्म हरिवंशमें हुआ और शेषका जन्म इक्ष्वाकुवंशमें हुआ। सभीने अन्तमें प्रव्रज्या लेकर भगवान् ऋषभ-देवकी तरह तपश्चरण किया और केवलज्ञानको प्राप्त करके उन्हों-

की तरह धर्मोपदेश किया और अन्तमें निर्वाणको प्राप्त किया। इनमेंसे भगवान वासुपूज्यका निर्वाण चम्पापुरसे हुआ और शेष तीर्थङ्करोंका निर्वाण सम्मेदशिखरसे हुआ।

भगवान नेमिनाथ

भगवान नेमिनाथ बाईसवें तीर्थङ्कर थे। ये श्रीकृष्णके चचेरे भाई थे। शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्णिके दस पुत्र हुए। सबसे बड़े पुत्रका नाम समुद्रविजय और सबसे छोटे पुत्रका नाम वसुदेव था। समुद्रविजयके घर नेमिनाथने जन्म लिया और वसुदेवके घर श्रीकृष्णने। जरासन्धके भयसे यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारका नगरीमें जाकर रहने लगे। वहाँ जूनागढ़के राजाकी पुत्री राजमतीसे नेमिनाथका विवाह निश्चित हुआ। बड़ी धूम-धामके साथ बारात जूनागढ़के निकट पहुँची। नेमिनाथ बहुतसे राजपुत्रोंके साथ रथमें बैठे हुए आसपासकी शोभा देखते जाते थे। उनकी दृष्टि एक ओर गई तो उन्होंने देखा बहुतसे पशु एक बाड़ेमें बन्द हैं, वे निकलना चाहते हैं किन्तु निकलनेका कोई मार्ग नहीं है। भगवानने तुरन्त सारथिको रथ रोकनेका आदेश दिया और पूछा—ये इतने पशु इस तरहसे क्यों रोके हुए हैं। नेमिनाथको यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि उनको बारातमें आये हुए अनेक राजाओंके आतिथ्य सत्कारके लिये इन पशुओंका वध किया जानेवाला है और इसीलिये वे बाड़ेमें बन्द हैं। नेमिनाथके दयालु हृदयको बड़ा कष्ट पहुँचा। वे बोले—यदि मेरे विवाहके निमित्तसे इतने पशुओंका जीवन संकटमें है तो धिक्कार है ऐसे विवाहको। अब मैं विवाह नहीं करूँगा। वे रथसे तुरन्त नीचे उतर पड़े और मुकुट और कंगनको फेंककर वनकी ओर चल दिये। बारातमें इस समाचारके फैलते ही कोहराम

मच गया। जूनागढ़के अन्तःपुरमें जब राजमतीको यह समाचार मिला तो वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बहुतसे लोग नेमिनाथको लौटानेके लिये दौड़े, किन्तु व्यर्थ। वे पासमें ही स्थित गिरनार पहाड़ पर चढ़ गये और सहस्राम्र वनमें भगवान ऋषभदेवकी तरह सब परिधान छोड़कर दिगम्बर हो आत्मध्यानमें लीन हो गये। और केवलज्ञानको प्राप्तकर गिरनारसे ही निर्वाण लाभ किया।

भगवान पार्श्वनाथ

भगवान पार्श्वनाथ २३वें तीर्थंकर थे। इनका जन्म आज से लगभग तीन हजार वर्ष पहले वाराणसी नगरीमें हुआ था। यह भी राजपुत्र थे। इनकी चित्तवृत्ति प्रारम्भसे ही वैराग्यकी ओर विशेष थी। माता-पिताने कई बार इनसे विवाहका प्रस्ताव किया किन्तु उन्होंने सदा हँसकर टाल दिया। एक बार ये गंगाके किनारे घूम रहे थे। वहाँपर कुछ तापसी आग जलाकर तपस्या करते थे। ये उनके पास पहुँचे और बोले—'इन लकड़ोंको जलाकर क्यों जीवहिंसा करते हो'। कुमारकी बात सुनकर तापसी बड़े मल्लाये और बोले—'कहाँ हैं जीव ?' तब कुमारने तापसीके पाससे कुल्हाड़ी उठाकर ज्योंही जलती हुई लकड़ीको चीरा तो उसमेंसे नाग और नागिनका जलता हुआ जोड़ा निकला। कुमारने उन्हें मरणोन्मुख जानकर उनके कानमें मूलमंत्र दिया और दुःखी होकर चले गये। इस घटनासे उनके हृदयको बहुत वेदना हुई। जीवनकी अनित्यताने उनके चित्तको और भी उदास कर दिया। और वे राजसुखको तिलाञ्जलि देकर प्रव्रजित हो गये। एक बार वे अहिच्छेत्रके वनमें ध्यानस्थ थे। ऊपरसे उनके पूर्वजन्मका वैरी कोई देव कहीं जा रहा था। इन्हें देखते ही उसका पूर्व संचित वैरभाव भड़क उठा। वह उनके ऊपर ईंट और पत्थरोंकी

वर्षा करने लगा। जब उससे भी उसने भगवानके ध्यानमें विघ्न पड़ता न देखा तो मूसलधार वर्षा करने लगा। आकाशमें मेघोंने भयानक रूप धारण कर लिया, उनके गर्जन तर्जनसे दिल दहलने लगा। पृथ्वी पर चारों ओर पानी ही पानी उमड़ पड़ा। ऐसे घोर उपसर्गके समय जो नाग और नागिन मरकर पाताल लोकमें धरणेन्द्र और पद्मावती हुए थे वे अपने उपकारीके ऊपर उपसर्ग हुआ जानकर तुरन्त आये। पद्मावतीने अपने मुकुटके ऊपर भगवानको उठा लिया और धरणेन्द्रने सहस्रफणवाले सर्पका रूप धारण करके भगवानके ऊपर अपना फण फैला दिया और इस तरह उपद्रवसे उनकी रक्षा की। उसी समय पार्श्वनाथको केवल-ज्ञानकी प्राप्ति हुई, उस वैरी देवने उनके चरणोंमें सीस नवाकर उनसे क्षमा याचना की। फिर करीब ७० वर्षतक जगह जगह विहार करके धर्मोपदेश करनेके बाद १०० वर्षकी उम्रमें वे सम्मेदशिखरसे निर्वाणको प्राप्त हुए। इन्हींके नामसे आज सम्मेद-शिखर पर्वत 'पारसनाथहिल' कहलाता है। इनकी जो मूर्तियाँ पाई जाती हैं, उनमें उक्त घटनाके स्मृतिस्वरूप सिर पर सर्पका फन बना हुआ होता है। जैनेतर जनतामें इनकी विशेष ख्याति है। कहीं कहीं तो जैनोंका मतलब ही पार्श्वनाथका पूजक समझा जाता है।

भगवान महावीर

भगवान महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। लगभग ६०० ई० पू० विहार प्रान्तके कुण्डलपुर नगरके राजा सिद्धार्थके घरमें उनका जन्म हुआ। उनकी माता[१] त्रिशला वैशाली नरेश राजा चेटककी पुत्री

(१) श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार भगवान महावीरकी माता त्रिशला चेटककी बहिन थी। तथा महावीरका विवाह भी हुआ था।

थी। महावीरका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन हुआ था। इस दिन भारतवर्षमें महावीरकी जयन्ती बड़ी धूमसे मनाई जाती है। महावीर सचमुचमें महावीर थे। एक बार बचपनमें ये अन्य बालकोंके साथ खेल रहे थे। इतनेमें अचानक एक सर्प कहीं से आ गया और इनकी ओर झपटा। अन्य बालक तो डरकर भाग गये किन्तु महावीरने उसे निर्मद कर दिया। महावीर जन्मसे ही विशेष ज्ञानी थे। एक बार एक मुनि उनको देखनेके लिये आये और उनके देखते ही मुनिके चित्तमें जो शास्त्रीय शंकाएँ थीं वे दूर हो गईं। जब महावीर बड़े हुए तो उनके विवाहका प्रश्न उपस्थित हुआ, किन्तु महावीरका चित्त तो किसी अन्य ओर ही लगा हुआ था। उस समय यज्ञादिकका बहुत ज़ोर था और यज्ञोंमें पशु बलिदान बहुतायतसे होता था। बेचारे मूक पशु धर्मके नामपर बलिदान कर दिये जाते थे और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की व्यवस्था दे दी जाती थी। करुणासागर महावीरके कानोंतक भी उन मूक पशुओंकी चीत्कार पहुँची और राजपुत्र महावीरका हृदय उनकी रक्षाके लिये तड़प उठा। धर्मके नाम पर किये जानेवाले किसी भी कृत्यका विरोध कितना दुष्कर है यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु महावीर तो महावीर ही थे। ३० वर्षकी उम्रमें उन्होंने घर छोड़कर वनका मार्ग लिया और भगवान ऋषभदेवकी ही तरह प्रव्रज्या लेकर ध्यानस्थ हो गये।

महावीरके जन्म आदिका वर्णन करनेवाली कुछ प्राचीन गाथाएँ मिलती हैं जो इस प्रकार हैं—

"सुरमहिदोऽच्चुदकप्पे भोगं दिव्वाणुभागमणुभूदो।
पुप्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो॥

बाहत्तरिवासाणि य थोवविहीणाणि सव्वपरमाऊ ।
आसाढजोण्हपक्खे छट्ठीए जोणिमुवयादो ॥
कुण्डपुरपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले ।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए ॥
अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे ।
तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु ॥
मणुवत्तणसुहमतुलं देवकयं सेविऊण वासाइं ।
अट्ठावीस सत्त य मासे दिवसे य बारसमं ॥
आमिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुलाए ।
दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो ॥
गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पचमासे य ।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरदणसुद्धो महावीरो ॥
उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे ।
छट्ठेणादावेंते अवरण्हे पादछायाए ॥
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवयसेदिमारूढो ।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥"

अर्थात्—'जो देवोंके द्वारा पूजा जाता था, जिसने अच्युत कल्पनामक स्वर्गमें दिव्य भोगोंको भोगा, ऐसे महावीर जिनेन्द्रका जीव, कुछ कम बहत्तर वर्षकी आयु पाकर, पुष्पोत्तर नामक विमानसे च्युत होकर, आसाढ़ शुक्ला षष्ठीके दिन, कुण्डपुर नगरके स्वामी सिद्धार्थ क्षत्रियके घर, नाथवंशमें, सैकड़ों देवियोंसे सेवित त्रिशला देवीके गर्भमें आया। और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी रात्रिमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके रहते हुए महावीरका जन्म हुआ।'

'अट्ठाईस वर्ष सात माह और बारह दिनतक देवोंके द्वारा किये गये मानुषिक अनुपम सुखको भोगकर जो आभिनिबोधिक

ज्ञानसे प्रतिबुद्ध हुए, ऐसे देवपूजित महावीर भगवानने षष्ठोपवासके साथ मार्गशीर्ष कृष्णा दसमीके दिन जिनदीक्षा ली।'

'बारहवर्ष पाँच माह और पन्द्रह दिन पर्यन्त छद्मस्थ अवस्थाको बिताकर (तपस्या करके) रत्नत्रयसे शुद्ध महावीर भगवानने जृम्भिक ग्रामके बाहर ऋजुकूला नदीके किनारे सिलापट्टके ऊपर षष्ठोपवासके साथ आतापन योग करते हुए, अपराह्नकालमें, जब छाया पादप्रमाण थी, वैशाख शुक्ला दसमीके दिन क्षपक श्रेणिपर आरोहण किया। और चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवल ज्ञान प्राप्त किया।'

केवल ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद भगवान महावीरने ६६ दिन तक मौनपूर्वक विहार किया, क्योंकि तबतक उन्हें कोई गणधर–गणका–संघका धारक, जो कि भगवानके उपदेशोंको स्मृतिमें रखकर उनका संकलन कर सकता, नहीं मिला था। विहार करते करते महावीर मगध देशकी राजधानी राजगृहीमें पधारे और उसके बाहर विपुलाचल पर्वत पर ठहरे। उस समय राजगृहीमें राजा श्रेणिक रानी चेलनाके साथ राज्य करते थे।

वहींपर आसाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, जिसे गुरु पूर्णिमा भी कहते हैं, के दिन [1]इन्द्रभूति नामका गौतमगोत्रीय वेद-वेदांगमें पारंगत एक शीलवान ब्राह्मण विद्वान् जीव-अजीव विषयक सन्देहको दूर करनेके लिये महावीरके पास आया। और सन्देह दूर होते ही उसने महावीरके पादमूलमें जिन दीक्षा ले ली और उनका प्रधान गणधर बन गया। उसके बाद ही प्रातःकालमें भगवान महावीरकी प्रथम

(१) 'गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंगवि।
णामेण इंदभूदित्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥'
धवला १ खं०, पृ० ६५।

देशना हुई। जैसा कि प्राचीन गाथाओंमें लिखा है—

'पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे॥
महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स।'
धव० १ खं०, पृ० ६१।

'अर्थात् 'पंचशैलपुरमें (पाँच पर्वतोंसे शोभायमान होनेके कारण राजगृहीको पंचशैलपुर या पंचपहाड़ी भी कहते हैं)

---

(१) 'श्वेताम्बर साहित्यमें भी लिखा है कि महावीरके प्रथम समवशरणमें केवल देवता ही उपस्थित थे, कोई मनुष्य नहीं था इससे धर्मतीर्थका प्रवर्तन—महावीरका प्रथमोपदेश वहाँ नहीं हो सका। महावीरको केवल ज्ञानकी प्राप्ति दिनके चौथे पहरमें हुई थी। उन्होंने जब यह देखा कि उस समय मध्यमा नगरी (वर्तमान पावापुरी) में सोमिलार्य ब्राह्मणके यहाँ यज्ञविषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश-देशान्तरोंके बड़े-बड़े विद्वान् आमंत्रित होकर आये हुए हैं तो उन्हें यह प्रसंग अपूर्व लाभका जान पड़ा। और उन्होंने यह सोचकर कि यज्ञमें आये हुए ब्राह्मण प्रतिबोधको प्राप्त होंगे और मेरे धर्मतीर्थके आधारस्तम्भ बनेंगे, सन्ध्या समय ही विहार कर दिया और वे रातों रात १२ योजन चलकर मध्यमाके महासेननामक उद्यानमें पहुँचे, जहाँ प्रातःकालसे ही समवशरणकी रचना हो गई। इस तरह वैशाख सुदी ११ को जो दूसरा समवशरण रचा गया उसमें महावीर भगवानने एक पहर तक बिना किसी गणधरकी उपस्थितिके ही धर्मोपदेश दिया। इसकी खबर पाकर इन्द्रभूति आदि अपने शिष्योंके साथ समवशरणमें पहुँचे और शंका समाधान करके शिष्य बन गये। बादको वीरप्रभुने उन्हें गणधर पदपर नियुक्त कर दिया। इस द्वितीय समवशरणके बाद महावीरने राजगृहकी ओर प्रस्थान किया, जहाँ पहुँचते ही उनका तृतीय समवशरण रचा गया और उन्होंने वर्षाकाल वहीं बिताया।' देखो—श्रमण भगवान महावीर पृ० ४८–७१।

रमणीक, नाना प्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त और देव-दानवोंसे वन्दित विपुलनामक पर्वतपर महावीरने भव्यजीवोंको उपदेश दिया।'

'वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवदपूव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि॥'

धव० १ खं०, पृ० ६३।

अर्थात्—'वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावणमासमें, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्णपक्षमें, प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय, अभिजित नक्षत्रके उदय रहते हुए धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई।' इस प्रकार[1] जिन श्रेष्ठ महावीरने लगभग ४२ वर्षकी अवस्थामें राग, द्वेष और भयसे रहित होकर अपने धर्मका उपदेश दिया।

भगवान महावीरने तीस वर्षतक अनेक देश-देशान्तरोंमें विहार करके धर्मोपदेश दिया। वे जहाँ पहुँचते थे वहीं उनकी उपदेश-सभा लग जाती थी, और उसमें हिंस्र पशु तक पहुँचते थे और जातिगत-क्रूरताको छोड़कर शान्तिसे भगवानका उपदेश सुनते थे। इस तरह भगवान काशी, कौशल, पंचाल, कलिंग, कुरुजांगल, कम्बोज, वाल्हीक, सिन्धु, गांधार आदि देशोंमें विहार करते हुए अन्त में पावा[2]नगरी (बिहार) में पधारे।

---

(१) 'णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोसभयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ॥'

ज० धव० १ खं०, पृ० ७३।

(२) पूज्यपाद रचित संस्कृत निर्वाणभक्तिमें लिखा है—
'पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्रीवर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा॥२४॥'

अर्थ—'पावापुरके बाहर स्थित, और कमलोंसे व्याप्त सरोवरोंके बीचमें, उन्नत भूमिदेशपर कर्मोंका नाश करके भगवान महावीरने निर्वाण लाभ किया।'

और वहाँसे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिमें अर्थात् अमावस्या-के प्रातःकालमें सूर्योदयसे पहले मुक्ति लाभ की। जैसा कि लिखा है—

"वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य बीस दिवसे य।
चउविह अणगारेहि य बारहदिणेहि (गणेहिं) विहरित्ता ॥
पच्छा पावाणयरे कत्तियमासस्सकिण्हचोद्दसिए।
सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ ॥३॥"
—ज० धव० खं०, पृ० ८१।

अर्थात्—'उनतीस वर्ष, पाँच मास और बीस दिनतक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियों और बारह गणों अर्थात् सभाओंके साथ विहार करके पश्चात् भगवान महावीरने पावा नगरमें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीके दिन स्वाति नक्षत्रके रहते हुए, रात्रिके समय शेष अघाति कर्मरूपी रजको छेदकर निर्वाणको प्राप्त किया।'

वर्तमानमें जो वीर निर्वाण सम्वत् जैनोंमें प्रचलित है, उसके अनुसार ५२७ ई० पू० में वीरका निर्वाण हुआ माना जाता है। कुछ प्राचीन जैन-ग्रन्थोंमें शकराजासे ६०५ वर्ष ५ मास पहले वीरके निर्वाण होनेका उल्लेख मिलता है। उससे भी इसी कालकी पुष्टि होती है।

४ भगवान महावीरके पश्चात्

जैनधर्मका उत्कर्षकाल

भगवान महावीरके सम्बन्धमें जैन और बौद्धसाहित्यसे जो कुछ जानकारी प्राप्त होती है, उसपरसे यह स्पष्ट पता चलता है कि महावीर एक महापुरुष थे। और उस समयके पुरुषोंपर उनका मानसिक और आध्यात्मिक प्रभाव बड़ा गहरा था।

उनके प्रभाव, दीर्घदृष्टि और निस्पृहताका ही यह परिणाम है जो आज भी जैनधर्म अपने जन्मस्थान भारतदेशमें बना हुआ है जब कि बौद्धधर्म शताब्दियों पूर्व यहाँसे लुप्त-सा हो गया था।

भगवान महावीरका अनेक राजघरानोंपर भी गहरा प्रभाव था। उनके बाद उनसे जो शिष्य हुए और उनकी परम्परा चली, उनका भी जनता और राजघरानों पर बराबर प्रभाव रहा। इसी वजहसे जैनधर्म भगवान महावीरके बाद भी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर भारत, गुजरात और दक्षिणमें शताब्दियोंतक फला फूला, अनेक राजवंशोंने उसे अपनाया और अनेकोंने उसे हर तरहका साहाय्य देकर उसकी उन्नतिमें हाथ बटाया। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक संस्कृत नाटकमें लिखा है कि जो कोई यात्राके सिवाय अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगधमें जायेगा उसको प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना होगा। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन देशोंमें जैनधर्मका प्राबल्य था और उसे राजाश्रय प्राप्त था। इसीलिये उसमें जानेसे प्रायश्चित्तकी व्यवस्था ब्राह्मण विद्वानोंने की थी। आगे प्रत्येक प्रान्तमें भगवान महावीरके बादकी जैनधर्मकी स्थितिका परिचय कराते हुए ऐसे राजवंशों और प्रमुख राजाओंका भी परिचय कराया जाता है, जिन्होंने जैनधर्मको अपनाया था जिनके साहाय्यसे जैनधर्म फूला और फला।

बिहारमें जैनधर्म

बिहार तो भगवान महावीरकी जन्मभूमि, तपोभूमि और निर्वाण भूमि होनेके साथ साथ कार्यभूमि भी रहा है। वहाँके राजघरानोंसे महावीर भगवानका कौटुम्बिक सम्बन्ध भी था। फलतः उनके समयमें और उनके बाद भी वहाँ जैनधर्मका अच्छा

प्रसार हुआ और कई राजाओं और राजघरानोंने उसे अपनाया, जिनमेंसे कुछका परिचय इस प्रकार है —

राजा चेटक

जैन साहित्यमें वैशालीके राजा चेटककी बड़ी ख्याति पाई जाती है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो यह राजा भगवान् महावीरका महान् उपासक था, दूसरे भगवान महावीरकी माता देवी त्रिशला राजा चेटककी पुत्री थी। राजा चेटकके आठ कन्याएँ थीं। और उस समयके प्रमुख राजघरानोंमें उनका विवाह हुआ था। सिन्धुसौवीर देशका राजा उदयन, अवन्तीनरेश प्रद्योत, कौशाम्बीका राजा शतानीक, चम्पाका राजा दधिवाहन, और मगधका राजा श्रेणिक (बिंबसार) ये सब राजा चेटकके जामाता थे। जैन साहित्यमें कुणिक और बौद्ध साहित्यमें अजातशत्रुके नामसे प्रसिद्ध मगधसम्राट् तथा जैन, बौद्ध और ब्राह्मण सम्प्रदायके कथासाहित्यमें प्रसिद्ध वत्सराज उदयन ये दोनों चेटक राजाके सगे दौहित्र थे। राजा चेटक भारतके तत्कालीन गणसत्ताक राज्योंमेंसे एक प्रधान राज्यके नायक कहे जाते थे। राजा चेटक जैन श्रावक थे, उन्होंने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि वे जैनके सिवा किसी दूसरेसे अपनी कन्याओंका विवाह न करेंगे। इससे प्रतीत होता है कि उक्त सब राजघराने जैन धर्मको पालते थे। राजा उदयनको तो जैन साहित्यमें स्पष्ट रूपसे जैन श्रावक बतलाया है। उदयनकी रानीने अपने महलमें एक चैत्यालय बनवा लिया था और उसमें प्रतिदिन जिन भगवानकी पूजा किया करती थी। पहले राजा उदयन तापसधर्मियोंका भक्त था, पीछे धीरे धीरे जिन भगवानके ऊपर श्रद्धा करने लगा था।

स्व० डा० याकोबी लिखते हैं कि चेटक जैनधर्मका महान्

आश्रयदाता था। उसके कारण वैशाली जैनधर्मका एक संरक्षण स्थान बना हुआ था। इसीसे बौद्धोंने उसे पाखण्डियोंका मठ बतलाया है।

राजा श्रेणिक

(ई० पू० ६०१-५५२)

भारतके इतिहासमें बहुत प्रसिद्ध मगधाधिपति राजा बिंबसार जैन साहित्यमें श्रेणिकके नामसे अति प्रसिद्ध है। यह राजा पहले बुद्ध भगवानका अनुयायी था। एक बार किसी चित्रकारने उसे एक राजकन्याका चित्र भेंट किया। राजा चित्र देखकर मोहित हो गया। चित्रकारसे उसने कन्याके पिताका नाम पूछा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह वैशालीके राजा चेटककी सबसे छोटी पुत्री चेलना है। श्रेणिकने राजा चेटकसे उसे माँगा किन्तु चेटकने यह कह कर अपनी कन्या देनेसे इन्कार कर दिया कि राजा श्रेणिक विधर्मी है और एक विधर्मीको वह अपनी कन्या नहीं दे सकता। तब श्रेणिकके बड़े पुत्र अभयकुमारने कौशलपूर्वक चेलनाका हरण करके उसे अपने पिताको सौंप दिया। दोनों प्रेमपूर्वक रहने लगे। धीरे धीरे चेलनाके प्रयत्नसे राजा श्रेणिक जैन धर्मकी ओर आकृष्ट हुआ और भगवान महावीरका अनुयायी हो गया। वह महावीरकी उपदेश सभाका मुख्य श्रोता था। जैन शास्त्रोंके प्रारम्भमें इस बातका उल्लेख रहता है कि राजा श्रेणिकके पूछने पर भगवानने ऐसा कहा। श्रेणिकके चेलनासे कुणिक (अजातशत्रु) नामका पुत्र हुआ। जब कुणिक मगधके सिंहासन पर बैठा तो उसने अपने पिता श्रेणिकको कैद करके एक पिंजरेमें बन्द कर दिया। एक दिन कुणिक अपने पुत्रको प्यार कर रहा था। उसकी माता चेलना उसके पास बैठी हुई थी।

उसने अपनी मातासे कहा—"माँ ! जैसा मैं अपने पुत्रको प्यार करता हूँ, क्या कोई अन्य भी अपने पुत्रको वैसा प्यार कर सकता है" ? यह सुनकर चेलनाकी आँखोंमें आँसू आ गये। कुणिकने इसका कारण पूछा तो चेलना बोली—'पुत्र ! तुम्हारे पिता तुम्हें बहुत प्यार करते थे। एक बार जब तुम छोटे थे तो तुम्हारे हाथकी अंगुलीमें बहुत पीड़ा थी। तुम्हें रात्रिको नींद नहीं आती थी। तब तुम्हारे पिता तुम्हारी रक्त और पीवसे भरी हुई अंगुलीको अपने मुँहमें रख कर सोते थे क्योंकि इससे तुम्हें शान्ति मिलती थी।' यह सुनते ही कुणिकको अपने कार्यपर बहुत खेद हुआ और वह पिंजरा तोड़कर पिताको बाहर निकालनेके लिये कुल्हाड़ा लेकर दौड़ा। राजा श्रेणिकने जो इस तरह आते हुए कुणिकको देखा तो यह समझा कि यह मुझे मारने आ रहा है। अतः कुणिकके पहुँचनेसे पहले ही पिंजरेमें सिर मारकर मर गया। आजसे ८२ हजार वर्ष बाद जब पुनः तीर्थंकर होने प्रारम्भ होंगे तो राजा श्रेणिक जैनधर्मका प्रथम तीर्थंकर होगा।

यद्यपि बौद्ध साहित्यमें अजातशत्रुके बौद्धधर्म अंगीकार करनेका उल्लेख मिलता है, तथापि खोज करनेसे प्रतीत होता है कि अजातशत्रु जैनधर्मकी तरफ अधिक आकर्षित था।

स्व० डा० याकोबी अपनी जैनसूत्रोंकी प्रस्तावनामें लिखते हैं—

'अजातशत्रुने अपने राज्यके प्रारम्भकालमें बौद्धोंकी तरफ कोई सहानुभूति नहीं दिखलाई थी। किन्तु बुद्धके निर्वाणसे ८ वर्ष पहले वह बुद्धका आश्रयदाता बना था। किन्तु उस समय वह सद्भावनापूर्वक बौद्ध धर्मानुयायी बना था यह तो हम नहीं मान सकते। कारण यह है कि जो मनुष्य खुली रीतिसे अपने

पिताका खूनी था तथा अपने नानाके साथ जिसने लड़ाई लड़ी थी वह मनुष्य अध्यात्मज्ञानके लिये बहुत उत्सुक हो यह असंभव है। उसके धर्मपरिवर्तन करनेका क्या उद्देश्य था इसका हम सरलतासे अनुमान कर सकते हैं। बात यह है कि उसने अपने नाना वैशालीके राजाके साथ युद्ध किया था। यह राजा महावीरका मामा (नाना) था और जैनोंका संरक्षक था। इसलिये इसके ऊपर चढ़ाई करनेके कारण अजातशत्रु जैनोंकी सहानुभूति खो बैठा। इससे उसने जैनोंके प्रतिस्पर्धी बौद्धोंके साथ मिलनेका निश्चय किया था'।

आगे डा० याकोबी लिखते हैं—

'अजातशत्रु एक तो वैशालीको जीतनेमें सफल हुआ था, दूसरे उसने नन्दों और मौर्योंके साम्राज्यका पाया खड़ा किया था। इस प्रकार मगध साम्राज्यकी सीमा बढ़नेसे जैन और बौद्ध दोनों धर्मोंके लिये नया क्षेत्र खुल गया था। इससे वे दोनों तुरन्त ही उस क्षेत्रमें फैल गये। जब दूसरे सम्प्रदाय स्थानीय और अस्थायी महत्त्व प्राप्त करके ही रह गये तब ये दोनों धर्म इतनी बड़ी सफलता प्राप्त करनेमें समर्थ हुए थे। इसका मुख्य कारण अन्य कुछ भी नहीं, केवल यह मंगलकारी राजनैतिक संयोग था'।

हमारे मतसे जैनों और बौद्धोंकी सफलताका कारण केवल राजनैतिक संयोग नहीं था, किन्तु फिर भी वह एक प्रबल कारण अवश्य था। अस्तु।

नन्दवंश

(ई० पू० ३५०)

उदायीके बाद मगधके सिंहासनपर नन्दवंशका अधिकार हुआ। महाराज खारवेलके शिलालेखसे पता चलता है कि महाराज नंदने अपने राज्यकालमें कलिंग देशपर चढ़ाई की थी। और वह कलिंगके राजघरानेसे श्रीऋषभदेवकी प्रतिमा उठाकर ले गये थे। इस घटनाके ३०० वर्ष बाद कलिंगाधिपति खारवेलने जब मगधपर चढ़ाई करके उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्रने वह प्रतिमा खारवेलको लौटाकर उसे प्रसन्न कर लिया। एक पूज्य वस्तुका इस प्रकार ३०० वर्ष तक एक राजघरानेमें सुरक्षित रहना इस बातका साक्षी है कि नंदवंशमें उसकी पूजा होती थी। यदि ऐसा न होता और नन्दवंश जैनधर्मका विरोधी होता तो वह मूर्ति उस प्रकार सुरक्षित नहीं रहती। मुद्राराक्षस नाटकमें भी यह उल्लेख है कि चाणक्यने नन्द राजाके मंत्री राक्षसको विश्वास देकर फाँसनेके लिये अपने एक चर जीवसिद्धिको क्षपणक बनाकर भेजा था। और क्षपणकका अर्थ कोष ग्रन्थोंमें नग्न जैन साधु पाया जाता है। अतः नन्दका मंत्री राक्षस जैन था और राजा नन्द भी सम्भवतः जैन था।

मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त

(ई० पू० ३२०)

मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जैन थे। इनके समयमें मगधमें १२ वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उस समय ये अपने पुत्रको राज्य सौंपकर अपने धर्मगुरु जैनाचार्य भद्रबाहुके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। अति प्राचीन जैन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्तिमें लिखा है—

'मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दु पव्वज्जं णेव गेण्हंति ॥१४८१॥'

'मुकुटधारी राजाओंमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने जिणदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् किसी मुकुटधारी राजाने जिनदीक्षा नहीं ली।'

पहले इतिहासज्ञ इस कथनकी सत्यतामें विश्वास करनेको तैयार नहीं थे। किन्तु जब मैसूर राज्यमें श्रवणबेलगुल नामक स्थानके चन्द्रगिरि पर्वतपरके लेख प्रकाशमें आये तो इतिहासज्ञोंको उसे स्वीकार करना पड़ा, जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासकार सर विंसेण्ट स्मिथने अपनी 'भारतका प्राचीन इतिहास' नामक पुस्तकके तीसरे संस्करणमें लिखा[1] है—

'मुझे अब विश्वास हो चला है कि जैनोंका यह कथन प्रायः मुख्य-मुख्य बातोंमें यथार्थ है और चन्द्रगुप्त सचमुच राज्य त्यागकर जैन मुनि हुए थे।'

स्व० के० पी० जायसवालने लिखा[2] है—

'कोई कारण नहीं है कि हम जैनियोंके इस कथनको कि चन्द्रगुप्त अपने राज्यके अन्तिम दिनोंमें जैन हो गया था और पीछे राज्य छोड़कर जिन दीक्षा ले मुनिवृत्तिसे मरणको प्राप्त हुआ, न मानें। मैं पहला ही व्यक्ति यह माननेवाला नहीं हूँ। मि० राईसने, जिन्होंने श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंका अध्ययन किया है, पूर्ण रूपसे अपनी सम्मति इसी पक्षमें दी है। और मि० वि० स्मिथ भी अन्तमें इसी मतकी ओर झुके हैं।'

---

(१) पृ० १४६।

(२) जर्नल आफ़ दी बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द ३।

सम्राट अशोक

(ई० पू० २७७)

सम्राट अशोक चन्द्रगुप्त मौर्यका पौत्र था। जैन ग्रन्थोंमें इसके जैन होनेके प्रमाण मिलते हैं। कुछ विद्वानोंका मत[1] है कि अशोक पहले जैनधर्मका उपासक था, पीछे बौद्ध हो गया। इसमें एक प्रमाण यह दिया जाता है कि अशोकके उन लेखोंमें जिनमें उनके स्पष्टतः बौद्ध होनेके कोई संकेत नहीं पाये जाते, बल्कि जैन सिद्धान्तोंके ही भावोंका आधिक्य है, राजाका उपनाम 'देवानांपिय पियदसी' पाया जाता है। 'देवानांपिय' विशेषतः जैनग्रन्थोंमें ही राजाकी उपाधि पाई जाती है। पर अशोकके २७वें वर्षकी भावराकी प्रशस्तिमें, जिसमें उसके बौद्ध होनेके स्पष्ट प्रमाण हैं, उसकी पदवी केवल 'पियदसि' पाई जाती है, 'देवानां पिय' नहीं। इसी बीचमें वे जैनसे बौद्ध हुए होंगे। विद्वानोंका यह भी मत[2] है कि अशोकने अहिंसाके विषयमें जो नियम प्रचारित किये थे वे बौद्धोंकी अपेक्षा जैनोंसे अधिक मिलते हैं। जैसे, बहुतसे पंछियों और चौपायोंका जो कि न भोगमें आते हैं न खाये जाते हैं, मारना वर्जित करना, केवल अनर्थ और विहिंसाके लिये जंगलोंको जलानेका निषेध करना और कुछ खास तिथियों और पर्वोंपर जीवहिंसाको बन्द कर देना आदि। पर आजकल बहुमत यही है कि अशोक बौद्ध थे। परन्तु जहाँतक पता चलता है वह प्रारम्भसे बौद्ध नहीं थे, किंतु बादमें बौद्ध हुए थे।

---

(१) इन्डियन एन्टीकेरी, जिल्द ५ में।
(२) 'अरली फ़ेथ ऑफ़ अशोक'।

सम्राट सम्प्रति

(ई० पू० २२०)

सम्प्रति अशोकका पौत्र था। इसे जैनाचार्य सुहस्तीने उज्जैनमें जैनधर्मकी दीक्षा दी थी। उसके बाद सम्प्रतिने जैन-धर्मके लिये वही काम किया जो अशोकने बौद्धधर्मके लिए किया। उत्तर पश्चिमके अनार्यदेशोंमें भी सम्प्रतिने जैनधर्मके प्रचारक भेजे और वहाँ जैन साधुओंके लिये अनेक विहार स्थापित किये। अशोककी तरह उसने भी अनेक इमारतें बनवाई। राजपूतानाकी कई जैन रचनाएँ उसीके समयकी कही जाती हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि जो शिलालेख अब अशोकके नामसे प्रसिद्ध हैं, सम्भवतः वे सम्प्रतिने लिखवाये थे।

इस प्रकार विहारमें मौर्यवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त और सम्प्रतिने जैनधर्मको अपनाकर उसका अच्छा उत्कर्ष किया। इसके बाद मौर्य साम्राज्यका ह्रास होना प्रारम्भ हुआ और उसके अन्तिम सम्राट बृहद्रथको उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्रने मारकर राजदण्ड अपने हाथमें ले लिया। इसने श्रमणोंपर बड़ा अत्याचार किया। उनके विहार और स्तूप नष्ट कर दिये। फिर भी जब चीनी यात्री हुएनत्सांग ई० स० ६२६ में आया तो उसने

(१) देखो—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृ० ६१६।

जिन प्रभ सूरिने पाटलिपुत्र कल्पग्रन्थमें एक स्थानपर लिखा है—"कुणालसूनुस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतो अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तित श्रमणविहारः सम्प्रति महाराजाऽसौ अभवत्।" इसका भाव यह है कि कुणालका पुत्र महाराज सम्प्रति हुआ, जो भरतके तीन खण्डोंका स्वामी था, अर्हन्त भगवानका भक्त-जैन था, और जिसने अनार्य देशोंमें भी श्रमणों जैन मुनियोंका विहार कराया था।

वैशाली, राजगृह, नालंदा और पुण्ड्रवर्द्धनमें अनेक निर्ग्रन्थ साधुओंको देखा था।

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल

(ई० पू० १७४)

कलिंग चक्रवर्ती महाराजा खारवेलको उस युगकी राजनीतिमें सबसे अधिक महत्त्वका व्यक्ति माना[1] जाता है। इनके हाथीगुम्फामें पाये गये शिलालेखका उल्लेख पहले किया गया है। उस लेखके अनुसार खारवेल जैन था। बल्कि उड़ीसाका सारा राष्ट्र उस समय मुख्यतः जैन ही था। स्व० के० पी० जायसवाल लिखते[2] हैं—

'जैनधर्मका प्रवेश उड़ीसामें शिशुनागवंशी राजा नन्दवर्धनके समयमें हो गया था। खारवेलके समयसे पूर्व भी उदयगिरि पर्वतपर अर्हन्तोंके मन्दिर थे, क्योंकि उनका उल्लेख खारवेलके लेखमें आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेलके समयमें जैनधर्म कई शताब्दियों तक उड़ीसाका राष्ट्रीय धर्म रह चुका था।'

महाराजा खारवेलने १५ वर्षकी अवस्थामें युवराज पद प्राप्त किया और २४ वर्षकी अवस्थामें इनका महाराज्याभिषेक हुआ। उसके बाद दूसरे ही वर्ष उसने सातकर्णिकी परवाह न करके पश्चिम देशको अपनी सेना भेजी और उस सेनाने मूषिक नगरको परास्त किया। चौथे वर्ष खारवेलने फिर पश्चिमपर

(१) देखो—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, पृ० ७१५।
(२) ज० बि० उ० रि० सो० जिल्द ३, पृ० ४४८।

चढ़ाई की और रठिकोंके भोजक अपने मुकुट और छत्र-शृङ्गार छोड़कर उसके चरणोंपर झुकनेको बाध्य हुए। वाख्त्रीका यवनराजा एक भारी सेना ले मध्यदेश पर चढ़ आया। खारवेलने आगे बढ़कर दिमितको निकाल भगाया। मध्यदेशसे यवनोंको पूरी तरह खदेड़नेका श्रेय खारवेलको ही है। बारहवें वर्षमें उसने पञ्जाबपर चढ़ाई की। सातकर्णीके राज्यपर दो चढ़ाइयाँ करने और यवनराज दिमितको मध्यदेशसे निकाल भगानेके बाद खारवेल अपने समयके सब भारतीय राजाओंमें प्रमुख माना जाने लगा। अभी तक उसने अपने देश कलिंगके पश्चिमी पड़ोसी राज्य मूषिक और महाराष्ट्रपर तथा उत्तर पड़ोसी राज्य मगधपर चढ़ाइयाँ की थीं। अब उसने उत्तर और दक्खिनमें दूर दूर तक दिग्विजय करना शुरू किया। उसकी शक्ति भारतके अन्तिम छोरों तक पहुँच गई। बारहवें वर्ष उसने उत्तरापथके राजाओंको त्रस्त किया। मगधपर चढ़ाई करके मगधके राजा पुष्यमित्रको पैरों गिरवाया। राजा नन्दकी ले गई हुई कलिंग जिनमूर्तिको स्थापित किया। इस महाविजयके बाद, जब कि शुंग और सातवाहन तथा उत्तरापथके यवन सब दब गये, खारवेलने जैनधर्मका महाअनुष्ठान किया। उन्होंने भारतवर्ष भरके जैन यतियों, जैन तपस्वियों, जैन ऋषियों और पंडितोंको बुलाकर एक धर्म-सम्मेलन किया। जैनसंघने खारवेलको 'महाविजयी' की पदवीके साथ 'खेमराजा', 'भिक्षु-राजा' और धर्मराजाकी पदवी दी। इनके समयमें जैनधर्मका बड़ा उत्कर्ष हुआ।

इस शिलालेखमें सं० १६५ दिया है, जिसे स्व० जायसवालने मौर्य सम्वत् सिद्ध किया है, जो कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यारोहणकाल (ई० पू० ३२१) से चला होगा। एक स्वतंत्र

राजाने दूसरे राजाके चलाये हुए सम्वत्का उपयोग क्यों किया? इसके उत्तरमें जायसवालजीका कहना है कि चन्द्रगुप्त मौर्यका जैन होना जैन ग्रन्थों व शिलालेखोंसे सिद्ध है। अतः एक जैन राजाके चलाये हुए सम्वत्का दूसरा राजा उपयोग करे तो इसमें आश्चर्य क्या है?

इस प्रकार विहार व उड़ीसामें महावीरके पश्चात् भी जैनधर्मका उत्कर्ष खूब हुआ। ईस्वी स० ६२९ में चीनी यात्री हुएनत्सांग कलिंग देशको जैनोंका मुख्य स्थान कहता है। इससे स्पष्ट है कि खारवेलके बाद भी इतने सुदीर्घ कालतक जैन धर्म कलिंगमें बना रहा। सम्राट् खारवेलके बाद ऐसा प्रताप-शाली जैन राजा अन्य नहीं हुआ। यद्यपि जैनधर्म प्रायः सभी राजवंशोंके समयमें फला फूला, और अनेक अन्य राजाओंने उसे साहाय्य भी दिया, किन्तु जिन्हें हम पूरी तरहसे जैन कह सकें ऐसे राजा कम ही हुए।

बंगालमें जैनधर्म

किन्हीं लोगोंकी दृष्टिसे जैनधर्मका आदि और पवित्र स्थान मगध और पश्चिम बंगाल समझा जाता है। एक समय बंगालमें बौद्धधर्मकी अपेक्षा जैनधर्मका विशेष प्रचार बतलाया जाता है। जब क्रमशः जैनधर्म लुप्त हो गया तो बौद्धधर्मने उसका स्थान ग्रहण किया। बंगालके पश्चिमी हिस्सेमें जो सराक जाति पाई जाती है वह जैन श्रावकोंकी पूर्वस्मृति कराती है। अब भी बहुतसे जैन मन्दिरोंके ध्वंसावशेष, जैन मूर्तियाँ, शिलालेख वगैरह जैन स्मृतिचिन्ह बंगालके भिन्न-भिन्न भागोंमें पाये जाते हैं। सन् १९४० में पूर्वी बंगालके फरीदपुर जिलेके एक गाँवमें एक जैन मूर्ति निकली थी जो २ फीट ३ इंचकी है। बंगालके कुछ

हिस्सोंमें विराट् जैन मूर्तियाँ भैरवके नामसे पूजी जाती हैं। बांकुड़ा, मानभूम वगैरह स्थानोंमें और देहातोंमें आजकल भी जैन मन्दिरोंके ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। मानभूममें पंचकोटके राजाके अधीनस्थ अनेक गाँवोंमें विशाल जैन मूर्तियोंकी पूजा हिन्दू पुरोहित या ब्राह्मण करते हैं। वे भैरवके नामसे पुकारे जाते हैं, और नीच या शूद्र जातिके लोग वहाँ पशुबलि भी करते हैं। इन सब मूर्तियोंके नीचे अब भी जैन लेख मिल जाते हैं। इस प्रकारकी एक लेखयुक्त मूर्ति स्व० राखलदास बनर्जी पंचकोटके महाराजाके यहाँसे ले गये थे।

शान्तिनिकेतनके आचार्य क्षितिमोहनसेन[1] लिखते हैं—

'परीक्षा करनेसे बंगालके धर्ममें, आचारमें और व्रतमें जैनधर्मका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनोंके अनेक शब्द बंगालमें प्रचलित हैं। प्राचीन बंगाली लिपिके बहुतसे शब्द विशेष तौरसे युक्ताक्षर देवनागरीके साथ नहीं मिलते, परन्तु प्राचीन जैन लिपिसे मेल खाते हैं।'

दक्षिण भारतमें जैनधर्म

बिहार, उड़ीसा और बंगालके पश्चात् हम दक्षिणकी ओर बढ़ते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें उत्तर भारतमें १२ वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़नेपर जैनाचार्य भद्रबाहुने अपने विशाल जैन-संघके साथ दक्षिण भारतकी ओर प्रयाण किया था। इससे स्पष्ट है कि दक्षिण भारतमें उस समय भी जैन-धर्मका अच्छा प्रचार था और भद्रबाहुको पूर्ण विश्वास था कि वहाँ उनके संघको किसी प्रकारका कष्ट न होगा। यदि ऐसा न होता तो वे इतने बड़े संघको

(१) विश्ववाणीका जैन संस्कृति अंक, पृ० २०४।

दक्षिण भारतकी ओर ले जानेका साहस न करते। जैन संघकी इस यात्रासे दक्षिण भारतमें जैनधर्मको और भी अधिक फलने और फूलनेका अवसर मिला।

श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृतिसे सदा उदार रही है, उसमें भाषा और अधिकारका वैसा बन्धन नहीं रहा जैसा वैदिक संस्कृतिमें पाया जाता है। जैनतीर्थङ्करोंने सदा लोकभाषाको अपने उपदेशका माध्यम बनाया। जैनसाधु जैनधर्मके चलते-फिरते प्रचारक होते हैं। वे जनतासे अपनी शरीरयात्राके लिये दिनमें एक बार जो रूखा-सूखा किन्तु शुद्ध भोजन लेते हैं उसका कई गुना मूल्य वे सत्‌शिक्षा और सदुपदेशके रूपमें जनताको चुका देते हैं और शेष समयमें साहित्यका सृजन करके उसे भावी सन्तानके लिये छोड़ जाते हैं। ऐसे कर्मठ और जनहितनिरत साधुओंका समागम जिस देशमें हो उस देशमें उनके प्रचारका कुछ प्रभाव न हो यह संभव नहीं। फलतः उत्तर भारतके जैन-संघकी दक्षिण यात्राने दक्षिण भारतके जीवनमें एक क्रान्ति पैदा कर दी। उसका साहित्य खूब समृद्ध हुआ और वह जैनाचार्योंकी खनि तथा जैन संस्कृतिका संरक्षक और संवर्धक बन गया।

जैनधर्मके प्रसारकी दृष्टिसे दक्षिण भारतको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—तामिल तथा कर्नाटक। तामिल प्रान्तमें चोल और पाँड्यनरेशोंने जैनधर्मको अच्छा आश्रय दिया। खारवेलके शिलालेखसे पता चलता है कि सम्राट् खारवेलके राज्याभिषेकके अवसर पर पाँड्यनरेशने कई जहाज उपहार भरकर भेजे थे। सम्राट् खारवेल जैन था और पाँड्य नरेश भी जैन थे। पाँड्य-वंशने जैनधर्मको न केवल आश्रय ही दिया किन्तु उसके आचार और विचारोंको भी अपनाया। इससे उनकी राजधानी मदुरा दक्षिण भारतमें जैनोंका प्रमुख स्थान बन गई थी। तामिल ग्रन्थ

'नालदियर' के सम्बन्धमें कहा जाता है कि उत्तर भारतमें दुष्काल पड़नेपर आठ हजार जैन-साधु पांड्यदेशमें आये थे। जब वे वहाँसे वापिस जाने लगे तो पांड्यनरेशने उन्हें वहीं रखना चाहा। तब उन्होंने एक दिन रात्रिके समय पांड्यनरेशकी राजधानीको छोड़ दिया किन्तु चलते समय प्रत्येक साधुने एक एक ताड़पत्र पर एक एक पद्य लिखकर रख दिया। इन्हींके समुदायसे नालदियर ग्रन्थ बना। जैनाचार्य पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने पांड्योंकी राजधानी मदुरामें एक विशाल जैनसंघकी स्थापना की थी। तामिल साहित्यमें 'कुरल' नामका नीतिग्रन्थ सबसे बढ़कर समझा जाता है। यह तामिलवेद कहलाता है। इसके रचयिता भी एक जैनाचार्य कहे जाते हैं, जिनका एक नाम कुन्दकुन्द भी था। पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्मा महाराज इनके शिष्य थे। ईसाकी दसवीं शताब्दी तक राज्य करनेवाले महाप्रतापी पल्लव राजा भी जैनोंपर कृपा दृष्टि रखते थे। इनकी राजधानी कांची सभी धर्मोंका स्थान थी। चीनी यात्री हुएनत्सांग सातवीं शताब्दीमें कांची आया था। इसने इस नगरीमें फलते फूलते हुए जिन धर्मोंको देखा उनमें वह जैनोंका भी नाम लेता है। इससे भी यह बात प्रमाणित होता है कि उस समय कांची जैनोंका मुख्य स्थान था। यहाँ जैन राजवंशोंने बहुत वर्षोंतक राज्य किया। इस तरह तामिल देशके प्रत्येक अंगमें जैनोंने महत्वपूर्ण भाग लिया। सर[1] वाल्टर इलियटके मतानुसार दक्षिणकी कला और कारीगरीपर जैनोंका बड़ा प्रभाव है, परन्तु उससे भी अधिक प्रभाव तो उनका तामिल

(१) Coins of southern India (London 1886) पृ० ३८, ४०, १२६।

साहित्यके ऊपर पड़ा है। विशप काल्डवेल[1]का कहना है कि जैनोंकी उन्नतिका युग ही तामिल साहित्यका महायुग है। जैनोंने तामिल, कनड़ी और दूसरी लोकभाषाओंका उपयोग किया इससे जनताके सम्पर्कमें वे अधिक आये और जैनधर्मके सिद्धान्तोंका भी जन साधारणमें खूब प्रचार हुआ।

एक समय कनड़ी और तेलगु प्रदेशोंसे लेकर उड़ीसातक जैनधर्मका बड़ा प्रभाव था। शेषगिरि रावने अपने Andhra karnala jainism में जो काव्य-संग्रह किया है उससे पता चलता है कि आजके विजगापट्टम, कृष्ण, नेलोर वगैरह प्रदेशोंमें प्राचीनकालमें जैनधर्म फैला हुआ था और उसके मन्दिर बने हुए थे।

किन्तु जैनधर्मका सबसे महत्वपूर्ण स्थान तो कर्नाटक प्रान्तके इतिहासमें मिलता है। यह प्रान्त प्राचीनकालसे ही दिगम्बर सम्प्रदायका मुख्य स्थान रहा है। इस प्रान्तमें मौर्य साम्राज्यके बाद आन्ध्रवंशका राज्य हुआ, आन्ध्र राजा भी जैनधर्मके उन्नायक थे। आन्ध्रवंशके पश्चात् उत्तर पश्चिममें कदम्बोंने और उत्तरपूर्वमें पल्लवोंने राज्य किया। कदम्बवंशके अनेक शिलालेख मिले हैं, जिनमेंसे बहुतसे लेखोंमें जैनोंको दान देनेका उल्लेख मिलता है। इस राजवंशका धर्म जैन था। सन् १६२२-२३ की एपिग्राफी रिपोर्टमें वर्णित है कि [2]वनवासीके प्राचीन

---

(१) "Comparative grammar of the Dravidian or south Indian family of languages"

तीसरी आवृत्ति (लंडन १९१३)

(२) "Early kadambas of Banbasi and chalukyas,

कदम्ब, और चालुक्य, जिन्होंने पल्लवोंके पश्चात् तुलुव देशमें राज्य किया, निस्सन्देह जैन थे। तथा यह भी बहुत संभव है कि प्राचीन पल्लव भी जैन थे। अतः कदम्बोंकी तरह चालुक्य भी जैनधर्मके प्रमुख [1]आश्रयदाता थे। चालुक्योंने अनेक जैनमन्दिर बनवाये, उनका जीर्णोद्धार कराया, उन्हें दान दिया और कनड़ीके प्रसिद्ध जैन कवि आदि पम्प जैसे कवियोंका सन्मान किया।

गंगवंश

यहाँके गंगवंशी राजा जैनधर्मके कट्टर अनुयायी थे। एक शिलालेखमें इस बातका वर्णन है कि शिवमार कोंगुणी वर्मा सिंहनन्दिका शिष्य था और दूसरे शिलालेखमें यह लिखा है कि सिंहनन्दि मुनिकी सहायतासे गंगवंश वैभवसम्पन्न हुआ। ऐसे लेख विद्यमान हैं जो इस बातको सिद्ध करते हैं कि गंगवंशीय राजा जैनधर्मके उन्नायक और रक्षक थे। ईसाकी चौथीसे बारहवीं शताब्दी तकके अनेक शिलालेखोंसे यह बात प्रमाणित है कि गंगवंशके शासकोंने जैन मन्दिरोंका निर्माण किया, जैन प्रतिमाओंकी स्थापना की, जैन तपस्वियोंके निमित्त गुफाएँ तैयार कराईं और जैनाचार्योंको दान दिया।

इस वंशके एक राजाका नाम मारसिंह द्वितीय था। इसका शासनकाल चेर, चोल और पाण्ड्य वंशोंपर पूर्ण विजय प्राप्तिके लिये प्रसिद्ध है। यह जैन सिद्धान्तोंका सच्चा अनुयायी था। इसने

---

who succeeded pallavas as overlords of Tuluva were undoutedly jains and it is probable that early pallavas were the same"

(१) स्मिथ-अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृ० ४४४।

अत्यन्त ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके राजपद त्याग दिया और धारवार प्रान्तके बांकापुर नामक स्थानमें अपने गुरु अजितसेनके सन्मुख समाधिपूर्वक प्राणत्याग किया। इसकी मृत्यु तिथि एक शिलालेखके आधारपर ९७५ ई० निश्चित की गई है।

चामुण्डराय राजा मारसिंह द्वितीयका सुयोग्य मंत्री था उसके मरनेपर उसके पुत्र राजा राचमल्लका मंत्री और सेनापति था। इस मंत्रीके शौर्यके कारण ही मारसिंह अनेक विजय प्राप्त कर सका। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के एक शिलालेखमें इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है। समरधुरन्धर, वीर मार्तण्ड, रणरंगसिंह, त्रिभुवन वीर, वैरीकुल कालदण्ड, सत्य युधिष्ठिर, सुभट चूड़ामणि आदि उनकी अनेक उपाधियाँ थीं, जो उनकी शूरवीरता और धार्मिकताको बतलाती हैं। चामुण्डरायने ही श्रवणबेलगोला (मैसूर) के विन्ध्यगिरिपर गोमटेशकी विशालकाय मूर्ति स्थापित कराई थी, जो मूर्ति आज दुनियाकी अनेक आश्चर्यजनक वस्तुओंमें गिनी जाती है। वृद्धावस्थामें चामुण्डरायने अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्योंमें बिताया। चामुण्डराय जैनधर्मके उपासक तो थे ही, मर्मज्ञ विद्वान भी थे। उनका कनड़ी भाषाका त्रिषष्ठि-लक्षण महापुराण प्रसिद्ध है। संस्कृतमें भी उनका बनाया हुआ चारित्रसार नामक ग्रन्थ है। चामुण्डरायकी गणना जैनधर्मके महान् उन्नायकोंमें की जाती है। इनके समयमें जैन साहित्यकी भी श्रीवृद्धि हुई थी। सिद्धान्त ग्रन्थोंका सारभूत श्रीगोमट्टसार नामक महान जैन ग्रन्थ इन्हींके निमित्तसे रचा गया था। और उन्हींके गोमट्टराय नामपर इसका नामकरण किया गया था। यह कनड़ीके प्रसिद्ध कवि रन्नके आश्रयदाता भी थे।

जब चोल राजाने ई० स० १००४ में गंगनरेशकी राजधानी तलकादको जीत लिया, तबसे इस वंशका प्रताप मन्द हो गया।

बादको भी इस वंशके राजाओंने राज तो किया, किन्तु फिर वे उठ नहीं सके। इससे जैनधर्मको भी क्षति पहुँची।

इसके पश्चात् मैसूर प्रान्तमें होय्सलवंशका प्राबल्य हुआ।

होय्सल वंश

इस वंशकी उन्नतिमें भी एक जैनमुनिका हाथ था। इस वंशका पूर्वज राजा सल था। एक बार यह राजा अपनी कुल-देवीके मन्दिरमें सुदत्तनामके जैन साधुसे विद्या ग्रहण करता था। अचानक वनमेंसे निकलकर एक बाघ सल पर टूट पड़ा। साधुने एक दण्ड सलको देकर कहा—'पोय सल' (मार सल)। सलने बाघको मार डाला। इस घटनाको स्मरण रखनेके लिये उसने अपना नाम 'पोयसल' रखा, पीछेसे यही 'होयसल' हो गया। गंगवंशकी तरह इस वंशके राजा भी विट्टिमदेव तक बराबर जैन-धर्मी रहे और उन्होंने जैनधर्मके लिये बहुत कुछ किया। किन्तु रामानुजाचार्यके द्वारा जब विट्टिमदेव वैष्णव बना लिया गया तो उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रखा। इसको पहली पत्नी शान्तल देवी जैन थी। शान्तल देवीके मर जानेपर जब उसके माता-पिता भी मर गये तो उनका जामाता अपने धर्मसे च्युत हो गया। किन्तु फिर भी जैनधर्मके प्रति उसकी सहानुभूति बनी रही। उसके मंत्री गंगराज तो जैनधर्मके एक भारी स्तम्भ थे। उनको धार्मिकता और दानवीरताका विवरण अनेक शिलालेखोंमें मिलता है। विट्टिमदेवके पश्चात् नरसिंह प्रथम राजा हुआ। इसके मंत्री हुल्लप्पने जैनधर्मकी बड़ी उन्नति की। वास्तवमें चामुण्डराय, गंगराज और हुल्लप्प ये तीनों मंत्री जैनधर्मके चमकते हुए सितारे हैं। इन्होंने मैसूर प्रान्तमें जैनधर्मको गिरती हुई दशासे ऊपर उठाया।

राष्ट्रकूट वंश

राष्ट्रकूट राजा अपने समयके बड़े प्रतापी राजा थे। इनके आश्रयसे जैनधर्मका अच्छा अभ्युत्थान हुआ। इनकी राजधानी पहले नासिकके पासमें थी। पीछे मान्यखेटको इन्होंने अपनी राजधानी बनाया। इस वंशके जैनधर्मी राजाओंमें अमोघवर्ष प्रथमका नाम उल्लेखनीय है। यह राजा दिगम्बर जैनधर्मका बड़ा प्रेमी था। अपनी अन्तिम अवस्थामें इसने राजपाट छोड़कर जिन दीक्षा ले ली थी। इसके गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन थे। जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणमें लिखा है कि अमोघवर्ष अपने गुरु जिनसेनके चरण कमलोंकी वन्दना करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था। इसने जैन मन्दिरोंको दान दिया, तथा इसके समयमें जैन साहित्यकी भी खूब उन्नति हुई। दिगम्बर जैन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी धवला और जयधवला नामकी टीकाओंका नामकरण इसीके धवल और अतिशय धवल नामके ऊपर हुआ समझा जाता है। शाकटायन वैयाकरणने अपने शाकटायन नामक जैन व्याकरणपर इसीके नामसे अमोघवृत्ति नामकी टीका बनाई। इसीके समयमें जैनाचार्य महावीरने अपने गणित सार संग्रह नामक ग्रन्थकी रचनाकी, जिसके प्रारम्भमें अमोघवर्षकी महिमाका वर्णन विस्तारसे किया गया है। अमोघ-वर्षने स्वयं भी 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' नामकी एक पुस्तिका रची। स्वामी जिनसेनने भी अनेक ग्रन्थ रचे।

अमोघवर्षने जिनसेनके शिष्य गुणभद्रको भी आश्रय दिया। गुणभद्रने अपने गुरु जिनसेनके अधूरे ग्रन्थ आदिपुराणको पूर्ण किया और अन्य भी अनेक ग्रन्थ रचे। अमोघवर्षका पुत्र अकाल-वर्ष भी जैनधर्मका प्रेमी था। इसके समयमें गुणभद्रने अपना

उत्तरपुराण पूर्ण किया। इसने भी जैनमन्दिरोंको दान दिया और जैन विद्वानोंका सन्मान किया। जब पश्चिमके चालुक्योंने राष्ट्रकूटोंकी सत्ताका अन्त कर दिया तो इस वंशके अन्तिम राजा इन्द्रने अपने राज्यको पुनः प्राप्त करनेका यत्न किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अन्तमें उसने जिन-दीक्षा धारण करके श्रवणबेळ गोलामें समाधिपूर्वक प्राणोंका त्याग किया। लोकादित्य इनका सामंत और बनवास देशका राजा था। गुणभद्राचार्यने इसे भी जैनधर्मकी वृद्धि करनेवाला और महान् यशस्वी बतलाया है।

कलचुरि वंश

कलचुरिनरेश भी प्रारम्भमें जैनधर्मके पोषक थे। कुछ शिलालेखोंमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि कलभ्र लोगोंने तामिल देश पर चढ़ाई की थी और वहाँके राजाओंको परास्त करके अपना राज्य जमाया था। प्रोफेसर रामस्वामी[1] आयंगरने सिद्ध किया है कि ये कलभ्रवंशी राजा जैनधर्मके पक्के अनुयायी थे। इनके तामिल देशमें पहुँचनेसे वहाँ जैनधर्मकी बड़ी उन्नति हुई। इन कलभ्रोंको कलचुरिवंशकी शाखा समझा जाता है। इनके वंशज नागपुरके आसपास अब भी मौजूद हैं जो कलार कहलाते हैं। ये कभी जैन थे। कलचुरि-नरेश जैनधर्मके पोषक थे इसका एक प्रमाण यह भी है कि इनका राष्ट्रकूट नरेशोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध था दोनों राजवंशोंमें अनेक विवाह-सम्बन्ध हुए थे। और राष्ट्रकूट नरेश जैनधर्मके उपासक थे यह पहले बतलाया ही गया है।

---

(१) Studies in south Indian Jainism P. 53-56.

गुजरातमें जैनधर्म

गुजरातके साथ जैनधर्मका सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। २२वें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथने यहींके गिरनार पर्वत पर जिन दीक्षा लेकर मुक्ति लाभ किया था। यहाँकी ही वल्भी नगरीमें वीर निर्वाण सम्वत् ९९३ में एकत्र हुए श्वेताम्बर संघने अपने आगमग्रन्थोंको व्यवस्थित करके उनको लिपिबद्ध किया था। जैसे दक्षिण भारतमें दिगम्बर जैनोंका प्राबल्य रहा है, लगभग वैसे ही गुजरातमें श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्राबल्य रहा है।

गुजरातमें भी अनेक राजवंश जैन धर्मावलम्बी हुए हैं। राष्ट्रकूटोंका राज्य भी गुजरातमें रहा है। गुजरातके संजान स्थानसे प्राप्त एक शिलालेखमें अमोघवर्ष प्रथमकी प्रशंसा की गई है तथा अमोघवर्षके गुरु श्रीजिनसेनने अपनी जयधवला टीकाकी प्रशस्तिमें अमोघवर्षका उल्लेख 'गुर्जरनरेन्द्र'[२] नामसे किया है, इससे स्पष्ट है कि अमोघवर्षने गुजरातपर भी शासन किया और उसके राज्यमें जैनधर्म खूब फूला फला।

राष्ट्रकूटोंके हाथसे निकलकर गुजरात पश्चिमी चालुक्योंके अधिकारमें चला गया। फिर चावडावंशी वनराजने इसपर अपना अधिकार कर लिया। इस वनराजका लालनपालन एक जैनसाधुकी देखरेखमें हुआ था। जिसके प्रभावसे यह जैनधर्मी हो गया। जब इस राजाने अणहिलवाड़ाकी स्थापना की तब उसमें

(१) Arechtcture of Ahamdabad में लिखा है कि—'यह मालूम नहीं कि जैनधर्म गुजरातमें पैदा हुआ या कहींसे आया, किन्तु जहाँतक हमारा ज्ञान जाता है यह प्रान्त इस धर्मका बहुत उपयोगी घर व मुख्य स्थान रहा है।'

(२) देखो—जयधवला १ खं० की प्रस्तावना, पृ० ७४।

जैनमंत्रीका ही उपयोग किया गया था तथा इसने एक जैन-मन्दिर भी उस नगरमें बनवाया था। चावड़ावंशसे निकलकर गुजरात पुनः चालुक्योंके अधिकारमें चला गया। ये लोग भी जैनधर्म पालते थे। इनके प्रथम राजा मूलराजने अणहिलवाड़ामें एक जैनमन्दिरका निर्माण कराया। भीम प्रथमके समयमें उसके सेनापति विमलने आबू पर्वतपर प्रसिद्ध जैन मन्दिर बनवाया जिसे 'विमलवसही' कहते हैं। सिद्धराज जयसिंह बहुत प्रसिद्ध राजा हुआ है। इसपर जैनाचार्य हेमचन्द्रका बड़ा प्रभाव था। इसीके नामपर आचार्यने अपना सिद्ध हेम व्याकरण रचा। यद्यपि इसने जैनधर्मको अंगीकार नहीं किया, किन्तु आचार्यके कहनेसे सिद्धपुरमें महावीर स्वामीका मन्दिर बनवाया और गिरनार पर्वतकी यात्रा भी की।

जयसिंहके बाद कुमारपाल गुजरातको राजगद्दीपर बैठा। इसपर हेमचन्द्राचार्यका बहुत प्रभाव पड़ा और इसने धीरे धीरे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। उसके बाद इस राजाने मांसाहार और शिकारका भी त्याग कर दिया, तथा अपने राज्यमें भी पशु हिंसा, मांसाहार और मद्यपानका निषेध कर दिया। कसाइयोंको तीन वर्षकी आय पेशगी दे दी गई। ब्राह्मणोंको यज्ञमें पशुके बदले अनाजसे हवन करनेकी आज्ञा दी। इसने अनेक जैन तीर्थोंकी यात्रा की, अनेक जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया। इसके समयमें आचार्य हेमचन्द्रने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की।

चालुक्योंका अस्त होने पर १३वीं शताब्दीमें बघेलोंका राज्य हुआ। इनके समयमें वस्तुपाल और तेजपाल नामके जैन मंत्रियोंने आबूके प्रसिद्ध मन्दिर बनवाये तथा शत्रुंजय और गिरनारपर भी जैनमन्दिर बनवाये। इस प्रकार गुजरात-

में भी राजाश्रय मिलनेसे जैनधर्मकी बहुत उन्नति हुई।

इस तरह भगवान महावीरके पश्चात् विहार, उड़ीसा, दक्षिण भारत तथा गुजरात वगैरहमें लगभग २००० वर्ष तक जैनधर्मका खूब अभ्युदय हुआ। इस कालमें अनेक प्रभावशाली जैनाचार्योंने अपने उपदेशों और शास्त्रार्थोंके द्वारा जैनधर्मका प्रभाव फैलाया। अकेले एक समन्तभद्रने ही समस्त भारतमें घूम घूम कर अनेक राजदरबारोंको अपनी वक्तृत्व शक्ति और प्रखर तार्किक बुद्धिसे प्रभावित किया था। अन्य प्रान्तोंमें भी पाये जानेवाले जैनस्मारकोंसे जैनधर्मके विस्तारका सबूत मिलता है।

उत्तर भारतमें जैनधर्म

उत्तर भारतमें जैनधर्मका केन्द्र होनेकी दृष्टिसे मथुराका नाम उल्लेखनीय है। यहाँके कंकाली टीलेसे जो लेख प्राप्त हुए हैं वे ई० पू० २री शताब्दीसे लेकर ई० स० ५वीं शताब्दी तकके हैं, और इस तरह ये बहुत प्राचीन हैं। इनसे पता चलता है कि इतने सुदीर्घ काल तक मथुरा नगरी जैनधर्मका प्रधान केन्द्र थी। जैनधर्मके इतिहासपर इन शिलालेखोंसे स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। इनसे पता चलता है कि जैनधर्मके सिद्धान्त और उसकी व्यवस्था अतिप्राचीन है। यहाँके प्राचीनतम शिलालेखसे भी यहाँका स्तूप कई शताब्दी पुराना है। इसके सम्बन्धमें फुहरर सा० [1]लिखते हैं—

'यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इस लेखके लिखे जानेके समय स्तूपका आदि वृत्तान्त लोगोंको विस्मृत हो चुका था।'

उत्तर भारतमें जैनधर्मका दूसरा केन्द्र उज्जैन नगरीको कहा जा सकता है। सम्प्रति राजाकी राजधानी उज्जैनमें ही थी,

१ म्यूज़ियम रिपोर्ट १८९०–९१।

जिसने जैनधर्मको बड़ा आश्रय दिया। जैन ग्रन्थोंमें इस प्रसिद्ध नगरीके सम्बन्धमें अनेक वर्णन मिलते हैं।

असलमें उत्तर भारतमें जैनधर्मका इतिहास अभी तक अन्धकारमें है। इसलिये उत्तर भारतके राजाओंका जैनधर्मके साथ कैसा सम्बन्ध था यह स्पष्ट रूपसे नहीं कहा जा सकता। फिर भी उत्तर भारतमें सर्वत्र जो जैन पुरातत्त्वकी सामग्री मिलती है उससे यह पता चलता है कि कभी यहाँ भी जैनधर्मका अच्छा अभ्युदय था, और अनेक राजाओंने उसे आश्रय दिया था। उदाहरणके लिये हर्षवर्द्धन बड़ा प्रतापी राजा था। लगभग समस्त उत्तर भारतमें उसका राज्य था। इसने पाँच वर्ष तक प्रयागमें धार्मिक महोत्सव कराया। उसमें उसने जैनधर्मके धार्मिक पुरुषोंका भी आदर सत्कार किया था।

जो राजा जैनधर्मका पालन नहीं करते थे, किन्तु जैनधर्मके मार्गमें बाधा भी नहीं देते थे, ऐसे धर्मसहिष्णु राजाओंके कालमें जैनधर्मकी खूब उन्नति हुई। समग्र उत्तर और मध्य भारतके सभी प्रदेशोंमें पाये जानेवाले जैनधर्मके चिन्ह इसके साक्षी हैं। संयुक्त प्रान्तके जिन जिलोंमें आज नाममात्रको जैनी रह गये हैं उनमें भी प्राचीन जैन चिन्ह पाये जाते हैं। उदाहरणके लिये गोरखपुर जिलेमें तहसील देवरियामें कुहाऊँ, व खुखुन्दोके नाम उल्लेखनीय हैं। इलाहाबादसे दक्षिण पश्चिम ११ मील पर देवरिया और भीतामें बहुतसे पुरातन खण्डित स्थान है। कनिंघम सा० का कहना है कि यहाँ जादोवंशके उदयन राजा रहते थे, जो जैनधर्म पालते थे। उन्होंने श्री महावीर स्वामीकी एक प्रसिद्ध मूर्तिका निर्माण कराया था, जिसे लेनेके लिये उज्जैनके राजा और उदयनसे एक बड़ा युद्ध हुआ था।

बलरामपुर (अवध) से पश्चिम १२ मील पर 'सहेठ महेठ'

नामका स्थान है। यहाँ खुदाईकी गई थी। यह स्थान ही श्रावस्ती नगरी है। इसके सम्बन्धमें डा० फुहररने अपनी रिपोर्टमें लिखा है कि ११वीं शताब्दीमें श्रावस्तीमें जैनधर्मकी बहुत उन्नति थी क्योंकि खुदाईमें तीर्थङ्करोंकी कई मूर्तियाँ जिनपर संवत् १११२ से ११३३ तक खुदा है यहाँ प्राप्त हुई हैं। सुहृद्ध्वज श्रावस्तीके जैन राजाओंमें अन्तिम राजा था। यह महमूद गजनीके समयमें हुआ था।

बरेली जिलेमें अहिच्छत्र नामका एक जैन तीर्थस्थान है। इस-पर राज्य करनेवाला एक मोरध्वज नामका राजा हो गया है जो जैन बतलाया जाता है। यहां किसी समय जैनधर्मकी बहुत उन्नति थी। यहाँ अनेक खेड़े हैं जिनसे जैनमूर्तियाँ मिली हैं।

इसी तरह इटावासे उत्तर दक्षिण २७ मीलपर परवा नामका एक स्थान है जहां जैनमन्दिरके ध्वंस पाये जाते हैं। डा० फुहरर-का कहना है कि किसी समय यहाँ जैनियोंका प्रसिद्ध नगर आल-भी बसा था। ग्वालियरके किलेमें विशाल जैन मूर्तियोंकी बहु-तायत वहाँके प्राचीन राजघरानोंका जैनधर्मसे सम्बन्ध सूचित करती है।

इस प्रकार उत्तर भारतमें जैन राजाओंका उल्लेखनीय पता न चलने पर भी अनेक राजाओंका जैनधर्मसे सहयोग सूचित होता है और पता चलता है कि महावीरके पश्चात् उत्तर भारतमें भी जैनधर्म खूब फूला फला।

इस प्रकार समस्त भारत में उन्नति करके भी जैनधर्म अन्तमें कुछ कारणोंसे अवनतिको प्राप्त हुआ।

अवनतिकाल

जैनधर्मके अवनत होनेके कई कारण हैं, किन्तु उनमें प्रमुख

कारण धार्मिक विद्वेष ही जान पड़ता है। जैनधर्म ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानता, न वह वेदोंका प्रामाण्य ही स्वीकार करता है। और यही दो वस्तुएँ वैदिक संस्कृतिके प्राण हैं। तथा वह राम, कृष्ण, शिव आदि देवताओंका भी उपासक नहीं है। ऐसी स्थितिमें वैदिक विद्वानोंका उससे द्रोह करना स्वाभाविक ही है। तथा यद्यपि जैन और बौद्ध दोनों धर्म एक ही श्रमण संस्कृतिके प्रतीक हैं, तथापि दोनोंके सिद्धान्तोंमें बड़ा अन्तर है। अतः एक ओर तो जैनधर्मको बौद्धोंके प्राबल्यके समयमें बौद्धोंसे टक्कर लेनी पड़ी और दूसरी ओर उसे वैदिकोंके विरोधका सामना करना पड़ा। जैनाचार्य अकलंक देवका समय बौद्धोंका मध्याह्न-काल था। उनका समस्त जीवन उन्हींसे टक्कर लेते बीता। उनके प्रौढ़ साहित्यमें भी बौद्ध दर्शनका निरसन प्रधानरूपसे देखनेमें आता है। किन्तु इस टक्करको तो जैनधर्म झेल गया। परन्तु शैवों, वैष्णवों और लिङ्गायतोंने राजाओंको अपने वशमें करके उनके द्वारा जैनोंका मूलोच्छेद करानेकी जो चेष्टा की उससे वह नहीं संभल सका।

७वीं शताब्दीमें पल्लवराज महेन्द्रवर्माने शैवधर्म स्वीकार करते ही एक जैनमन्दिरको गिराकर शिवमन्दिर बनवाया। पांड्यनरेश जैन थे। किन्तु सुन्दर नामके पांड्यनरेशको चोल-कन्या बिवाही थी और चोलोंके दरबारमें शैवोंका बड़ा आदर था। अतः चोलकन्याके प्रभावसे सुन्दरने शैवधर्म स्वीकार कर लिया। शैव होते ही सुन्दर पांड्यने जैनोंपर जुल्म करना शुरू कर दिया। जिन लोगोंने जैनधर्मको नहीं छोड़ा उन्हें उसने शूली-पर चढ़ा दिया। कहा जाता है कि इस प्रकार उसने ८ हजार जैनोंको मरवा डाला। इसका उत्सव आज भी दक्षिणमें मनाया जाता है।

जैनधर्मके दूसरे प्रबलशत्रु शैवधर्मके लिंगायत सम्प्रदाय-वाले थे। कहा जाता है कि इस सम्प्रदायकी स्थापना कलचुरी-नरेश विज्जलके मंत्री बसवने की थी। लिंगायतोंने जैनोंके ऊपर असह्य अत्याचार किये। उनके मन्दिर तोड़ डाले, उनके ज्ञान-मालको नष्ट किया। लाखों जैन लिंगायत बन गये।

रामानुजके समयमें वैष्णव सम्प्रदायका भी प्राबल्य बढ़ा। होयसलनरेश विट्ठिदेवने रामानुजको आश्रय दिया और स्वयं उसका शिष्य हो गया। इस राजाने अपने पुराने सहधर्मी जैनोंको वैष्णव बनानेका प्रयत्न किया और जिसने यह स्वीकार नहीं किया उसे घानीमें पिलवा दिया। सं० १३६८ के एक लेखमें लिखा है कि जैनोंने वैष्णवोंके अत्याचारोंकी फरियाद विजयनगरके राजा बुक्करायके दरबारमें की। राजाने आज्ञा दी कि हमारे राज्यमें सब लोगोंको अपना अपना धर्म पालनेकी स्वतंत्रता है। तथा यह भी आज्ञा दी कि श्रवणबेलगोलामें गोम्मट स्वामीकी मूर्तिको कोई भ्रष्ट न करे। इस राजाने नष्ट-भ्रष्ट हुए देवालयोंका पुनरुद्धार करनेकी भी आज्ञा दी।

रामानुजके पश्चात् मध्वाचार्यके प्रयत्नसे भी जैनोंको बहुत धक्का लगा। इस प्रकार राजाश्रय विहीन होनेसे तथा विधर्मी राजाओंके द्वारा किये जानेवाले अत्याचारोंसे १२वीं १३वीं शताब्दीके बाद दक्षिण भारतमें जैनधर्मका ह्रास होने लगा। इसके बाद मुस्लिमयुगमें भी कुछ मुस्लिम आक्रमणकारियोंके द्वारा उसे क्षति उठानी पड़ी। फिर भी वह अभी जिन्दा है और एकदम बुरी हालतमें नहीं है।

---

२ सिद्धान्त

१–जैनधर्म क्या है ?

जैनधर्मके सिद्धान्त जाननेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैनधर्म है क्या ? जैनधर्म शब्द दो शब्दोंके मेलसे बना हुआ है—एक शब्द है 'जैन' और दूसरा शब्द है 'धर्म'। जैसे विष्णुको देवता माननेवाले वैष्णव और शिवको देवता माननेवाले शैव कहलाते हैं, और उनके धर्मको वैष्णव धर्म या शैवधर्म कहते हैं। वैसे ही 'जिन' को देवता माननेवाले जैन कहलाते हैं और उनके धर्मको जैनधर्म कहते हैं। साधारणतया 'जैनधर्म'का यही अर्थ समझा जाता है। किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी है, जो इस अर्थसे कहीं महत्त्वपूर्ण है। वह अर्थ है—'जिन'के द्वारा कहा गया धर्म। अर्थात् 'जिन'ने जिस धर्मका कथन किया है—उपदेश किया है वह धर्म जैनधर्म कहा जाता है। शैवधर्म या वैष्णवधर्ममें यह अर्थ नहीं घटता; क्योंकि शिव या विष्णुने स्वय किसी धर्मका उपदेश नहीं किया। वे तो वैदिक देवता माने गये हैं। और बादमें जब बहुदेवतावादके स्थानमें एकेश्वर भावनाका उदय हुआ तो दोनों ईश्वरके रूप कहलाये। पीछेसे श्रीकृष्णको विष्णुका पूर्णावतार मान लिया गया। उनके भक्तोंका धर्म तो मूलमें वेदविहित क्रियानुष्ठान ही है। किन्तु 'जिन' ईश्वरीय अवतार नहीं होते, वे तो स्वयं अपने पौरुषके बलपर अपने काम-क्रोधादि विकारोंको जीतकर 'जिन' बनते हैं। 'जिन' शब्दका अर्थ होता है—जीतनेवाला। जिसने अपने आत्मिक विकारोंपर

पूरी तरहसे विजय प्राप्त कर ली वही 'जिन' है। जो 'जिन' बनते हैं वे हम प्राणियोंमेंसे ही बनते हैं। प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। जीवात्मा और परमात्मामें इतना ही अन्तर है कि जीवात्मा अशुद्ध होता है, काम-क्रोधादि विकारों और उनके कारण कर्मोंसे घिरा होता है, जिनकी वजहसे उसके स्वाभाविक गुण—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य प्रकट नहीं हो पाते। जब वह उन कर्मोंका नाश कर देता है तो वही परमात्मा बन जाता है, वही जिन कहलाता है। 'जिन' हो जानेपर प्रत्येक जीव सर्वज्ञ और वीतराग हो जाता है, उसे सबका ज्ञान रहता है और उसके अन्दरसे राग और द्वेषका मूलोच्छेद हो जाता है। उस अवस्थामें वह जो उपदेश देता है वह उपदेश प्रामाणिक होता है; क्योंकि अप्रामाणिकताके दो ही कारण हैं, एक अज्ञान और दूसरा रागद्वेष। मनुष्य या तो अज्ञानसे—ज्ञान न होनेसे नासमझीके कारण गलत बात बोलता है या ज्ञानवान होकर भी किसीसे राग और किसीसे द्वेष होनेसे गलत बात बोलता है। उदाहरणके लिये जैन पुराणोंमें और महाभारतमें एक कथा है।

जैन पुराणोंके अनुसार नारद, पर्वत और वसु ये तीनों गुरु भाई थे। इनमेंसे पर्वत गुरुपुत्र था और शेष दोनों उसके पिताके शिष्य थे। एक बार 'अजैर्यष्टव्यम्' के अर्थके सम्बन्धमें नारद और पर्वतमें विवाद हुआ। महाभारतके अनुसार देवताओं और ऋषियोंमें विवाद हुआ। पर्वत या देवताओंका कहना था कि इसका अर्थ 'बकरेसे हवन करना चाहिये' है और नारद या ऋषियोंका कहना था कि इसका अर्थ है 'पुराने धान्यसे हवन करना चाहिये'। दोनों पक्ष राजा वसुके पास गये। वसु सत्य-वादी था इसलिये उसका सिंहासन पृथ्वीसे ऊपर उठा रहता था।

वसुने गुरुपुत्र पर्वत या देवताओंके प्रेमवश जानते हुए भी यही फैसला दिया कि जो पर्वत या देवता कहते हैं वही ठीक है। इस असत्यवादिताके कारण वसुका सिंहासन पृथ्वीमें धँस गया। यहाँ पर्वत तो अज्ञानसे 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ गलत बतलाता था किन्तु वसुने जानते हुए भी गुरुपुत्रके प्रेमवश झूठ बोला। अतः असत्य बोलनेके दो ही कारण है अज्ञान या रागद्वेष। इन दोनोंके नष्ट हो जानेसे 'जिन' सत्यवादी होते हैं। और उनकी सत्यवादिताका प्रबल प्रमाण है, उनके द्वारा कहा गया स्याद्वाद सिद्धान्त, जो वस्तुका पूर्ण या अपूर्ण किन्तु सत्यदर्शन करनेवाले सभी व्यक्तियोंके साथ न्याय करनेका मार्ग बतलाता है। प्रत्येक धर्मके दो अंग होते हैं विचार और आचार। जैनधर्मके विचारोंका मूल है स्याद्वाद और आचारका मूल है अहिंसा। न किसीके विचारोंके साथ अन्याय हो और न किसी प्राणीके जीवनके साथ खिलवाड़ हो। सब सबके विचारोंको समझें और सब सबके जीवनोंकी रक्षा करें। यही उन जिनोंके उपदेशका मूल है। इसीसे उन्हें हितोपदेशी कहा जाता है। वे किसी व्यक्ति विशेष, वर्गविशेष या सम्प्रदाय विशेषके हितकी दृष्टिसे उपदेश नहीं देते। वे तो प्राणिमात्रके हितकी दृष्टिसे उपदेश देते हैं। वे केवल मनुष्योंके ही हितकी बात नहीं बतलाते, किन्तु जंगम और स्थावर सभी प्राणियोंके हितकी बात बतलाते हैं। उनका मूलमंत्र ही यह है—'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'—'किसी भी प्राणीकी हिंसा मत करो'। न वे पशुओंको वध्य बतलाते हैं और न किसी वर्गविशेषको अवध्य। उनकी वीतराग दृष्टिमें सब बराबर हैं। न वे ब्राह्मणकी पूजा करनेका उपदेश देते हैं और न चाण्डालसे घृणा करनेका। ऐसे वे वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी 'जिन' होते हैं। और उनके द्वारा जो उपदेश दिया जाता है वही जैनधर्म कहलाता है।

अन्य धर्मोंने भी सर्वज्ञाताको ही अपने अपने धर्मका प्रवर्तक माना है, क्योंकि जो अल्पज्ञ है, अज्ञानी है उससे सार्वत्रिक और सार्वदेशिक सत्य उपदेश मिलनेकी आशा नहीं की जा सकती। किन्तु उन्होंने ईश्वर खुदा या गॉडको सर्वज्ञ मानकर उसीको अपने अपने धर्मका प्रवर्तक माना है। उनमें भी जो ईश्वरको नहीं मानते, उन्होंने वेदको अपने धर्मका मूल माना है, किन्तु वे वेदको किसी पुरुषके द्वारा रचा गया नहीं मानते। इस तरह प्रायः सभी धर्मोंने पुरुषको अल्पज्ञ मानकर उसे अपने धर्मका प्रवर्तक स्वीकार नहीं किया। किन्तु पुरुषके मध्यमें हुए बिना न तो ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है और न उसके अर्थका व्याख्यान हो सकता है। क्योंकि ईश्वर स्वयं शरीर रहित होनेसे हमें अपना ज्ञान किसी न किसी पुरुषके द्वारा ही दे सकता है, तथा उसका व्याख्यान भी पुरुष ही कर सकता है। किन्तु यदि वह पुरुष अल्पज्ञ हुआ या रागद्वेषी हुआ तो उसके व्याख्यानमें भ्रम भी हो सकता है। अतः उसे भी कमसे कम विशिष्ट ज्ञानी तो मानना ही पड़ता है। यह सब इसलिये किया गया है कि वे धर्म पुरुषकी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टिसे पुरुषकी आत्माका इतना विकास नहीं हो सकता। किन्तु जैनधर्म इस तरहके किसी ईश्वरकी सत्तामें विश्वास नहीं करता। वह जीवात्माका ही सर्वज्ञ हो सकना स्वीकार करता है। अतः जैनधर्म किसी ईश्वर या किसी स्वयं सिद्ध पुस्तकके द्वारा नहीं कहा गया है। बल्कि मानवके द्वारा, उस मानवके द्वारा जो कभी हम ही जैसा अल्पज्ञ और रागद्वेषी था किन्तु जिसने अपने पौरुषसे प्रयत्न करके अपनी अल्पज्ञता और रागद्वेषके कारणोंसे अपनी आत्माको मुक्त कर लिया और इस तरह वह सर्वज्ञ और वीतरागी होकर जिन बन गया, कहा गया है। अतः 'जिन' हुए

उस मानवके अनुभवोंका सार ही जैनधर्म है ।

अब हम 'धर्म' शब्दके बारेमें विचार करेंगे । धर्म-शब्दके दो अर्थ पाये जाते हैं—एक, वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं जैसे अग्निका जलाना धर्म है, पानीका शीतलता धर्म है, वायुका बहना धर्म है, आत्माका चैतन्य धर्म है । और दूसरा. आचार या चारित्रको धर्म कहते हैं । इस दूसरे अर्थको कोई इस प्रकार भी कहते हैं—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस–मुक्तिकी प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं । चूँकि आचार या चारित्रसे इनकी प्राप्ति होती है इसलिये चारित्र ही धर्म है । इस प्रकार धर्म शब्दसे दो अर्थोंका बोध होता है एक वस्तु स्वभावका और दूसरे चारित्र या आचारका । इनमेंसे स्वभावरूप धर्म तो क्या जड़ और क्या चेतन, सभी पदार्थोंमें पाया जाता है । क्योंकि संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका कोई स्वभाव न हो । किन्तु आचाररूप धर्म केवल चेतन आत्मामें ही पाया जाता है । इसीलिए धर्मका सम्बन्ध आत्मासे कहा जाता है । प्रत्येक तत्त्व-दर्शी धर्मप्रवर्तकने केवल आचाररूप धर्मका ही उपदेश नहीं किया किन्तु वस्तु स्वभावरूप धर्मका भी उपदेश दिया है जिसे दर्शन कहा जाता है । इसीसे प्रत्येक धर्म अपना एक दर्शन भी रखता है । दर्शनमें आत्मा क्या है ? परलोक क्या है ? विश्व क्या है ? ईश्वर क्या है ? आदि समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न किया जाता है और धर्मके द्वारा आत्माको परमात्मा बननेका मार्ग बतलाया जाता है । यद्यपि दर्शन और धर्म या वस्तु स्वभावरूप धर्म और आचाररूप धर्म दोनों जुदे जुदे विषय हैं परन्तु इन दोनोंका परस्परमें घनिष्ट सम्बन्ध है । उदाहरणके लिये, जब आचाररूप धर्म आत्माको परमात्मा बननेका मार्ग बतलाता है तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा और पर-

आत्माका स्वभाव क्या है ? दोनोंमें अन्तर क्या है और क्यों है ? यह जाने बिना पाला हुआ आचार वैसे ही लाभकारी नहीं हो सकता जैसे सोनेके गुण और स्वभावसे अनजान आदमी यदि सोनेको शोधनेका प्रयत्न भी करे तो उसका प्रयत्न लाभकारी नहीं हो सकता। तथा यह बात सर्वविदित है कि विचारके अनुसार ही मनुष्यका आचार होता है। उदाहरणके लिये, जो यह मानता है कि आत्मा नहीं है और न परलोक है उसका आचार सदा भोगप्रधान ही रहता है, और जो यह मानता है कि आत्मा है, परलोक है, प्राणी अपने अपने शुभाशुभ कर्मके अनुसार फल भोगता है तो उसका आचार उससे बिलकुल विपरीत हो होता है। अतः विचारोंका मनुष्यके आचारपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यही वजह है जो दर्शनका प्रभाव उस धर्मपर बड़ा गहरा होता है, और एकको समझे बिना दूसरेको नहीं समझा जा सकता। अतः जैनधर्मका भी एक दर्शन है जो जैनदर्शन कहा जाता है। किन्तु चूँकि वह वस्तु स्वभावरूप धर्ममें ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः उसे भी हम धर्मका ही एक अंग समझते हैं। और इसलिये जैनधर्मसे 'जिन' देवके द्वारा कहा हुआ विचार और आचार दोनों ही लेना चाहिये।

प्रकारान्तरसे भी धर्मके दो भेद किये जाते हैं एक साध्यरूप धर्म और दूसरा साधनरूप धर्म। परमात्मत्व साध्यरूप धर्म है और आचार या चारित्र साधनरूप धर्म है, क्योंकि आचार या चारित्रके द्वारा ही आत्मा परमात्मा बनता है। अतः यहाँ दोनों ही प्रकारके धर्मोंका निरूपण किया गया है।

२ जैनदर्शनका प्राण

अनेकान्तवाद

पहले लिख आये हैं कि जैनविचारका मूल स्याद्वाद या

अनेकान्तवाद है। अतः प्रथम उसे समझ लेना आवश्यक है।

जैन दृष्टिसे इस विश्वके मूलभूत तत्त्व दो भागोंमें विभाजित हैं एक जीवतत्त्व और दूसरा अजीव या जड़ तत्त्व। अजीव या जड़तत्त्व भी पाँच भागों में विभाजित है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस तरह यह संसार इन छै तत्त्वोंसे बना हुआ है। इन छहोंको छै द्रव्य कहते हैं। इन छै द्रव्योंके सिवा संसारमें अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ है, उस सबका समावेश इन्हीं छै द्रव्योंमें हो जाता है। गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि जो अन्य तत्त्व दूसरे दार्शनिकोंने माने हैं, जैन दृष्टिसे वे सब द्रव्यकी ही अवस्थाएँ हैं, उससे पृथक् नहीं हैं। क्योंकि जो कुछ सत् है वह सब द्रव्य है। सत् ही द्रव्यका लक्षण है। असत् या अभाव नामका कोई स्वतंत्र तत्त्व जैनदर्शन में नहीं है। किन्तु जो सत् है दृष्टिभेदसे वही असत् भी है। न कोई वस्तु केवल सत्स्वरूप ही है और न कोई वस्तु केवल असत्स्वरूप ही है। यदि प्रत्येक वस्तुको केवल सत्स्वरूप ही माना जायेगा तो सब वस्तुओंके सर्वथा सत्स्वरूप होनेसे उन वस्तुओंके बीचमें जो अन्तर देखनेमें आता है, उसका लोप हो जायेगा और उसके लोप हो जानेसे सब वस्तुएँ सब रूप हो जायेंगी। उदाहरणके लिये—घट और पट ये दोनों वस्तु हैं, घट भी वस्तु है और पट भी वस्तु है। किन्तु जब हम किसीसे घट लानेको कहते हैं तो वह घट ही लाता है, पट नहीं लाता। और जब पट लानेको कहते हैं तो वह पट ही लाता है, घट नहीं लाता। इससे प्रमाणित है कि घट घट ही है पट नहीं है, और पट पट ही है, घट नहीं है। न घट पट है और न पट घट है। किन्तु हैं दोनों, परन्तु दोनोंका अस्तित्व अपनी-अपनी मर्यादामें ही सीमित है, उसके बाहर नहीं है। अतः प्रत्येक वस्तु अपनी मर्यादामें है और

उससे बाहर नहीं हैं। यदि वस्तुएँ इस मर्यादाका उल्लंघन कर जायें तो फिर घट और पटकी तो बात ही क्या, किन्तु सभी वस्तुएँ सब रूप हो जायेंगी और इस तरहसे संकर दोष उपस्थित होगा। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षासे सत् कही जाती है और पररूपकी अपेक्षासे असत् कही जाती है। इसी दृष्टान्तको गुरु शिष्यके संवादके रूपमें यहाँ दिया जाता है, उससे पाठक और भी अधिक स्पष्ट रूपसे उसे समझ सकेंगे।

गु०—एक मनुष्य अपने सेवकको आज्ञा देता है कि 'घट लाओ' तो सेवक तुरन्त घट ले आता है और जब वस्त्र लानेकी आज्ञा देता है तो वह वस्त्र उठा लाता है। यह तुम व्यवहारमें प्रतिदिन देखते हो। किन्तु क्या कभी तुमने इस बातपर विचार किया कि सुननेवाला 'घट' शब्द सुनकर घट ही क्यों लाता है और वस्त्र शब्द सुनकर वस्त्र ही क्यों लाता है?

शि०—घटको घट कहते हैं और वस्त्रको वस्त्र कहते हैं। इसलिये जिस वस्तुका नाम लिया जाता है, सेवक उसे ही ले आता है।

गु०—घटको ही घट क्यों कहते हैं? वस्त्रको घट क्यों नहीं कहते?

शि०—घटका काम घट ही दे सकता है, वस्त्र नहीं दे सकता।

गु०—घटका काम घट ही क्यों देता है, वस्त्र क्यों नहीं देता?

शि०—यह तो वस्तुका स्वभाव है, इसमें प्रश्नके लिये स्थान नहीं है।

गु०—क्या तुम्हारे कहनेका यह अभिप्राय है कि जो स्वभाव घटका है वह वस्त्रका नहीं, और जो वस्त्रका है वह घटका नहीं?

शि०—जी हाँ, प्रत्येक वस्तु अपना जुदा स्वभाव रखती है।

गु०—अब तुम यह बतलाओ कि क्या हम घटको असत् भी कह सकते हैं?

शि०—हाँ, घटके फूट जानेपर उसे असत् कहते ही हैं।

गु०—टूट फूट जानेपर तो प्रत्येक वस्तु असत् कही जाती है। हमारा मतलब है कि क्या घटके रहते हुए भी उसे असत् कहा जा सकता है?

शि०—नहीं, कभी नहीं, जो 'है' वह 'नहीं' कैसे हो सकता है?

गु०—किनारेपर आकर फिर बहना चाहते हो। अभी तुम स्वयं स्वीकार कर चुके हो कि प्रत्येक वस्तुका स्वभाव जुदा जुदा होता है और वह स्वभाव अपनी ही वस्तुमें रहता है, दूसरी वस्तुमें नहीं।

शि०—हाँ, यह तो मैं अब भी स्वीकार करता हूँ, क्योंकि यदि ऐसा न माना जायेगा तो आग पानी हो जायेगी और पानी आग हो जायेगा। कपड़ा मिट्टी हो जायेगा और मिट्टी कपड़ा हो जायेगी। कोई भी वस्तु अपने स्वभावमें स्थिर न रह सकेगी।

गु०—यदि हम तुम्हारी ही बातको इस तरहसे कहें कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे है और पर स्वभावसे नहीं है तो तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं?

शि०—नहीं, इसमें किसको आपत्ति हो सकती है।

गु०—अब तुमसे फिर पहला प्रश्न किया जाता है कि क्या मौजूदा घटको असत् कह सकते हैं?

शि०—(चुप)

गु०—चुप क्यों हो? क्या फिर भ्रममें पड़ गये हो?

शि०—पर स्वभावकी अपेक्षासे मौजूदा घटको भी असत् कह सकते हैं।

गु०—अब रास्तेपर आये हो। जब हम किसी वस्तुको सत् कहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि उस वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे ही उसे सत् कहा जाता है। अपनेसे अन्य वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षासे संसारकी प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्तका पुत्र संसार भरके मनुष्योंका पुत्र नहीं है और न देवदत्त संसार भरके पुत्रोंका पिता है। क्या इससे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते कि देवदत्तका पुत्र पुत्र है और नहीं भी है। इसी तरह देवदत्तका पिता पिता है और नहीं भी है। अतः संसारमें जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षासे नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है।

किन्तु जब जैनदर्शन यह कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है तो श्रोता इसे असंभव समझता है क्योंकि जो सत् है वह असत् कैसे हो सकता है? परन्तु ऊपर बतलाये गये जिन दृष्टिकोणोंको लक्ष्य करके जैनदर्शन वस्तुको सत् और असत् कहता है यदि उन दृष्टिकोणोंको भी समझ लिया जाये तो फिर उसे असंभव कहनेका साहस नहीं हो सकता। किन्तु जिसे समझनेमें बादरायण जैसे सूत्रकारों और शंकराचार्य जैसे उसके व्याख्याताओंको भी भ्रम हुआ, उसमें यदि साधारणजनोंको व्यामोह हो तो आचरज ही क्या है।

बादरायणके सूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' । २-२-३३ ॥ की व्याख्या करते हुए स्वामी शंकराचार्यने इस सिद्धान्तपर जो सबसे बड़ा दूषण दिया है वह है 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है और नहीं भी है' ऐसा कहना अनिश्चितताको बतलाता है। और अनिश्चितता संशयकी जननी है। अतः यदि जैन

सिद्धान्तके अनुसार वस्तु अनिश्चित है तो उसमें निःसंशय प्रवृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु ऊपरके उदाहरणोंसे इस आपत्तिका परिहार स्वयं हो जाता है। हम व्यवहारमें भी परस्पर विरोधी दो धर्म एक ही वस्तुमें पाते हैं—जैसे भारत स्वदेश भी है और विदेश भी, देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी। इसमें न कोई अनिश्चितता है और न संशय। क्योंकि भारतीयोंकी दृष्टिसे भारत स्वदेश है और विदेशियोंकी दृष्टिसे विदेश है। यदि कोई भारतीय भारतको स्वदेश ही समझता है तो वह भारतको केवल अपने ही दृष्टिकोणसे देखता है, दूसरे भारतीयेतरोंके दृष्टिकोणसे नहीं, और इसलिये उसका भारतदर्शन एकांगी है। पूर्ण दर्शनके लिये सब दृष्टिकोणोंको दृष्टिमें रखना आवश्यक है। अतः शंकराचार्यका यह कथन कि—"एक[1] धर्मीमें परस्परमें विरुद्ध सत्त्व और असत्त्व धर्मोंका होना असंभव है; क्योंकि सत्त्वधर्मके रहनेपर असत्त्वधर्म नहीं रह सकता और असत्त्वधर्मके रहनेपर सत्वधर्म नहीं रह सकता। अतः आर्हतमत असंगत है" कहाँतक संगत है यह निष्पक्ष पाठक ही विचार करें।

स्याद्वाद

इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु परस्परमें विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मोंका समूह है तो उस अनेक धर्मात्मक वस्तुका जानना उतना कठिन नहीं है, जितना शब्दोंके द्वारा उसे प्रकाशित करना कठिन है; क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मोंको एक साथ जान सकता है, किन्तु एक शब्द एक समयमें वस्तुके एक ही धर्मका आंशिक व्याख्यान कर सकता है। इसपर भी शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है। वक्ता

(१) ब्रह्मसूत्र, २-२-३३ का शांकरभाष्य।

वस्तुके अनेक धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यतासे वचन व्यवहार करता है। जैसे, देवदत्तको एक ही समय उसका पिता भी पुकारता है और उसका पुत्र भी पुकारता है। पिता उसे 'पुत्र' कहकर पुकारता है और उसका पुत्र उसे 'पिता' कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता ही है और न केवल पुत्र ही है। किन्तु पिता भी है और पुत्र भी है। इसलिये पिताकी दृष्टिसे देवदत्तका पुत्रत्व धर्म मुख्य है और शेषधर्म गौण हैं और पुत्रकी दृष्टिसे देवदत्तका पितृत्व धर्म मुख्य है और शेष धर्म गौण हैं; क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तुमेंसे जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य कहाता है और इतर धर्म गौण। अतः जब वस्तु अनेक धर्मात्मक प्रमाणित हो चुकी और शब्दमें इतनी सामर्थ्य नहीं पाई गई जो उसके पूरे धर्मोंका कथन एक समयमें कर सके। तथा प्रत्येक वक्ता अपनी अपनी दृष्टिसे वचन व्यवहार करता हुआ देखा गया तो वस्तुका स्वरूप समझनेमें श्रोताको कोई धोखा न हो, इसलिये 'स्याद्वाद'का आविष्कार हुआ।

'स्याद्वाद'के सिद्धान्तके अनुसार विवक्षित धर्मसे इतर धर्मोंका द्योतक या सूचक 'स्यात् शब्द' समस्त वाक्योंके साथ गुप्तरूपसे सम्बद्ध रहता है। स्यात् शब्दका अभिप्राय 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा' से है। अतः संसारमें जो कुछ है वह किसी अपेक्षासे नहीं भी है। इसी अपेक्षावादका सूचक 'स्यात्' शब्द है, जिसका प्रयोग अनेकान्तवादके लिये आवश्यक है; क्योंकि 'स्यात्' शब्दके बिना 'अनेकान्त'का प्रकाशन संभव नहीं है। अतः अनेकान्त दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु 'स्यात् सत्' और 'स्यात् असत्' है।

कोई कोई विद्वान् 'स्यात्' शब्दका प्रयोग 'शायद' के अर्थमें करते हैं। किन्तु शायद शब्द अनिश्चितताका सूचक है, जब कि स्यात् शब्द एक निश्चित अपेक्षावादका सूचक है। इस प्रकार

अनेकान्तवादका फलितार्थ स्याद्वाद है, क्योंकि स्याद्वादके बिना अनेकान्तवादका प्रकाशन संभव नहीं है। अतः एक ही वस्तुके सम्बन्धमें उत्पन्न हुए विभिन्न दृष्टिकोणोंका समन्वय स्याद्वादके द्वारा किया जाता है।

सप्तभंगी

हम ऊपर लिख आये हैं कि शब्दकी प्रवृत्ति वक्ताके अधीन है, अतः प्रत्येक वस्तुमें दोनों धर्मोंके रहनेपर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोणसे उन धर्मोंका उल्लेख करते हैं। जैसे—दो आदमी कुछ खरीदनेके लिये एक दूकानपर जाते हैं। वहाँ किसी वस्तुको एक अच्छी बतलाता है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दोनोंमें बात बढ़ जाती है। तब तीसरा आदमी उन्हें समझाता है—'भई! क्यों झगड़ते हो? यह वस्तु अच्छी भी है और बुरी भी। तुम्हारे लिये अच्छी है और इनके लिये बुरी है अपनी अपनी दृष्टि ही तो है'। ये तीनों व्यक्ति तीन प्रकारका वचन व्यवहार करते हैं। पहला विधि करता है, दूसरा निषेध, और तीसरा विधि और निषेध।

वस्तुके उक्त दोनों धर्मोंको यदि कोई एक साथ कहना चाहे तो नहीं कह सकता; क्योंकि एक शब्द एक समयमें विधि और निषेधमेंसे एकका ही कथन कर सकता है। ऐसी अवस्थामें वस्तु अवाच्य ठहरती है अर्थात् उसे शब्दके द्वारा नहीं कहा जा सकता। उक्त चार वचन व्यवहारोंको दार्शनिक भाषामें स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् सदसत् और स्यात् अवक्तव्य कहते हैं। सप्तभंगीके मूल यही चार भंग हैं। इन्हींके संयोगसे सात भंग होते हैं। अर्थात् चतुर्थ भंग 'स्यात् अवक्तव्य'के साथ क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे भंगको मिलानेसे पाँचवाँ, छठा और सातवाँ

भंग बनता है। किन्तु लोक व्यवहारमें मूल चार तरहके वचनोंका ही व्यवहार देखा जाता है।

स्वामी शंकराचार्यने चौथे भंग 'स्यादवक्तव्य' पर भी आपत्ति की है। वे कहते हैं कि—"पदार्थ अवक्तव्य भी नहीं हो सकते। यदि वे अवक्तव्य हैं तो उनका कथन नहीं किया जा सकता है। कथन भी किया जाय और अवक्तव्य भी कहा जाये ये दोनों बातें परस्परमें विरुद्ध हैं"। किन्तु यदि जैन वस्तुको सर्वथा अवक्तव्य कहते तब तो आचार्य शंकरका उक्त दोष दान उचित होता। किन्तु वे तो अपेक्षा भेदसे अवक्तव्य कहते हैं, इसीका सूचन करनेके लिये स्यात् शब्द अवक्तव्यके साथ लगाया गया है। जो बतलाता है कि वस्तु सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, किन्तु किसी एक दृष्टिकोणसे अवक्तव्य है।

इससे स्पष्ट है कि आचार्यशंकर स्याद्वादको समझ नहीं सके। इसीलिये स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा ने लिखा है—

"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैनसिद्धान्तका खण्डन पढ़ा है तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है, जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा। और जो कुछ मैं अब तक जैनधर्मको जान सका हूँ उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्मको उसके मूलग्रन्थोंसे देखनेका कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्मका विरोध करनेकी कोई बात नहीं मिलती।"

(१) "न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति। अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्"। —ब्रह्मसू० शां० २-२-३३।

हिन्दू विश्वविद्यालयके दर्शन शास्त्रके भूतपूर्व प्रधान अध्यापक श्रीफणिभूषण अधिकारी भी लिखते हैं—

'जैनधर्मके स्याद्वादसिद्धान्तको जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नहीं। यहां तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया। यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्के लिये तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्मके दर्शनशास्त्रके मूलग्रन्थोंके अध्ययन करनेकी परवाह नहीं की।'

ऐसी स्थितिमें भी जब हम किसी 'विद्वानको'[1], उस विद्वानको जो कि अनेकान्तवादको संशयवादका रूपान्तर नहीं मानते और उसे जैनदर्शनकी बहुमूल्य देन स्वीकार करते हैं, यह लिखते हुए पाते हैं कि शंकराचार्यने स्याद्वादका मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्यमें प्रबल युक्तियोंके द्वारा किया है, तो हमें अचरज होता है। अस्तु,

सप्तभंगीवादका विकास दार्शनिक क्षेत्रमें हुआ था, इसलिये उसका उपयोग भी वहीं हुआ। उपलब्ध जैनवाङ्मयमें दार्शनिक क्षेत्रमें सप्तभंगीवादको चरितार्थ करनेका श्रेय सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्रको ही प्राप्त है। उन्होंने अपनी आप्तमीमांसामें[2]

(१) देखो—भारतीयदर्शन (पं० बल्देव उपाध्याय) पृ० १७७।
(२) कारिका नं० ९–२०।

सांख्यको सदैकान्तवादी, माध्यमिकको असदैकान्तवादी, वैशेषिकको सदसदैकान्तवादी और बौद्धको अवक्तव्यैकान्तवादी बतलाकर मूल चार भंगोंका उपयोग किया और शेष तीन भंगोंका उपयोग करनेका संकेत मात्र कर दिया। उनके पश्चात् आप्तमीमांसापर 'अष्टशती'[1] नामक भाष्यके रचयिता श्रीअकलंकदेवने शेष तीन भंगोंका उपयोग करके उस कमीको पूरा कर दिया। उनके मतसे शंकराचार्यका अनिर्वचनीयवाद सदवक्तव्य, बौद्धोंका अन्यापोहवाद असदवक्तव्य और यौगका पदार्थवाद सदसदवक्तव्य कोटिमें गर्भित है। इस तरह सातों भंगोंका उपयोग हो जाता है।

३. द्रव्य-व्यवस्था

जैनदर्शनके मूलतत्व अनेकान्तवाद और उसके फलितार्थ स्याद्वाद और सप्तभंगीवादका परिचय कराकर अब द्रव्यव्यवस्थाको बतलाते हैं।

यद्यपि द्रव्यका लक्षण सत् है तथापि प्रकारान्तरसे गुण और पर्यायोंके समूहको भी द्रव्य कहते हैं। जैसे, जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं और नर नारकी आदि पर्यायें पाई जाती हैं। किन्तु द्रव्यसे गुण और पर्यायकी पृथक् सत्ता नहीं है। ऐसा नहीं है कि गुण पृथक् हैं, पर्याय पृथक् हैं और उनके मेलसे द्रव्य बना है। किन्तु अनादिकालसे गुण पर्यायात्मक ही द्रव्य है। साधारण रीतिसे गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती हैं। अतः द्रव्यको नित्य-अनित्य कहा जाता है। जैनदर्शनमें सत्का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना गया है। अर्थात् जिसमें प्रति समय उत्पत्ति, विनाश और

---

(१) अष्टसहस्री पृ० १३८–१४२।

स्थिरता पाई जाती है वही सत् है। जैसे, मिट्टीसे घट बनाते समय मिट्टीकी पिण्डरूप पर्याय नष्ट होती है, घट पर्याय उत्पन्न होती है और मिट्टी कायम रहती है। ऐसा नहीं है कि पिण्ड पर्यायका नाश पृथक् समयमें होता है और घट पर्यायकी उत्पत्ति पृथक् समयमें होती है। किन्तु जो समय पहली पर्यायके नाशका है, वही समय आगेकी पर्यायके उत्पादका है। इस तरह प्रति समय पूर्व पर्यायका नाश और आगेकी पर्यायकी उत्पत्तिके होते हुए भी द्रव्य कायम रहता है। अतः वस्तु प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक कही जाती है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, और उसमें वह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है। जैसे, एक बच्चा कुछ समय बाद युवा हो जाता है और फिर कुछ कालके बाद बूढ़ा हो जाता है। बचपनसे युवापन और युवापनसे बुढ़ापा एकदम नहीं आ जाता, किन्तु प्रतिसमय बच्चेमें जो परिवर्तन होता रहता है वही कुछ समय बाद युवापनके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। प्रतिसमय होनेवाला परिवर्तन इतना सूक्ष्म है कि उसे हम देख सकनेमें असमर्थ हैं। इस परिवर्तनके होते हुए भी उस बच्चेमें एकरूपता बनी रहती है, जिसके कारण बड़ा हो जाने पर भी हम उसे पहचान लेते हैं। यदि ऐसा न मानकर द्रव्यको केवल नित्य ही मान लिया जाये तो उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हो सकेगा, और यदि केवल अनित्य ही मान लिया जाये तो आत्माके सर्वथा क्षणिक होनेसे पूर्वानुभूतका स्मरण आदि व्यापार नहीं बन सकेगा। अतः प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य स्वभाववाला है। चूँकि द्रव्यमें गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद विनाशशील होती हैं। अतः गुणपर्यायात्मक कहो या उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक कहो दोनोंका एक ही

अभिप्राय है। द्रव्यके इन दोनों लक्षणोंमें वास्तवमें कोई भेद नहीं है, किन्तु एक लक्षण दूसरे लक्षणका व्यञ्जकमात्र है।

द्रव्यका स्वरूप बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें कहा है—

'दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥९॥'

अर्थ—'द्रु' धातुसे, जिसका अर्थ जाना है, द्रव्य शब्दकी निष्पत्ति हुई है। अतः जो अपनी उन उन पर्यायोंको प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते हैं। वह द्रव्य सत्तासे अभिन्न है।'

इससे यह बतलाया है कि द्रव्य सत्स्वरूप है। और जैसे पर्यायोंका प्रवाह सतत् जारी रहता है—एकके पश्चात् दूसरी और दूसरीके पश्चात् तीसरी पर्याय होती रहती है, वैसे ही द्रव्यका प्रवाह भी सतत् जारी रहता है। अर्थात् द्रव्य अनादि और अनन्त है।

'दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥'

अर्थ—'भगवान् जिनेन्द्रदेव द्रव्यका लक्षण सत् कहते हैं। अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त है वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायका आश्रय है वह द्रव्य है।'

द्रव्यके इन तीनों लक्षणोंमेंसे एकके कहनेसे शेष दो लक्षण स्वतः ही कहे जाते हैं, क्योंकि जो सत् है वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तथा गुण और पर्यायसे संयुक्त है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाला है वह सत् है और गुण पर्यायका आश्रय भी है, तथा जो गुण पर्यायवाला है वह सत् है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त भी है।

चूँकि सत् नित्यानित्यात्मक है अतः सत्के कहनेसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपना प्रकट होता है तथा ध्रुवत्वसे गुणोंके साथ और उत्पाद-व्ययसे विनाशशील पर्यायोंके साथ एकात्मकता प्रकट होती है। इसी तरह वस्तुको उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप बतलानेसे उसकी नित्यानित्यात्मकता और गुणपर्याय विशिष्टता प्रकट होती है। तथा वस्तुको गुणपर्यायात्मक बतलानेसे गुणोंसे ध्रौव्यका और पर्यायसे उत्पाद विनाशका सूचन होता है और उससे नित्यानित्यात्मक सत् है यह प्रतीत होता है। अतः तीनों लक्षण प्रकारान्तरसे द्रव्यका विश्लेषण करते हैं और बतलाते हैं कि—

'उप्पत्तीवविणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥११॥'

अर्थ—"द्रव्यका न तो उत्पाद होता है और न विनाश, वह तो सत्स्वरूप है। किन्तु उसीकी पर्यायें उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको करती हैं।"

इसका यह मतलब है कि द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, किन्तु उसकी पर्यायें उत्पन्न होती और नष्ट होती हैं और वे पर्यायें चूँकि द्रव्यसे अभिन्न हैं अतः द्रव्य भी उत्पाद-व्ययशील है।

जैन दर्शनके इस सिद्धान्तका प्रतिपादन महर्षि पतञ्जलिने भी अपने महाभाष्यके पशपशाह्निकमें निम्नलिखित शब्दोंमें किया है—

"द्रव्यं नित्यम्, आकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः

पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिरांगारसदृशे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।"

अर्थात्—'द्रव्य नित्य है और आकार-पर्याय अनित्य है। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकारसे पिण्डरूप होता है। पिण्डरूपका विनाश करके उससे माला बनाई जाती है। मालाका विनाश करके उससे कड़े बनाये जाते हैं। कड़ोंको तोड़कर उससे स्वस्तिक बनाये जाते हैं। स्वस्तिकोंको गलाकर फिर सुवर्णपिण्ड हो जाता है। उसके अमुक आकारका विनाश करके खदिर अङ्गारके समान दो कुण्डल बना लिये जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है परन्तु द्रव्य वही रहता है। आकारके नष्ट होनेपर भी द्रव्य शेष रहता ही है।'

इससे द्रव्यकी नित्यता और पर्यायकी अनित्यता प्रमाणित होती है। जैन दर्शन भी ऐसा ही मानता है और इसीसे वह वस्तुका लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य करता है। उसके मतसे तत्त्व त्र्यात्मक है। आचार्य समन्तभद्रने दो दृष्टान्त देकर इसी बातको प्रमाणित किया है। आप्तमीमांसामें वे लिखते हैं—

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥५९॥'

'एक राजाके एक पुत्र है और एक पुत्री। राजाके पास एक सोनेका घड़ा है। पुत्री उस घटको चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस घटको तोड़कर उसका मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्रकी हट पूरी करनेके लिये घटको तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा देता है। घटके नाशसे पुत्री दुखी होती है, मुकुटके उत्पादसे पुत्र प्रसन्न होता है और चूँकि वह राजा तो सुवर्णका इच्छुक है जो कि घट टूटकर मुकुट बन जानेपर भी कायम

रहता है अतः उसे न शोक होता है और न हर्ष। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

दूसरा उदाहरण—

'पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥'

'जिसने केवल दूध ही खानेका व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता। जिसने केवल दही खानेका व्रत लिया है वह दूध नहीं खाता। और जिसने गोरसमात्र न खानेका व्रत लिया है वह न दूध खाता है और न दही; क्योंकि दूध और दही दोनों गोरसकी दो पर्यायें हैं अतः गोरसत्व दोनोंमें है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

मीमांसादर्शनके पारगामी महामति कुमारिल भी वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप मानते हैं। उन्होंने भी उसके समर्थनके लिये स्वामी समन्तभद्रके उक्त दृष्टान्तको ही अपनाया है। वे उसका खुलासा करते हुए लिखते हैं—

'वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥२१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥२२॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥२३॥'
—मी० श्लो० वा०।

अर्थात्—'जब सुवर्णके प्यालेको तोड़कर उसकी माला बनाई जाती है तब जिसको प्यालेकी जरूरत है, उसको शोक होता है, जिसे मालाकी आवश्यकता है उसे हर्ष होता है और

जिसे सुवर्णकी आवश्यकता है उसे न हर्ष होता है और न शोक। अतः वस्तु त्रयात्मक है। यदि उत्पाद, स्थिति और व्यय न होवे तो तीन व्यक्तियोंके तीन प्रकारके भाव न होते, क्योंकि प्यालेके नाशके बिना प्यालेकी आवश्यकतावालेको शोक नहीं हो सकता, मालाके उत्पादके बिना मालाकी आवश्यकतावालेको हर्ष नहीं हो सकता और सुवर्णकी स्थिरताके बिना सुवर्णके इच्छुकको प्यालेके विनाश और मालाके उत्पादमें माध्यस्थ्य नहीं रह सकता। अतः वस्तु सामान्यसे नित्य है।' (और विशेष अर्थात् पर्यायरूपसे अनित्य है)

इस कथनका निष्कर्ष यह है कि जैनदर्शनमें द्रव्य ही एक तत्त्व है, जो कि ६ प्रकारका है और वह प्रति समय उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-स्वरूप है। अतएव वह द्रव्यदृष्टिसे नित्य है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है।

४. जीवद्रव्य

जैनाचार्य श्रीकुन्दकुन्दने जीवका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

> 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
> जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ २–८०॥'
>
> प्रवच०

'जिसमें न कोई रस है, न कोई रूप है और न किसी प्रकारकी गंध है। अतएव जो अव्यक्त है, शब्दरूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिन्हसे भी जिसे नहीं जाना जा सकता और न जिसका कोई निर्दिष्ट आकार ही है, उस चैतन्यगुण विशिष्ट द्रव्यको जीव कहते हैं।'

इसका यह आशय है कि जिसका चेतनागुण है, वह जीव है।

और वह जीव पुद्गल द्रव्यसे जुदा है, क्योंकि पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणवाला तथा साकार होता है, किन्तु जीवद्रव्य ऐसा नहीं है। अतः जीवद्रव्य जड़तत्त्वसे जुदा एक वास्तविक पदार्थ है। और भी—

'जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥ २७ ॥'
—पंचास्ति०

'वह जीव चैतन्यस्वरूप है, जानने देखनेरूप उपयोगवाला है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है और अपने शरीरके प्रमाण है। तथा यद्यपि वह मूर्तिक नहीं है तथापि कर्मोंसे संयुक्त है।'

इस गाथाके द्वारा जीवद्रव्यके सम्बन्धमें जैनदर्शनकी प्रायः सभी मुख्य मान्यताओंको बतला दिया है। उनका खुलासा इस प्रकार है—

जीव चेतन है

जीवका असाधारण लक्षण चेतना है और वह चेतना जानने और देखने रूप है। अर्थात् जो जानता और देखता है वह जीव है। सांख्य भी चेतनाको पुरुषका स्वरूप मानता है, किन्तु वह उसे ज्ञानरूप नहीं मानता। उसके मतसे ज्ञान प्रकृतिका धर्म है। वह मानता है कि ज्ञानका उदय न तो अकेले पुरुषमें ही होता है और न बुद्धिमें ही होता है। जब ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य पदार्थोंको बुद्धिके सामने उपस्थित करती हैं तो बुद्धि उपस्थित पदार्थके आकारको धारण कर लेती है। इतने पर भी जब बुद्धिमें चैतन्यात्मक पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी ज्ञानका उदय होता है। परन्तु जैनदर्शनमें बुद्धि और चैतन्यमें कोई भेद ही नहीं है। उसमें हर्ष, विषाद आदि अनेक पर्यायवाला ज्ञानरूप एक आत्मा

ही अनुभवसे सिद्ध है। उसीके चैतन्य, बुद्धि, अध्यवसाय, ज्ञान आदि पर्यायें कहलाती हैं। अतः चैतन्य ज्ञानस्वरूप ही है। उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं। एक अन्तर्मुख और दूसरी बहिर्मुख। जब वह आत्मस्वरूपको ग्रहण करता है तो उसे दर्शन कहते हैं और जब वह बाह्य पदार्थको ग्रहण करता है तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और दर्शनमें मुख्य भेद यह है कि जैसे ज्ञानके द्वारा 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूपसे वस्तुको व्यवस्था होती है, उस तरह दर्शनके द्वारा नहीं होती। अतः जीव चैतन्यात्मक है. इसका आशय है कि जीव ज्ञानदर्शनात्मक है, ज्ञान दर्शन जीवके गुण या स्वभाव हैं। कोई जीव उनके बिना रह ही नहीं सकता। जो जीव है वह ज्ञानवान् है और जो ज्ञानवान् है वह जीव है। जैसे आग अपने उष्णगुणको छोड़कर नहीं रह सकती, वैसे ही जीव भी ज्ञानगुणके बिना नहीं रह सकता। एकेन्द्रिय वृक्षमें रहनेवाले जीवसे लेकर मुक्तात्माओं तकमें हीनाधिक ज्ञान पाया जाता है। सबसे कम ज्ञान वनस्पतिकायके जीवोंमें पाया जाता है और सबसे अधिक यानी पूर्णज्ञान मुक्तात्मामें पाया जाता है।

जैनेतर दार्शनिकोंमें नैयायिक वैशेषिक भी ज्ञानको जीवका गुण मानते हैं। किन्तु उनके मतानुसार गुण और गुणी ये दोनों दो पृथक् पदार्थ हैं और उन दोनोंका परस्परमें समवायसम्बन्ध होता है। अतः उनके मतसे आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है, किन्तु उसमें ज्ञानगुण रहता है इसलिये वह ज्ञानवान् कहा जाता है। किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है तो वह अज्ञानस्वरूप ठहरता है। और उसके अज्ञानस्वरूप होनेपर आत्मा और जड़में कोई अन्तर नहीं रहता। इसपर नैयायिकका कहना है कि आत्माके साथ तो ज्ञानका सम्बन्ध होता है

किन्तु जड़ घटादिकके साथ ज्ञानका सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये आत्मा और जड़में अन्तर है। इसपर जैन दार्शनिकोंका कहना है कि जब आत्मा भी ज्ञानस्वरूप नहीं है और जड़ भी ज्ञानस्वरूप नहीं है, फिर भी ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे ही क्यों होता है, जड़से क्यों नहीं होता? यदि कहा जायेगा कि आत्मा चेतन है इसलिये उसीके साथ ज्ञानका सम्बन्ध होता है तो इस पर जैन दार्शनिकोंका यह कहना है कि नैयायिक आत्माको स्वयं चेतन भी नहीं मानता किन्तु चैतन्यके सम्बन्धसे ही चेतन मानता है। ऐसी स्थितिमें ज्ञानकी ही तरह चेतनके सम्बन्धमें भी वही प्रश्न पैदा होता है कि चैतन्यका सम्बन्ध आत्माके ही साथ क्यों होता है घटादिकके साथ क्यों नहीं होता? अतः इस आपत्तिसे बचनेके लिये आत्माको स्वयं चेतन और ज्ञानस्वरूप मानना चाहिये। जैसा कि कहा है—

'णाणी णाणं च सदा अत्यंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥४८॥

ण हि सो समवायादो अत्यंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधकं होदि ॥४९॥'

—पञ्चास्ति०।

अर्थात्—'यदि ज्ञानी और ज्ञानको परस्परमें सदा एक दूसरेसे भिन्न पदार्थान्तर माना जायगा तो दोनों अचेतन हो जायेंगे। यदि कहा जायेगा कि ज्ञानसे भिन्न होने पर भी आत्मा ज्ञानके समवायसे ज्ञानी होता है तो प्रश्न होता है कि ज्ञानके साथ समवाय सम्बन्ध होनेसे पहले वह आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि ज्ञानी था तो उसमें ज्ञानका समवाय मानना व्यर्थ है। यदि अज्ञानी था तो अज्ञानके समवायसे अज्ञानी था या अज्ञान-

के साथ एकमेक होनेसे अज्ञानी था ? अज्ञानीमें अज्ञानका समवाय मानना तो व्यर्थ ही है। तथा उस समय उसमें ज्ञानका समवाय न होनेसे उसे ज्ञानी भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अज्ञानके साथ एकमेक होनेसे आत्मा अज्ञानी ही ठहरता है। ऐसी स्थितिमें जैसे अज्ञानके साथ एकमेक होनेसे आत्मा अज्ञानी हुआ वैसे ही ज्ञानके साथ भी आत्माका एकत्व मानना चाहिये।'

सारांश यह है जैनदर्शन गुण और गुणीके प्रदेश जुदे नहीं मानता। जो आत्माके प्रदेश हैं वे ही प्रदेश ज्ञानादिक गुणोंके भी हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है। और जुदे वे ही कहलाते हैं जिनके प्रदेश भी जुदे जुदे हों। अतः जो जानता है वही ज्ञान है। इसलिये ज्ञानके सम्बन्धसे आत्मा ज्ञाता नहीं है, किन्तु ज्ञान ही आत्मा है।, जैसा कि कहा है—

> णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
> तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥
>
> —प्रवच०।

अर्थात्—'ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है। चूँकि ज्ञान आत्माके बिना नहीं रहता अतः ज्ञान आत्मा ही है। किन्तु आत्मामें अनेक गुण पाये जाते हैं अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य गुणरूप भी है।'

प्रभु है

प्रत्येक जीव अपने पतन और उत्थानके लिये स्वयं ही उत्तरदायी है। अपने कार्योंसे ही वह बँधता है और अपने कार्योंसे ही वह उस बन्धनसे मुक्त होता है। अन्य कोई न उसे बाँधता है और न बन्धनसे मुक्त करता है। वह स्वतः ही भिखारी

बनता है और स्वतः ही भिखारीसे भगवान बन सकता है। अतः वह प्रभु-समर्थ कहा जाता है।

कर्ता है

अपने द्वारा बाँधे गये कर्मोंके फलको भोगते समय जीवके जो भाव होते हैं, वह जीव उन अपने भावोंका कर्ता कहा जाता है। आशय यह है कि जीवके भाव पाँच प्रकारके होते हैं— औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। कर्मोंका उपशम होनेसे—अर्थात् उदयमें न आ सकनेसे जो भाव होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंका क्षय-विनाश हो जानेसे जो भाव होते हैं, उन्हें क्षायिक भाव कहते हैं। कर्मोंका क्षयोपशम—कुछका क्षय और कुछका उपशम होनेसे जो भाव होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंके उदयसे जो भाव होते हैं उन्हें औदयिक कहते हैं और कर्मोंके निमित्तके बिना जो भाव होते हैं उन्हें पारिणामिक कहते हैं। वस्तुतः अपने इन भावोंका कर्ता जीव ही है, कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। किन्तु कर्मका निमित्त मिले बिना उक्त भाव नहीं होते इसलिये उन भावोंका कर्ता कर्मको भी कहा जाता है। सांख्य पुरुष-आत्माको कर्ता नहीं मानता। उसके मतानुसार आत्मा अक्रिय और अकर्ता है, जगतके व्यापारके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसपर जैनदर्शनकी यह आपत्ति है कि यदि आत्मा अकर्ता है तो बन्ध और मोक्षकी कल्पना व्यर्थ है। 'मैं सुनता हूँ' इत्यादि प्रतीति सभीको होती है अतः आत्माका अकर्तृत्व अनुभवविरुद्ध है। यदि कहा जाये कि इस प्रकारकी प्रतीति अहंकारसे होती है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि सांख्य अनुभवको अहंकारजन्य नहीं मानता। और अनुभवके अहंकारजन्य न

होनेसे ही आत्माका कर्तृत्व स्वीकार करना पड़ता है। अतः आत्मा कर्ता है।

भोक्ता है

जिस तरह जीव अपने भावोंका कर्ता है उसी तरह उनका भोक्ता भी है। यदि आत्मा सुख दुःखका भोक्ता न हो तो सुख दुःखकी अनुभूति ही नहीं हो सकती और अनुभूति चैतन्यका धर्म है। सांख्य का कहना है कि 'पुरुष स्वभावसे भोक्ता नहीं है किन्तु उसमें भोक्तृत्वका आरोप किया जाता है, क्योंकि सुख दुःखका अनुभव बुद्धिके द्वारा होता है और बुद्धि अचेतन है। बुद्धिमें संक्रान्त सुख दुःखका प्रतिबिम्ब शुद्ध स्वभाव पुरुषमें पड़ता है, अतः पुरुषको सुख दुःखका भोक्ता मान लिया जाता है।' इस पर जैनोंका कहना है कि जैसे स्फटिकमें जपाकुसुमका प्रतिबिम्ब पड़नेसे स्फटिक मणिका लाल रूपसे परिणमन मानना पड़ता है वैसे ही पुरुषमें सुख दुःखका प्रतिबिम्ब माननेसे पुरुषमें सुख दुःखरूप परिणाम मानना ही पड़ता है। उसके बिना सुख-दुःखको अनुभूति नहीं हो सकती।

अपने शरीरप्रमाण है

जैन दर्शनमें जीवको शरीरप्रमाण माना गया है। जैसे दीपक छोटेया बड़े जिस स्थानमें रखा जाता है, उसका प्रकाश उसके अनुसार ही या तो सकुच जाता है या फैल जाता है। वैसे ही आत्मा भी प्राप्त हुए छोटे या बड़े शरीरके आकारका हो जाता है। किन्तु न तो संकोच होने पर आत्माके प्रदेशोंकी हानि होती है और न विस्तार होने पर नये प्रदेशोंकी वृद्धि होती है। प्रत्येक दशामें आत्मा असंख्यातप्रदेशोका असंख्यातप्रदेशी ही रहता है।

आत्माको शरीरप्रमाण माननेमें यह आपत्ति की जाती है कि यदि आत्मा शरीरके प्रत्येक प्रदेशमें प्रवेश करता है तो शरीरकी तरह आत्माको भी सावयव मानना पड़ता है और सावयव माननेसे आत्माका विनाश प्राप्त होता है; क्योंकि जैसे घट सावयव है जब उसके अवयवोंका संयोग नष्ट होता है तो घट भी नष्ट हो जाता है, उसी तरह आत्माको सावयव माननेसे उसका भी नाश हो सकता है। इस आपत्तिका उत्तर जैनदर्शन देता है कि जैन दृष्टि से आत्मा कथंचित् सावयव भी है; किन्तु उसके अवयव घटके अवयवोंकी तरह कारणपूर्वक नहीं हैं। अर्थात् घट एक द्रव्य नहीं है किन्तु अनेक द्रव्य है; क्योंकि अनेक परमाणुओंके समूहसे घट बना है और प्रत्येक परमाणु एक एक द्रव्य है। अतः घटके अवयव उसके कारणभूत परमाणुओंसे उत्पन्न हुए हैं। किन्तु आत्मामें यह बात नहीं है आत्मा एक अखण्ड है और अविनाशी द्रव्य है। वह अनेक द्रव्योंके संयोगसे निष्पन्न नहीं हुआ है। अतः घटकी तरह उसके विनाशका प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता। जैसे आकाश एक सवव्यापक अमूर्तिक द्रव्य है, किन्तु उसे भी जैन दर्शनमें अनन्त प्रदेशी माना गया है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जायेगा तो मथुरा, काशी और कलकत्ता एक प्रदेशवर्ती हो जायेंगे। चूँकि ये भिन्न भिन्न प्रदेशवर्ती हैं अतः सिद्ध है कि आकाश बहुप्रदेशी भी है। बहुप्रदेशी होनेपर भी न तो आकाशका विनाश ही होता है और न वह अनित्य ही है, उसी तरह आत्माको भी जानना चाहिये।

दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि यदि आत्मा शरीरप्रमाण है तो बालकके शरीरप्रमाणसे युवा शरीररूप वह कैसे बदल जाता है? यदि बालकके शरीरप्रमाणको छोड़कर वह युवाके शरीरप्रमाण होता है तो शरीरकी तरह आत्मा भी

अनित्य ठहरता है। यदि बालकके शरीरप्रमाणको छोड़े बिना आत्मा युवाके शरीररूप होता है तो यह संभव नहीं है; क्योंकि एक परिमाणको छोड़े बिना दूसरा परिमाण नहीं हो सकता। इसके सिवा यदि जीव शरीरपरिमाण है तो शरीरके एकाध अंशके कट जानेपर आत्माके भी अमुक भागकी हानि माननी पड़ती है। इसका उत्तर यह है कि आत्मा बालकके शरीरपरिमाणको छोड़कर ही युवा शरीरके परिमाणको धारण करता है। जैसे सर्प अपने फण वगैरहको फैलाकर बड़ा कर लेता है वैसे ही आत्मा भी संकोच-विस्तार गुणके कारण भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न आकारवाला हो जाता है। इस अपेक्षासे आत्माको अनित्य भी कहा जा सकता है। किन्तु द्रव्यदृष्टिसे तो आत्मा नित्य ही है। शरीरके खण्डित हो जानेपर भी आत्मा खण्डित नहीं होता किन्तु शरीरके खण्डित हुए भागमें आत्माके प्रदेश विस्ताररूप हो जाते हैं। यदि खण्डित हुए भागमें आत्माके प्रदेश न माने जायँ तो शरीरसे कटकर अलग हुए भागमें जो कम्पन देखा जाता है उसका कोई दूसरा कारण दृष्टिगोचर नहीं होता; क्योंकि उस भागमें दूसरी आत्मा तो हो नहीं सकता, और बिना आत्माके परिस्पन्द नहीं हो सकता। क्योंकि कुछ देरके बाद, जब आत्मप्रदेश सकुच जाते हैं तो कटे भागमें क्रिया नहीं रहती। अतः शरीरके दो भाग हो जानेपर भी आत्माके दो भाग नहीं होते। अतः आत्मा शरीर परिमाणवाला है; क्योंकि 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि रूपसे शरीरमें ही आत्माका ग्रहण होता है।

इस प्रकार आत्माको शरीर परिमाणवाला सिद्ध करके जैनदार्शनिक आत्माके व्यापकत्वका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि आत्मा व्यापक है तो उसमें क्रिया नहीं हो-

सकती और क्रियाके बिना वह पुण्य-पापका कर्ता नहीं हो सकता। तथा कर्तृत्वके बिना बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बनती।

कर्मोंसे संयुक्त है।

जैनदर्शन प्रत्येक संसारी आत्माको कर्मोंसे बद्ध मानता है। यह कर्मबन्धन उसके किसी अमुक समयमें नहीं हुआ, किन्तु अनादिसे है। जैसे, खानसे सोना मैला ही निकलता है वैसे ही संसारी आत्माएँ भी अनादिकालसे कर्मबन्धनमें जकड़े हुए ही पाये जाते हैं। यदि शुद्ध आत्माएँ अनादिकालसे शुद्ध ही हों तो फिर उनके कर्मबन्धन नहीं हो सकता; क्योंकि कर्मबन्धनके लिये आन्तरिक अशुद्धिका होना आवश्यक है। उसके बिना भी यदि कर्मबन्धन होने लगे तो मुक्त आत्माओंके भी कर्मबन्धनका प्रसंग उपस्थित हो सकता है और ऐसी अवस्थामें मुक्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ हो जायेगा।

इस प्रकार जैन दृष्टिसे जीव जानने देखनेवाला, अमूर्ति, कर्ता, भोक्ता, शरीर परिमाणवाला और अपने उत्थान और पतनके लिये स्वयं उत्तरदायी है।

जीवके भेद

उस जीवके मूल भेद दो हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। कर्मबन्धनसे बद्ध जो जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें जन्म लेते और मरते हैं वे संसारी हैं और जो उससे छूट चुके हैं वे मुक्त हैं। मुक्त जीवोंमें तो कोई भेद होता ही नहीं, सभी समान गुण-धर्मवाले होते हैं। किन्तु संसारी जीवोंमें अनेक भेद प्रभेद पाये जाते हैं। संसारी जीव चार प्रकारके होते हैं, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इस पृथिवीके नीचे सात नरक हैं, उनमें जो जीव निवास करते हैं वे नारकी हैं। ऊपर स्वर्गोंमें जो जीव

निवास करते हैं वे देव कहाते हैं। हम आप सब मनुष्य हैं और पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, वृक्ष आदि शेष सब तिर्यञ्च कहे जाते हैं। नारकी, देव और मनुष्योंके तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु तिर्यञ्चोंमें ऐसा नहीं है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उसीके द्वारा वे जानते हैं। इन जीवोंको स्थावर कहते हैं। जैनधर्मके अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदिके सिवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पतिमें भी जीव है। मिट्टीमें कीड़े आदि जीव तो हैं ही, किन्तु मिट्टी पहाड़ आदि स्वयं पृथ्वीकायिक जीवोंके शरीरका पिण्ड है। इसी तरह जलमें यंत्रोंके द्वारा दिखाई देनेवाले अनेक जीवोंके अतिरिक्त जल स्वयं जलकायिक जीवोंके शरीरका पिण्ड है। यही बात अग्निकाय आदिके विषयमें भी जाननी चाहिये। लट आदि जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी वगैरहके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरे आदिके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और सर्प, नेवला पशु, पक्षी आदिके पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। इन इन्द्रियोंके द्वारा वे जीव अपने अपने योग्य स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दका ज्ञान करते हैं। जैन शास्त्रोंमें इन सभी जीवोंकी योनि, जन्म और शरीर वगैरहका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि जैनदर्शन जीवबहुत्ववादी है। वह प्रत्येक जीवकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। उसका कहना है कि यदि सभी जीव एक होते तो एक जीवके सुखी होनेसे सभी जीव सुखी होते, एक जीवके दुःखी होनेसे सभी जीव दुःखी होते, एकके बन्धनसे सभी बंधनबद्ध होते

और एकको मुक्तिसे सभी मुक्त हो जाते। जीवोंकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंको देखकर ही सांख्यने भी जीवोंकी अनेकताको स्वीकार किया है। जैनदर्शनका भी यही मत है।

५ अजीवद्रव्य

जिन द्रव्योंमें चैतन्य नहीं पाया जाता वे अजीवद्रव्य कहे जाते हैं। वे पाँच हैं। उनका परिचय इस प्रकार है—

१ पुद्गलद्रव्य

जो टूटे फूटे, बने और बिगड़े वह सब पुद्गलद्रव्य हैं। मोटे तौरपर हम जो कुछ देखते हैं, छूते हैं, सूँघते हैं, खाते हैं और सुनते हैं वह सब पुद्गल है। इसीलिये जैनशास्त्रोंमें पुद्गलका लक्षण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श बतलाया है। अर्थात् जिसमें ये चारों गुण पाये जाते हैं वह पुद्गल है। छहों द्रव्योंमें एक पुद्गलद्रव्य ही मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं। न्यायदर्शनकार पृथिवी, जल, तेज और वायुको जुदा जुदा द्रव्य मानते हैं; क्योंकि उनकी मान्यताके अनुसार पृथिवीमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चारों गुण पाये जाते हैं, जलमें गन्धके सिवा शेष तीन ही गुण पाये जाते हैं, तेजमें गन्ध और रसके सिवा शेष दो ही गुण पाये जाते हैं और वायुमें केवल एक स्पर्श ही गुण पाया जाता है। अतः चारोंके परमाणु जुदे जुदे हैं। अर्थात् पृथिवीके परमाणु जुदे हैं, जलके परमाणु जुदे हैं, तेजके परमाणु जुदे हैं और वायुके परमाणु जुदे हैं। अतः ये चारों द्रव्य जुदे जुदे हैं। किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि सब परमाणु एकजातीय ही हैं और उन सभीमें चारों गुण पाये जाते हैं। किन्तु उनसे बने हुए द्रव्योंमें जो किसी गुणकी प्रतीति नहीं होती, उसका कारण उन गुणोंका अभिव्यक्त न हो सकना ही है। जैसे पृथिवीमें

जलका सिंचन करनेसे गन्ध गुण व्यक्त होता है इसलिये उसे केवल पृथिवीका ही गुण नहीं माना जा सकता। आँवला खाकर पानी पीनेसे पानीका स्वाद मीठा लगता है, किन्तु वह स्वाद केवल पानीका ही नहीं है, आँवलेका स्वाद भी उसमें सम्मिलित है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। इसके सिवा जलसे मोती उत्पन्न होता है जो पार्थिव माना जाता है, जंगलमें बाँसोंको रगड़से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जौके खानेसे पेटमें वायु उत्पन्न होती है। इससे सिद्ध है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायुके परमाणुओंमें भेद नहीं है। जो कुछ भेद है, वह केवल परिणमनका भेद है। अतः सभीमें स्पर्शादि चारों गुण मानने चाहियें। और इसीलिये पृथ्वी आदि चार द्रव्य नहीं है किन्तु एक द्रव्य है। इसीलिये कहा है—

> 'आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
>
> सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥' पंचास्ति०।

अर्थात्—जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका कारण है वह परमाणु है। परमाणु द्रव्य है उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और रूप ये चारों गुण पाये जाते हैं। इसी कारणसे वह मूर्तिक कहा जाता है। वह परमाणु अविभागी होता है, क्योंकि उसका, आदि, अन्त और मध्य नहीं है इसीलिये उसका दूसरा भाग नहीं होता। जैनदर्शनकी दृष्टिसे द्रव्य और गुणमें प्रदेशभेद नहीं होता। इसलिये जो प्रदेश परमाणुका है वही चारों गुणोंका भी है। अतः इन चारों गुणोंको परमाणुसे जुदा नहीं किया जा सकता। फिर भी जो किसी द्रव्यमें किसी गुणकी प्रतीति नहीं होती उसका कारण परमाणुका परिणामित्व है, परिणमनशील होनेके कारण ही कहीं किसी गुणकी उद्भूति देखी जाती है

और कहीं किसी गुणकी अनुभूति। किन्तु परमाणु शब्दरूप नहीं है।

पुद्गलके दो भेद हैं—परमाणु और स्कन्ध। प्राचीन शास्त्रोंमें परमाणुका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

'अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियेगेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं वियाणाहि ॥'

'जो स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्तरूप है, अर्थात् जिसमें आदि, मध्य और अन्तका भेद नहीं है और जो इन्द्रियोंके द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस अविभागी द्रव्यको परमाणु जानो।'

'सव्वेंसि खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥' पञ्चास्ति०।

'सब स्कन्धोंका जो अन्तिम खण्ड है, अर्थात् जिसका दूसरा खण्ड नहीं हो सकता, उसे परमाणु जानो। वह परमाणु नित्य है, शब्दरूप नहीं है, एक प्रदेशी है, अविभागी है और मूर्तिक है।'

'एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि ॥८१॥' पञ्चास्ति०।

'जिसमें एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श गुण होते हैं, जो शब्दकी उत्पत्तिमें कारण तो है किन्तु स्वयं शब्दरूप नहीं है और स्कन्धसे जुदा है, उसे परमाणु जानो।'

ऊपरके इस विवेचनसे परमाणुके सम्बन्धमें अनेक बातें ज्ञात होती हैं। पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी अंशको परमाणु कहते हैं। वह परमाणु एकप्रदेशी होता है, इसीलिये उसका दूसरा भाग नहीं हो सकता। उसमें कोई एक रस, कोई एक

रूप, कोई एक गंध और शीत-उष्णमेंसे एक तथा स्निग्ध-रूक्षमेंसे एक इस तरह दो स्पर्श होते हैं। यद्यपि परमाणु नित्य है तथापि स्कन्धोंके टूटनेसे उसकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् अनेक परमाणुओंका समूह रूप स्कन्ध जब विघटित होता है तो विघटित होते होते उसका अन्त परमाणु रूपोंमें होता है, इस दृष्टिसे परमाणुओंकी भी उत्पत्ति मानी गई है, किन्तु द्रव्य रूपसे तो परमाणु नित्य ही है।

अनेक परमाणुओंके बन्धसे जो द्रव्य तैयार होता है उसे स्कन्ध कहते हैं। दो परमाणुओंके मेलसे द्व्यणुक बनता है, तीन परमाणुओंके मेलसे त्र्यणुक तैयार होता है। इसी तरह संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके मेलसे संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी, और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तैयार होते हैं। हम जो कुछ देखते हैं वह सब स्कन्ध ही हैं। धूपमें जो कण उड़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी स्कन्ध ही हैं।

पुद्गल द्रव्यकी अनेक पर्यायें होती हैं। यथा —

'सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥'—द्रव्य सं०

'शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चाँदनी और धूप ये सब पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं।'

अन्य दार्शनिकोंने शब्दको आकाशका गुण माना है, किन्तु जैन दार्शनिक उसे पुद्गल द्रव्यकी पर्याय मानते हैं। वे लिखते हैं—

'सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥' पञ्चास्ति०।

'शब्द स्कन्धसे उत्पन्न होता है। अनेक परमाणुओंके बन्ध-

विशेषको स्कन्ध कहते हैं। उन स्कन्धोंके परस्परमें टकरानेसे शब्दकी उत्पत्ति होती है।'

जैनोंका कहना है कि यदि शब्द आकाशका गुण होता तो मूर्तिक कर्णेन्द्रियके द्वारा उसका ग्रहण नहीं हो सकता था; क्योंकि अमूर्तिक आकाशका गुण भी अमूर्तिक ही होगा। और अमूर्तिकको मूर्तिक इन्द्रिय नहीं जान सकती। तथा शब्द टकराता भी है, कुएँ वगैरहमें आवाज करनेसे प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। शब्द रोका भी जाता है, ग्रामोफोनके रिकार्ड, टेलीफोन आदि इसके उदाहरण हैं। शब्द गतिमान भी है। आधुनिक विज्ञान भी शब्दमें गति मानता है। और ये सब बातें मूर्तिकमें ही संभव हैं अतः शब्द मूर्तिक है।

बन्धका मतलब केवल दो वस्तुओंका परस्परमें मिल जाना मात्र नहीं है। किन्तु बन्ध उस सम्बन्ध विशेषको कहते हैं, जिसमें दो चीजें अपनी असली हालतको छोड़कर एक तीसरी हालतमें हो जाती हैं। उदाहरणके लिये आक्सीजन और हाइड्रोजन नामकी दो हवाएँ हैं। ये दोनों जब परस्परमें मिलती हैं तो पानीरूप हो जाती हैं। इसी तरह कपूर, पीपलमेंएट और सत अजवायन परस्परमें मिलकर एक द्रव औषधीका रूप धारण कर लेती हैं। यह बन्ध है। यदि ऐसा न माना जाये तो जिस तरह वस्त्रमें रंग-विरंगे धागोंका संयोग होनेपर भी सब धागे अलग अलग ही रहते हैं, एकका दूसरेपर कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह यदि परमाणुओंका भी केवल संयोगमात्र ही माना जाये और बन्धविशेष न माना जाये तो उनके संयोगसे स्थिर स्थूल वस्तुकी उत्पत्ति हो नहीं हो सकती, क्योंकि बन्धमें जो रसायनिक सम्मिश्रण होता है, केवल संयोगमें वह संभव नहीं है। और रसायनिक सम्मिश्रणके बिना स्कन्ध उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसीलिये जैन-दर्शनमें बन्धके स्वरूपका विश्लेषण बड़ी बारीकीसे किया गया है। उसमें बतलाया है कि स्निग्ध और रूक्षगुणके निमित्तसे ही परमाणुओंका बन्ध होता है। परमाणुमें अन्य भी अनेक गुण हैं, किन्तु बन्ध करानेमें कारण केवल दो ही गुण हैं—स्निग्धता-चिक्कणता और रूक्षता-रूखापना। स्निग्ध गुणवाले परमाणुओंका भी बन्ध होता है। रूक्षगुणवाले परमाणुओंका भी बन्ध होता है और स्निग्ध-रूक्षगुणवाले परमाणुओंका भी बन्ध होता है। किन्तु जघन्य गुणवालोंका बन्ध नहीं होता और न समान गुणवालोंका ही बन्ध होता है, क्योंकि इस प्रकारके गुणवाले परमाणु यद्यपि परस्परमें मिल सकते हैं किन्तु स्कन्धको उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः दो गुण अधिक गुणवालोंका ही परस्परमें बन्ध हो सकता है; क्योंकि अधिक गुणवाला परमाणु अपनेसे दो कम गुणवाले परमाणुसे मिलकर एक तीसरी ही अवस्था धारण करता है, इसीका नाम बन्ध है। यदि दोसे अधिक या दोसे कम गुणवालोंका भी बन्ध मान लिया जाये तो अधिक विषमता हो जानेके कारण अधिक गुणवाला कम गुणवालेको अपनेमें मिला लेगा, किन्तु कम गुण-वाला अधिक गुणवालेपर अपना उतना प्रभाव नहीं डाल सकेगा जितना रसायनिक सम्मिश्रणके लिये आवश्यक है। अतः दो अधिक गुणवालोंका ही बन्ध होता है। और बन्धसे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारका बन्ध पुद्गल द्रव्यमें ही संभव है अतः बन्ध भी पुद्गलकी पर्याय है।

इसी तरह मोटापन, दुबलापन, गोल तिकोन चौकोर आदि आकार और टूट-फूट भी मूर्तिकद्रव्यमें हो संभव है। अतः वे भी पुद्गलकी पर्यायें हैं। जैनदृष्टिसे अन्धकार भी वस्तु है, क्योंकि वह दिखाई देता है और उसमें तरतमभाव पाया जाता है।

जैसे गाढ़ा अन्धकार, हलका अन्धकार आदि। दूसरे दार्शनिक अन्धकारको केवल प्रकाशाभावरूप ही मानते हैं, किन्तु जैन-दार्शनिक उसे केवल अभावरूप ही नहीं मानते बल्कि प्रकाशकी ही तरह उसे भी एक भावात्मक चीज मानते हैं। और जैसे सूर्य, चाँद वगैरहका प्रकाश, जो धूप और चाँदनीके नामसे पुकारा जाता है, पुद्गलकी पर्याय है वैसे ही अन्धकार भी पुद्गलकी पर्याय है। छाया भी पुद्गलकी पर्याय है, क्योंकि किसी मूर्तिमान् वस्तुके द्वारा प्रकाशके रुक जानेपर छाया पड़ती है।

इस प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा हम जो कुछ देखते हैं, सूँघते हैं, छूते हैं, चखते हैं और सुनते हैं वह सब पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय है।

२. धर्मद्रव्य और ३. अधर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यसे मतलब पुण्य और पापसे नहीं है, किन्तु ये दोनों भी जीव और पुद्गलकी ही तरह दो स्वतंत्र द्रव्य हैं जो जीव और पुद्गलोंके चलने और ठहरनेमें सहायक होते हैं। छ द्रव्योंमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो निष्क्रिय हैं, इनमें हलन-चलन नहीं होता, शेष जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं। इन दोनों द्रव्योंको जो चलनेमें सहायता करता है वह धर्मद्रव्य है और जो ठहरनेमें सहायता करता है वह अधर्मद्रव्य है। यद्यपि चलने और ठहरनेकी शक्ति तो जीव पुद्गलमें ही है, किन्तु बाह्य सहायताके बिना उस शक्तिकी व्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे परिणमन करनेकी शक्ति तो संसारकी प्रत्येक वस्तुमें मौजूद है, किन्तु कालद्रव्य उसमें सहायक है उसकी सहायताके बिना कोई वस्तु परिणमन नहीं कर सकती। इसी तरह धर्म और अधर्मकी सहायताके बिना न

किसीमें गति हो सकती है और न किसीकी स्थिति हो सकती है। ये दो द्रव्य ऐसे हैं, जिन्हें जैनोंके सिवा अन्य किसी भी धर्मने नहीं माना। दोनों द्रव्य आकाशकी तरह ही अमूर्तिक हैं और समस्त लोकव्यापी हैं। जैसा कि कहा है—

> 'धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
> लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥ ८३ ॥'
> —पंचास्ति०।

'धर्मद्रव्यमें न रस है, न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है, और न वह शब्दरूप ही है। तथा समस्तलोकमें व्याप्त है, अखंडित है और असंख्यात प्रदेशी है।'

> 'उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
> तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥ ८५ ॥'
> —पंचास्ति०।

'जैसे इस लोकमें जल मछलियोंके चलनेमें सहायक है वैसे ही धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंके चलनेमें सहायक है।'

> 'जह हवदि धम्मदव्वं तह त जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
> ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥ ८६ ॥'
> —पंचास्ति०।

'जैसा धर्मद्रव्य है वैसा ही अधर्मद्रव्य है। अधर्मद्रव्य ठहरते हुए जीव पुद्गलोंको पृथ्वीकी तरह ठहरनेमें सहायक है।'

सहायक होने पर भी धर्म और अधर्म द्रव्य प्रेरक कारण नहीं हैं, अर्थात् किसीको बलात् नहीं चलाते हैं और न बलात् ठहराते हैं। किन्तु चलते हुएको चलनेमें और ठहरते हुएको ठहरनेमें मदद करते हैं।

यदि उन्हें गति और स्थितिमें मुख्य कारण मान लिया जाये तो जो चल रहे हैं वे चलते ही रहेंगे और जो ठहरे हैं वे ठहरे ही रहेंगे। किन्तु जो चलते हैं वे ही ठहरते भी हैं। अतः जीव और पुद्गल स्वयं ही चलते हैं और स्वयं ही ठहरते हैं, धर्म और अधर्म केवल उसमें सहायक मात्र हैं।

४. आकाशद्रव्य

जो सभी द्रव्योंको स्थान देता है उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य अमूर्तिक और सर्वव्यापी है। इसे अन्य दार्शनिक भी मानते हैं। किन्तु जैनोंकी मान्यतामें उनसे कुछ अन्तर है। जैनदर्शनमें आकाशके दो भेद माने गये हैं—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। सर्वव्यापी आकाशके मध्यमें लोकाकाश है और उसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाशमें छहों द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाशमें केवल आकाशद्रव्य ही पाया जाता है।

जैसा कि लिखा है—

'जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥ ९१ ॥'

—पंचास्ति०।

'जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्मद्रव्य लोकसे बाहर नहीं हैं। और आकाश उस लोकके अन्दर भी है और बाहर भी है, क्योंकि उसका अन्त नहीं है।'

सारांश यह है कि आकाश सर्वव्यापी है। उस आकाशके बीचमें लोकाकाश है जो अकृत्रिम है—किसीका बनाया हुआ नहीं है। न उसका आदि है और न अन्त ही है। कटिके दोनों भागों-पर दोनों हाथ रखकर और दोनों पैरोंको फैलाकर खड़े हुए पुरुषके

समान लोकका आकार है। नीचेके भागमें सात नरक हैं। नाभि देशमें मनुष्यलोक है और ऊपरके भागमें स्वर्गलोक है। तथा मस्तक प्रदेशमें मोक्षस्थान है। चूँकि जीव शरीरपरिमाण वाला और स्वभावसे ही ऊपरको जानेवाला है अतः कर्मबन्धनसे मुक्त होते ही वह जीव शरीरमेंसे निकलकर ऊपर चला जाता है और जाकर मोक्षस्थानमें ठहर जाता है। उससे आगे वह जा नहीं सकता, क्योंकि गमनमें सहायक धर्मद्रव्य वहींतक पाया जाता है, उससे आगे नहीं पाया जाता। और उसकी सहायताके बिना वह आगे जा नहीं सकता। इसीलिये जब कुछ दार्शनिकोंने जैनोंसे यह प्रश्न किया कि धर्म और अधर्म द्रव्यकी आवश्यकता ही क्या है, आकाश उनका भी कार्य कर लेगा तो उन्होंने उन्हें उत्तर दिया—

'आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढं गदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ॥ ९२॥'
—पंचास्ति०।

'यदि आकाश अवगाहके साथ साथ गमन और स्थितिका भी कारण हो जायेगा तो ऊर्ध्वगमन करनेवाले मुक्त जीव मोक्षस्थानमें कैसे ठहर सकेंगे।'

इस पर यह कहा जा सकता है कि मुक्तजीव ऊपर लोकके अग्रभागमें यदि नहीं ठहर सकेंगे तो न ठहरें। मात्र उन्हें ठहरानेके लिये ही तो दो द्रव्योंकी मान्यता नहीं की जा सकती? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

'जम्हा उवरिमट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहि पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थित्ति॥ ९३॥'
—पंचास्ति०।

'यतः भगवान जिनेन्द्रने मुक्त जीवोंका स्थान ऊपर लोकके अग्रभागमें बतलाया है, अतः आकाश गति और स्थितिका निमित्त नहीं है।'

तथा—

> 'जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
> पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवुड्ढी ॥ ९४ ॥'
>
> —पंचास्ति०।

'यदि आकाश जीव और पुद्गलोंके गमन और स्थितिमें भी कारण होता है तो ऐसा माननेसे लोककी अन्तिम मर्यादा बढ़ती है और अलोकाकाशकी हानि प्राप्त होती है, क्योंकि फिर तो जीव और पुद्गल गति करते हुए आगे बढ़ते जायँगे। और ज्यों ज्यों वे आगे बढ़ते जायँगे त्यों त्यों लोक बढ़ता जायेगा और अलोक घटता जायेगा।'

इसपर भी यह कहा जा सकता है कि लोककी वृद्धि और अलोककी हानि यदि होती है तो होओ, तो उसपर पुनः आचार्य कहते हैं—

> 'तम्हाधम्मा धम्मा गमणठिदिकारणाणि णाकासं।
> इदि जिणवरेहि भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥ ९५ ॥'
>
> —पंचास्ति०।

'जिनवर भगवानने श्रोताजनोंको लोकका स्वभाव ऐसा ही बतलाया है। अतः धर्म और अधर्मद्रव्य ही गति और स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं।'

आशय यह है कि एक ही आकाशके दो विभाग कायम रखनेमें प्रधान कारण धर्म और अधर्मद्रव्य हैं। इन दोनों द्रव्योंकी वजहसे ही जीव और पुद्गल लोकाकाशकी मर्यादासे

बाहर नहीं जा सकते। जैनेतर दार्शनिकोंने आकाश द्रव्यको मानकर भी न तो लोकका कोई खास आकार माना और न आत्माको सक्रिय और शरीर परिमाणवाला ही माना। इसलिये उसका नियमन करनेके लिये उन्हें धर्म और अधर्म नामके द्रव्य माननेकी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई। किन्तु जैनधर्ममें वैसी व्यवस्था होनेसे आकाशसे जुदे, किन्तु उसके समकक्ष दो द्रव्य और माने गये। इस तरह धर्म और अधर्मद्रव्यके निमित्तसे एक ही आकाश अखण्ड होकर भी दो रूप हो गया है। जितने आकाशमें सब द्रव्य पाये जाते हैं उतने आकाशको लोकाकाश कहते हैं और उससे अतिरिक्त जो शुद्ध अकेला आकाश है उसे अलोकाकाश कहते हैं।

५ कालद्रव्य

जो वस्तुमात्रके परिवर्तन करानेमें सहायक है उसे कालद्रव्य कहते हैं। यद्यपि परिणमन करनेकी शक्ति सभी पदार्थोंमें है, किन्तु बाह्य निमित्तके बिना उस शक्तिकी व्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे कुम्हारके चाकमें घूमनेकी शक्ति मौजूद है, किन्तु कीलका साहाय्य पाये बिना वह घूम नहीं सकता, वैसे ही संसारके पदार्थ भी कालद्रव्यका साहाय्य पाये बिना परिवर्तन नहीं कर सकते। अतः कालद्रव्य उनके परिवर्तनमें सहायक है। किन्तु वह भी वस्तुओंका बलात् परिणमन नहीं कराता है और न एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप परिणमन कराता है, किन्तु स्वयं परिणमन करते हुए द्रव्योंका सहायकमात्र हो जाता है।

काल दो प्रकारका है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहार-काल। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर जुदे जुदे कालाणु-कालके अणु स्थित हैं, उन कालाणुओंको निश्चयकाल कहते हैं। अर्थात्

कालद्रव्य नामको वस्तु वे कालाणु हो कहे जाते हैं। उन कालाणुओंके निमित्तसे हो संसारमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उन्हींके निमित्तसे प्रत्येक वस्तुका अस्तित्व कायम है। आकाशके एक प्रदेशमें स्थित पुद्गलका एक परमाणु मन्दगतिसे जितनी देरमें उस प्रदेशसे लगे हुए दूसरे प्रदेशपर पहुँचता है उसे समय कहते हैं। यह समय कालद्रव्यको पर्याय है। समयोंके समूहको ही आवली, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, घटिका, दिन रात आदि कहा जाता है यह सब व्यवहारकाल है। यह व्यवहारकाल सौर मण्डलकी गति और घड़ी वगैरहके द्वारा जाना जाता है तथा इसके द्वारा ही निश्चयकाल अर्थात् कालद्रव्यके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है; क्योंकि जैसे किसी बच्चेमें शेरका व्यवहार करनेसे कि 'यह बच्चा शेर है' शेर नामके पशुके होनेका निश्चय किया जाता है, वैसे ही सूर्य आदिकी गतिमें जो कालका व्यवहार किया जाता है वह औपचारिक है, अतः काल नामका कोई स्वतंत्र द्रव्य होना आवश्यक है जिसका उपचार लौकिक व्यवहारमें किया जाता है। कालद्रव्यको अन्य दार्शनिकोंने भी माना है, किन्तु उन्होंने व्यवहारकालको ही कालद्रव्य मान लिया है। कालद्रव्य नामकी अणुरूप वस्तुको केवल जैनोंने ही स्वीकार किया है। यह कालद्रव्य भी आकाशकी तरह ही अमूर्तिक है। अन्तर केवल इतना है कि आकाश एक अखण्ड है, किन्तु कालद्रव्य अनेक हैं, जैसा कि लिखा है—

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केका।
रयणाणं रासिमिव ते कालाणु असंखदव्वाणि॥

'लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिकी तरह जो एक एक करके स्थित हैं, वे कालाणु हैं और वे असंख्यात द्रव्य हैं।

अर्थात् प्रत्येक कालाणु एक एक द्रव्य है जैसे कि पुद्गलका प्रत्येक परमाणु एक एक द्रव्य है।'

प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंमें इन कालाणुओंके सम्बन्धमें अनेक उपपत्तियोंका उपपादन करके अच्छा प्रकाश डाला गया है जो मनन करने योग्य है।

इस प्रकार जैनदर्शनमें ६ द्रव्य माने गये हैं। कालको छोड़कर शेष द्रव्योंको पञ्चास्तिकाय कहते हैं। 'अस्तिकाय' में दो शब्द मिले हुए हैं एक 'अस्ति' और दूसरा 'काय'। 'अस्ति' शब्दका अर्थ 'है' होता है जो कि अस्तित्व सूचक है, और कायशब्दका अर्थ होता है 'शरीर'। अर्थात् जैसे शरीर बहुदेशी होता है वैसे ही कालके सिवा शेष पाँच द्रव्य भी बहुप्रदेशी हैं। इसलिये उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। किन्तु कालद्रव्य अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि उसके कालाणु असंख्य होनेपर भी परस्पर २ सदा अबद्ध रहते हैं, न तो वे आकाशके प्रदेशोंकी तरह सदासे मिले हुए एक और अखण्ड हैं और न पुद्गल परमाणुओंकी तरह कभी मिलते और कभी बिछुड़ते ही हैं। इसलिये वे 'काय' नहीं कहे जाते।

प्रदेशके सम्बन्धमें भी कुछ मोटी बातें जान लेनी चाहिये। जितने देशको एक पुद्गल परमाणु रोकता है उतने देशको प्रदेश कहते हैं। लोकाकाशमें यदि क्रमवार एक एक करके परमाणुओंको बराबर बराबर सटाकर रखा जाये तो असंख्यात परमाणु समा सकते हैं, अतः लोकाकाश और उसमें व्याप्त धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी कहे जाते हैं। इसी तरह शरीर परिमाण जीवद्रव्य भी यदि शरीरसे बाहर होकर फैले तो लोकाकाशमें व्याप्त हो सकता है अतः जीवद्रव्य भी असंख्यातप्रदेशी

है। पुद्गलका परमाणु तो एक ही प्रदेशी है, किन्तु उन परमाणुओं-के समूहसे जो स्कन्ध बन जाते हैं वे संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी होते हैं। अतः पुद्गल द्रव्य भी बहुप्रदेशी है। इस तरह बहुप्रदेशी होनेसे पाँच द्रव्योंको पञ्चास्तिकाय भी कहते हैं।

६. यह विश्व और उसकी व्यवस्था

यह विश्व, जो हमारी चर्मचक्षुओंके सामने है और जिसमें हम निवास करते हैं, इन्हीं द्रव्योंसे बना हुआ है। 'बना हुआ' से मतलब यह न ले लेना चाहिये कि किसीने अमुक समयमें इस विश्वकी रचना की है। यह विश्व तो अनादि-अनिधन है, न इसका आदि ही है और न अन्त ही है, न कभी किसीने इसे बनाया है और न कभी इसका अन्त ही होता है। अनादिकालसे यह ऐसा ही चला आ रहा है और अनन्तकाल तक ऐसा ही चला जायेगा। रहा परिवर्तन, सो वह तो प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है। सर्वथा नित्य तो कोई वस्तु है ही नहीं। हो भी नहीं सकती, क्योंकि वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर विश्वमें जो वैचित्र्य दृष्टि-गोचर होता है वह संभव नहीं हो सकता। अतः परिवर्तनशील संसारकी मौलिक स्थितिमें कोई परिवर्तन न होते हुए विश्वकी व्यवस्था सदा जारी रहती है।

किन्तु कुछ दार्शनिकों और जनसाधारणकी भी ऐसी धारणा है कि इस विश्वका कोई एक रचयिता होना चाहिये, जिसकी आज्ञासे विश्वकी व्यवस्था सदा नियमित रीतिसे जारी रहती है। सृष्टिरचनाके सम्बन्धमें यों तो अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं किन्तु मोटेरूपसे उन्हें तीन भागोंमें रखा जा सकता है। एक विभागवाले तो यह मानते हैं कि एक परमेश्वर या ब्रह्म ही अनादि

अनन्त है। जो एक ब्रह्मको ही अनादि अनन्त मानते हैं उनका कहना है कि ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। यह जो कुछ भी सृष्टि दिखाई दे रही है वह स्वप्नके समान एक प्रकारका भ्रम है। जो परमेश्वरको ही अनादि अनन्त मानते हैं उनका कहना है कि यह सृष्टि भ्रममात्र तो नहीं है। किन्तु इसे परमेश्वरने ही नास्तिसे अस्तिरूप किया है। पहले तो एक परमेश्वरके सिवाय कुछ था ही नहीं। पीछे उसने किसी समयमें अवस्तुसे ही ये सब वस्तुएँ बना दी हैं। जब वह चाहेगा तब फिर वह इन्हें नास्तिरूप कर देगा और तब सिवाय उस एक परमेश्वरके अन्य कुछ भी न रहेगा। दूसरे विभागवाले कहते हैं अवस्तुसे कोई वस्तु बन नहीं सकती, वस्तुसे ही वस्तु बना करती है। संसारमें जीव और अजीव दो प्रकारकी वस्तुएँ दिखाई देती हैं, वे किसीके द्वारा बनाई नहीं गई हैं। जिस प्रकार परमेश्वर सदासे है उसी प्रकार जीव और अजीवरूप वस्तुएँ भी सदासे हैं, सदा रहेंगी। परन्तु इन वस्तुओंकी अनेक अवस्थाओंका बनाना और बिगाड़ना उस परमेश्वरके ही हाथमें है। तीसरे विभागवालोंका कहना है कि जीव और अजीव ये दोनों ही प्रकारकी वस्तुएँ अनादिसे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगी। इनकी अवस्थाओंको बदलनेवाला और इस विश्वका नियामक कोई तीसरा नहीं है। इन्हीं वस्तुओंके परस्परके सम्बन्धसे इन्हींके गुणों और स्वभावोंके द्वारा सब परिवर्तन स्वयमेव होता है।

इस प्रकार इन तीनों मतोंमें यद्यपि बहुत अन्तर है तो भी एक बातमें ये तीनों ही सहमत हैं। तीनोंने ही किसी न किसी वस्तुको अनादि अवश्य माना है। पहला ब्रह्म या ईश्वरको अनादि मानता है। वही इस विश्वको बनाता और बिगाड़ता है। दूसरा परमेश्वरके ही समान जीव और अजीवको भी अनादि मानता

है। तीसरा जीव और अजीवको ही अनादि मानता है। अतः इन तीनोंमें यह विवाद तो उठ ही नहीं सकता कि बिना बनाये सदासे भी कोई वस्तु हो सकती है या नहीं। और जब यह मान लिया गया कि बिना बनाये सदासे भी कोई या कुछ वस्तुएँ हो सकती हैं तो यह बात भी सभी स्वीकार करेंगे कि वस्तुमें कोई न कोई गुण या स्वभाव भी अवश्य होता है; क्योंकि बिना किसी गुण या स्वभावके कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। और जैसे वह वस्तु अनादि है वैसे ही उसका गुण या स्वभाव भी अनादि है। सारांश यह है कि दो बातोंमें संसारके सभी मतवाले एकमत हैं कि संसारमें कोई वस्तु बिना बनाए अनादि भी हुआ करती है और बिना बनाये उसके गुण और स्वभाव भी अनादि होते हैं। अब केवल यह निश्चय करना है कि कौन वस्तु तो बिना बनी हुई अनादि है और कौन वस्तु सादि है?

जब हम संसारको ओर दृष्टि देते हैं तो संसारमें तो हमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं मिलती जो बिना किसी वस्तुके ही बन गई हो। और न कोई ऐसी वस्तु दिखाई देती है जो किसी समय एकदम नास्तिरूप हो जाती हो। यहाँ तो वस्तुसे ही वस्तु बनती देखी जाती है। सारांश यह है कि न तो कोई सर्वथा नवीन वस्तु पैदा ही होती है और न कोई वस्तु सर्वथा नष्ट ही होती है। किन्तु जो वस्तुएँ पहलेसे चली आती हैं उन्हींका रूप बदल-बदलकर नवीन-नवीन वस्तुएँ दिखाई देती रहती हैं। जैसे, सोनेसे अनेक प्रकारके आभूषण बनाये जाते हैं। सोनेके बिना ये आभूषण नहीं बन सकते। फिर उन्हीं आभूषणोंको तोड़कर दूसरे प्रकारके आभूषण बनाये जाते हैं। सोना उनमें भी रहता है। इसी प्रकार मिट्टी, जल, वायु और धूपका संयोग पाकर बीज ही वृक्षरूप परिणत होता है। वृक्षको जला देनेपर

उसके कोयले हो जाते हैं और कोयले जलकर राख हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि वस्तुसे ही वस्तुकी उत्पत्ति होती है। तथा जगतमें एक भी परमाणु न तो कम होता है और न बढ़ता है। सदा जितनेके तितने ही रहते हैं। हाँ, उनकी अवस्थाएँ बदल-बदलकर नई नई वस्तुओंकी सृष्टि होती रहती है। अतः यह बात सिद्ध होती है कि संसारमें कोई वस्तु अस्तिसे नास्ति-रूप नहीं होती और नास्तिसे अस्ति रूप नहीं होती। किन्तु हरेक वस्तु किसी न किसी रूपमें सदासे चली आती है और आगे भी किसी न किसी रूपमें सदा विद्यमान रहेगी। अर्थात् संसारकी जीव व अजीवरूप सभी वस्तुएँ अनादि अनन्त हैं और उनके अनेक नवीनरूप होते रहनेसे ही यह संसार चल रहा है।

इस प्रकार जीव व अजीवरूप सभी वस्तुओंकी नित्यता सिद्ध हो जानेपर अब केवल एक बात निर्णय करनेके योग्य रह जाती है कि संसारके ये सब पदार्थ किस तरहसे नवीन नवीन रूप धारण करते हैं। इस बातका निर्णय करनेके लिये जब हम संसारकी ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि मनुष्य मनुष्यसे ही पैदा होता है। इसी तरह पशु-पक्षी भी अपने माँ-बापसे ही पैदा होते देखे जाते हैं। बिना माँ-बापके उनकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। गेहूँ, चना आदि अनाज तथा आम, अमरूद आदि वनस्पतियाँ भी अपने अपने बीज, जड़ या शाखा वगैरहसे ही उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं। और जैसे ये आज उत्पन्न होती हुई देखी जाती हैं वैसे ही पहले भी उत्पन्न होती होंगी। इस तरह इन सब वस्तुओंकी उत्पत्ति अनादि माननेपर इस धरतीको भी अनादि मानना ही पड़ता है।

जिस प्रकार वस्तुएँ अनादि अनन्त हैं उसी प्रकार उनके गुण और स्वभाव भी अनादि अनन्त हैं। जैसे, अग्निका स्वभाव

उष्ण है। यह उसका स्वभाव अनादिसे हो है और अनन्त कालतक रहेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। यदि वस्तुओंके गुण और स्वभाव सदा बदलते रहते तो मनुष्यको किसी वस्तुको छूने या उसके पास जाने तकका साहस भी न होता। उसे सदा यह भय रहता कि न जाने आज इसका क्या स्वभाव हो गया है? परन्तु उनके गुण और स्वभावके विषयमें वह सदा निर्भय रहता है, क्योंकि वह उनके स्वभावके विषयमें अपने और अपनेसे पूर्ववर्ती सज्जनोंके अनुभवपर पूरा भरोसा करता है। अतः यह सिद्ध होता है कि वस्तुओंकी ही तरह उनके गुण और स्वभाव भी अनादि-अनन्त हैं।

इसी प्रकार संसारकी वस्तुओंकी जाँच करनेपर यह भी मालूम होता है कि दो या तीन वस्तुओंको मिलानेसे जो वस्तुएँ आज बन सकती हैं वे पहले भी बन सकती थीं। जैसे नीला और पीला रंग मिलानेसे आज हरा रंग बन जाता है, यह रंग पहले भी बन सकता था और आगे भी बनता रहेगा। ऐसे ही किसी एक वस्तुके प्रभावसे जो परिवर्तन दूसरी वस्तुमें हो जाता है वह पहले भी होता था या हो सकता था और आगे भी होता रहेगा। जैसे, आगकी गर्मीसे जो भाप आज बनती है वही पहले भी बनती थी और आगेको भी बनती रहेगी। जलानेसे जैसे आज लकड़ी, आग, कोयला राखरूप हो जाती हैं, वैसे ही वे पहले भी होती थीं और आगे भी होंगी। सारांश यह है कि अन्य वस्तुओंसे प्रभावित होने तथा अन्य वस्तुओंको प्रभावित करनेके गुण और स्वभाव भी वस्तुओंमें अनादि हैं।

इस प्रकार विचार करनेपर जब यह बात सिद्ध हो जाती है

कि वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्षकी उत्पत्तिके समान या मुर्गीसे अण्डा और अण्डेसे मुर्गीकी उत्पत्तिके समान संसारके सभी मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पतियाँ सन्तान दर सन्तान अनादि कालसे चले आते हैं। किसी समयमें इनका आदि नहीं हो सकता और इन सबके अनादि होनेसे इस पृथ्वीका भी अनादि होना जरूरी है। साथ ही वस्तुओंके गुण स्वभाव और एक दूसरेपर असर डालने तथा एक दूसरेके असरको ग्रहण करनेकी प्रकृति भी अनादि कालसे हो चली आती है, तब जगतके प्रबन्धका सारा ढाँचा ही मनुष्यकी आँखोंके सामने हो जाता है। उसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि संसारमें जो कुछ हो रहा है वह सब वस्तुओंके गुण और स्वभावके ही कारण हो रहा है। इसके सिवा न तो कोई ईश्वरीय शक्ति ही इसमें कोई कार्य कर रही है और न उसकी कोई जरूरत ही है। जैसे जब समुद्रके पानीपर सूरजकी धूप पड़ती है तो उस धूपमें जितना ताप होता है उसीके अनुसार समुद्रका पानी भापरूप बन जाता है। और जिधरकी हवा होती है उधरको ही भाप बनकर चला जाता है। फिर जहाँ कहीं भी उसे इतनी ठंड मिल जाती है कि वह पानीका पानी हो जावे वहीं पानी होकर बरसने लगता है। फिर वह बरसा हुआ पानी स्वभावसे ही ढालकी ओर बहता हुआ बहुत-सी चीजोंको अपने साथ लेता हुआ चला जाता है। और बहता-बहता नदियोंके द्वारा समुद्रमें हो जा पहुँचता है।

धूप, हवा, पानी और मिट्टी आदिके इन उपर्युक्त स्वभावोंसे दुनियामें लाखों करोड़ों परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे फिर लाखों करोड़ों काम होने लग जाते हैं। अन्य भी जिन परिवर्तनोंपर दृष्टि डालते हैं उनमें भी वस्तु स्वभावको ही कारण पाते हैं। जब संसारकी सारी वस्तुएँ और उनके गुण स्वभाव सदासे हैं

और जब संसारकी सारी वस्तुएँ दूसरी वस्तुओंसे प्रभावित होती हैं और दूसरी वस्तुओंपर अपना प्रभाव डालती हैं तब तो यह बात जरूरी है कि उनमें सदासे ही आदान-प्रदान होता रहता है और उसके कारण नाना परिवर्तन होते रहते हैं। यही संसारका चक्र है जो वस्तु स्वभावके द्वारा अपने आप ही चल रहा है। किन्तु अविचारी मनुष्य उससे चकित होकर भ्रममें पड़े हुए हैं।

विचारनेकी बात है कि जब समुद्रके पानीकी ही भाप बनकर उसका ही बादल बनता है तब यदि वस्तुस्वभावके सिवाय कोई दूसरा ही वर्षाका प्रबन्ध करनेवाला होता तो वह कभी भी उस समुद्रपर पानी न बरसाता जिसके पानीकी भापसे ही वह बादल बना था। परन्तु देखनेमें तो यही आता है कि बादलको जहाँ भी इतनी ठंड मिल जाती है कि भापका पानी बन जावे वहीं वह बरस पड़ता है। यही कारण है कि वह समुद्रपर भी बरसता है और धरतीपर भी। बादलको तो इस बातका ज्ञान ही नहीं कि उसे कहाँ बरसना चाहिये और कहाँ नहीं। इसीसे कभी वर्षा समयपर होती है और कभी कुसमयमें। बल्कि कभी कभी तो ऐसा होता है कि सारी फसल भर अच्छी वर्षा होकर अन्तमें एक आध वर्षाकी ऐसी कमी हो जाती है कि सारी करी कराई खेती मारी जाती है। यदि वस्तु स्वभावके सिवाय कोई दूसरा प्रबन्ध-कर्ता होता तो ऐसी अन्धाधुन्धी कभी भी न होती। इसपर शायद यह कहा जाये कि उसकी तो इच्छा ही यह थी कि इस खेतमें अनाज पैदा न हो या कम पैदा हो। परन्तु यदि यही बात होती तो वह सारी फसल भर अच्छी वर्षा करके उस खेतीको इतनी बड़ी ही क्यों होने देता। बल्कि वह तो उस किसानको बीज ही न बोने देता। यदि किसानपर उसका काबू नहीं चल सकता था तो खेतमें पड़े बीजको ही वह न उगने देता। यदि

बीजपर भी उसका काबू न था तो बारिश की एक बूँद भी उस खेतमें न पड़ने देता। तथा यदि संसारके उस प्रबन्धकर्ताकी यही इच्छा होती कि इस वर्ष अनाज हो पैदा न हो या कमतो पैदा हो तो वह उन खेतोंको ही न सुखाता जो बारिशके ही ऊपर निर्भर हैं बल्कि उन खेतोंको भी जरूर सुखाता जिनमें नहरसे पानी आता है। परन्तु देखनेमें यही आता है कि जिस वर्ष वर्षा नहीं होती उस वर्ष उन खेतोंमें तो कुछ भी पैदा नहीं होता जो वर्षापर निर्भर हैं, और नहरसे पानी आनेवाले खेतोंमें उसी वर्ष सब कुछ पैदा हो जाता है। इससे सिद्ध है कि संसारका कोई एक प्रबन्धकर्ता नहीं है बल्कि वस्तु स्वभावके कारण ही जब वर्षाके निमित्त कारण जुट जाते हैं तब पानी बरस जाता है और जब वे कारण नहीं जुटते तब पानी नहीं बरसता। वर्षाको इस बातका ज्ञान नहीं है कि उसके कारण कोई खेती हरी होगी या सूखेगी और संसारके जीवोंका लाभ होगा या हानि। इसीसे ऐसी गड़बड़ी हो जाती है कि जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ एक बूंद भी पानी नहीं पड़ता और जहाँ आवश्यकता नहीं होती वहाँ खूब वर्षा हो जाती है। किसी प्रबन्धकर्ताके न होनेके कारण ही मनुष्यने नहर निकालकर और कुएँ आदि खोदकर यह प्रबन्ध किया है कि यदि वर्षा न हो तो भी अपने खेतोंको पानी देकर वह अनाज पैदा कर सके।

इसके सिवाय जब प्रत्येक धर्मके अनुसार संसारमें इस समय पापोंकी ही अधिकता हो रही है और नित्य ही भारी भारी अन्याय देखनेमें आते हैं तब यह कैसे माना जा सकता है कि जगतका कोई प्रबन्धकर्ता भी है, जिसकी आज्ञाको न मानकर ही ये सब अपराध और पाप हो रहे हैं। शायद कहा जाये कि राजाकी भी तो आज्ञा भंग होती रहती है। किन्तु राजा न तो

सर्वज्ञ ही होता है और न सर्वशक्तिमान्। इसलिये न तो उसे सब अपराध करनेवालोंका ही पता रहता है और न वह सब प्रकारके अपराधोंको दूर हो कर सकता है। परन्तु जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हो और एक छोटेसे परमाणुसे लेकर आकाश तककी गति और स्थितिका कारण हो, जिसकी इच्छाके बिना एक पत्ता तक भी नहीं हिल सकता हो, उसके सम्बन्धमें यह बात कभी भी नहीं कही जा सकती। एक ओर तो उसे संसारके एक एक कणका प्रबन्धकर्ता बताना और दूसरी ओर अपराधोंके रोकनेमें उसे असमर्थ ठहराना यह तो उस प्रबन्धकर्ताका परिहास है।

तथा यदि कोई इस संसारका प्रबन्धक होता तो वह यह अवश्य बतलाता कि इस समय हमें जो सुख या दुःख मिल रहा है वह हमारे कौनसे कृत्योंका फल है जिससे हम आगामीको बुरे कृत्योंसे बचते और अच्छे कार्मोंकी ओर लगते। परन्तु हमें तो यह भी मालूम नहीं कि पुण्य क्या है और पाप क्या है? एक ही कृत्यको कोई पाप कहता है और कोई पुण्य। यही वजह है कि संसारमें सैकड़ों प्रकारके मत फैले हुए हैं और तमाशा यह है कि सब ही अपने अपने मतको उसी सर्वशक्तिमान् परमात्माका बतलाया हुआ कहते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं ऐसा अन्धेर तो मामूली राजाओंके राज्यमें भी नहीं होता। प्रत्येक राजाके राज्यमें जो कानून प्रचलित होता है, यदि कोई मनुष्य उसके विपरीत नियम चलाना चाहता है या उसके विरुद्ध प्रचार करता है तो वह दण्ड पाता है। किन्तु सर्वशक्तिमान् परमात्माके राज्यमें सैकड़ों ही मतोंके प्रचारक अपने अपने धर्मका उपदेश करते हैं—अपने अपने सिद्धान्तोंको उसी एक परमेश्वरकी आज्ञा बताकर उसके ही अनुसार चलनेकी घोषणा करते हैं। और यह

सब कुछ होते हुए भी संसारके प्रबन्धकर्ता उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ओरसे कुछ भी रोकटोक इस विषयमें नहीं होती। ऐसी स्थितिमें तो कभी भी यह नहीं माना जा सकता कि कोई सर्वशक्तिमान् परमेश्वर इस संसारका प्रबन्ध करता है। बल्कि यही माननेके लिये विवश होना पड़ता है कि वस्तु स्वभावपर ही संसारका सारा ढाँचा बँधा हुआ है और उसीके अनुसार जगतका सब प्रबन्ध चला आता है। यही कारण है कि यदि कोई मनुष्य वस्तु स्वभावके विपरीत आचरण करता है तो ये सब वस्तुएँ उसको मना करने या रोकने नहीं जातीं। और न अपने स्वभावके अनुसार कभी अपना फल देनेसे ही चूकती हैं। जैसे आगमें चाहे तो कोई बालक नादानीसे अपना हाथ डाल दे या किसी बुद्धिमान पुरुषका हाथ भूलसे पड़ जावे, वह आग अपना काम अवश्य करेगी। मनुष्यके शरीरमें सैकड़ों बीमारियाँ ऐसी होती हैं जो उसके अज्ञात दोषोंका ही फल होती हैं। परन्तु प्रकृति या वस्तु स्वभाव उसे यह नहीं बताती कि तेरे अमुक दोषके कारण तुझको यह बीमारी हुई है। इसी तरह हमारे दोषोंका फल भी हमें वस्तु स्वभावके अनुसार स्वयं मिल जाता है।

इस प्रकार वस्तु स्वभावके अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि सुख दुःख भोगते समय क्यों हमको हमारे उन कृत्योंकी खबर नहीं होती, जिनके फलस्वरूप हमें वह सुख दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु किसी प्रबन्धकर्ताके माननेकी हालतमें वह बात कभी ठीक नहीं बैठती, बल्कि उल्टा अन्धेर ही दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि हम यह मानते हैं कि जो बच्चा किसी चोर, डाकू या वेश्या आदि पापियोंके घर पैदा किया गया है वह अपने भले बुरे कृत्योंके फलस्वरूप ही ऐसे स्थानमें पैदा किया गया है तो सर्वशक्तिमान् दयालु परमेश्वरको प्रबन्धकर्ता माननेकी

अवस्थामें यह बात ठीक नहीं बैठती; क्योंकि शराबी शराब पीकर और उसका बुरा फल भोगकर भी यदि शराबकी दुकानपर जाता है और पहलेसे भी तेज शराब माँगता है तो वस्तु स्वभावके अनुसार तो यह बात ठीक बैठ जाती है कि शराबने उसका दिमाग ऐसा खराब कर दिया है जिससे अब उसको पहलेसे भी ज्यादा तेज शराब पीनेकी इच्छा होती है। परन्तु जगतके प्रबन्धकर्ताके द्वारा ही फल मिलनेकी अवस्थामें तो शराब पीनेका ऐसा दंड मिलना चाहिये था जिससे वह शराबकी दुकानतक पहुँच ही नहीं सकता या फिर कभी उसका नाम ही नहीं लेता। इसी तरह व्यभिचार और चोरी आदिकी भी ऐसी सजा मिलनी चाहिये थी, जिससे वह कभी भी व्यभिचार या चोरी करने नहीं पाता। जो जीव चोरों या वेश्याओंके घर पैदा किये जाते हैं उन्हें ऐसी जगह पैदा करना तो चोरी और व्यभिचारकी शिक्षा दिलानेका ही प्रयत्न करना है। सर्वशक्तिमान् दयालु परमेश्वरसे तो ऐसी आशा कभी भी नहीं की जा सकती।

ऐसी बातें देखकर यही मानना पड़ता है कि संसारका कोई भी एक बुद्धिमान् प्रबन्धकर्ता नहीं है। बल्कि वस्तु स्वभावके द्वारा और उसीके अनुसार ही जगतका सब प्रबन्ध चल रहा है। खेद है कि मनुष्योंने वस्तु स्वभावको न समझकर संसारका एक प्रबन्धकर्ता मान लिया है। पृथ्वीपर राजाको मनुष्योंके बीचमें प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य करता हुआ देखकर सारे संसारके प्रबन्धकर्ताको भी वैसा ही मान लिया है। जिस प्रकार राजा लोग खुशामद और स्तुतिसे प्रसन्न होकर खुशामद करनेवालोंके वशमें हो जाते हैं और उनकी इच्छाके अनुसार ही कार्य करने लग जाते हैं उसीप्रकार दुनियाके लोगोंने भी संसारके प्रबन्धकर्ताको खुशामद या स्तुतिसे प्रसन्न होनेवाला मानकर

उसकी भी खुशामद करना शुरू कर दिया है और अपने आचरणोंको सुधारना छोड़ बैठे हैं। इसी वजहसे संसारमे पापोंकी वृद्धि होती जाती है। जब मनुष्य इस भ्रामक विचारको हृदयसे दूर करके वस्तुस्वभावके अटल सिद्धान्तको मानने लग जायेंगे, तभी उनके चित्तमें यह विचार जड़ पकड़ सकता है कि जिस प्रकार आँखोंमें मिर्च और घावपर नमक डाल देनेसे दर्दका होना आवश्यक है वह दर्द किसीकी खुशामद या स्तुतिसे दूर नहीं हो सकता, जबतक कि मिर्च या नमकका असर दूर न कर दिया जाये। उस ही प्रकार जैसा हमारा आचरण होगा वैसा ही उसका फल भी हमें अवश्य भोगना पड़ेगा। किसीकी खुशामद या स्तुतिसे उसे टाला नहीं जा सकता। 'जैसी करनी वैसी भरनी' के सिद्धान्त-पर पूर्ण विश्वास हो जानेपर ही यह मनुष्य बुरे कृत्योंसे बच सकता है और भले कृत्योंकी तरफ लग सकता है। परन्तु जब तक मनुष्यको यह ख्याल बना रहेगा कि खुशामद करने केवल स्तुतियाँ पढ़ने या भेंट चढ़ाने आदिके द्वारा भी मेरे अपराध क्षमा हो सकते हैं तबतक वह बुरे कामोंसे नहीं बच सकता और न अच्छे कामोंकी तरफ लग सकता है। अतः संसारके लोगोंको चाहिये कि वे वस्तुस्वभावके अटल सिद्धान्तपर विश्वास लावें, अपने अपने भले बुरे कृत्योंका फल भुगतनेके लिये सदा तैयार रहें और किसीकी खुशामद या स्तुति करनेसे उनका फल टल जाना बिल्कुल ही असंभव समझें। ऐसा मान लेनेपर ही मनुष्योंको अपने ऊपर पूरा भरोसा होगा, वे अपने पैरोंपर खड़े होकर अपने आचरणोंको ठीक बनानेका प्रयत्न करेंगे और तभी दुनियासे सब पाप और अन्याय दूर हो सकेंगे। नहीं तो, किसी प्रबन्धकर्ताको माननेकी अवस्थामें हृदयमें अनेक भ्रम उत्पन्न होते रहेंगे और दुनियाके लोग पापोंकी तरफ ही झुकते

रहेंगे। जैसे, कोई एक तो यह सोचेगा कि यदि उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको मुझसे पाप कराना मंजूर नहीं होता तो वह मेरे मनमें पाप करनेका विचार ही क्यों आने देता। दूसरा विचारेगा कि यदि वह मुझसे इस प्रकारके पाप कराना न चाहता तो वह मुझे ऐसा बनाता ही क्यों? तीसरा कहेगा कि यदि वह पापोंको न कराना चाहता तो पापोंको पैदा ही क्यों करता। चौथा सोचेगा कि अब तो यह पाप कर लें फिर उस सर्वशक्तिमानकी खुशामद करके उसे भेंट चढ़ाकर अपराध क्षमा करा लेंगे। सारांश यह है कि संसारका प्रबन्धकर्ता माननेकी अवस्थामें तो लोगोंको पाप करनेके लिये सैकड़ों बहाने बनानेका अवसर मिलता है, परन्तु वस्तु स्वभावके अनुसार ही संसारका सब कार्य चलता हुआ माननेकी अवस्थामें इसके सिवाय कोई विचार ही नहीं उठ सकता कि जैसा करेंगे वैसा ही हम उसका फल भी पावेंगे। ऐसा माननेपर ही हम बुरे आचरणों से बच सकते हैं और अच्छे आचरणोंकी ओर लग सकते हैं। अतः किसी प्रबन्धकर्ताकी खुशामद करके या भेंट चढ़ाकर उसको राजी कर लेनेके भरोसे न रहकर हमको स्वयं अपने आचरणोंको सुधारनेकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये और यही श्रद्धान रखना चाहिये कि यह विश्व अनादि-निधन है इसका कोई एक बुद्धिमान प्रबन्धकर्ता नहीं है।

७—जैनदृष्टिसे ईश्वर

'ईश्वर' शब्दके सुनते ही हमें जिन अर्थोंका बोध होता है वे हैं—ऐश्वर्यशाली, वैभवशाली, सर्वशक्तिमान्, स्वामी, अधिकारी, कर्ता-हर्ता आदि। इस लोकमें जो दर्जा एक स्वतंत्र सम्राटका है वही परलोकमें ईश्वर या परमेश्वरका माना जाता है। जैसे.

किसी राजवंशमें जन्म लेनेवालोंको सम्राट्पद अनायास प्राप्त हो जाता है, इसके लिये उन्हें कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वैसे ही वह ईश्वर भी अनादिकालसे संसारके कारण क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओंसे सर्वथा अछूता है, उनका विनाश कर देनेसे उसे ईश्वरत्वपद प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु सदासे ही उनसे वह सर्वथा रहित है। इसीलिये वह सबसे बड़ा है, सबका गुरु है, सबका ज्ञाता है। जो संसारी जीव क्लेश कर्म आदिको नष्ट करके मुक्त होते हैं, वे कभी भी उसके बराबर नहीं हो सकते। उसका ऐश्वर्य अविनाशी है, क्योंकि कालके द्वारा उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे अनादि-अनन्त पुरुषविशेषको ईश्वर कहते हैं। किन्तु जैनधर्ममें इस प्रकारके ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है। उसका कहना है—

'नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥८॥' आप्तप०।

कोई सर्वद्रष्टा सदासे कर्मोंसे अछूता हो नहीं सकता; क्योंकि बिना उपायके उसका सिद्ध होना किसी भी तरह नहीं बनता।

असलमें ईश्वरको अनादि माननेके कारण उसे सदा कर्मोंसे अछूता माना गया है और चूँकि वह सृष्टिका रचयिता है इसलिये उसे अनादि माना गया है। किन्तु जैनधर्म किसीको इस विश्वका रचयिता नहीं मानता जैसा कि हम पहले बतला आये हैं। अतः वह किसी एक अनादिसिद्ध परमात्माकी सत्तासे इंकार करता है। उसके यहाँ यदि ईश्वर है तो वह एक नहीं, बल्कि असंख्य हैं। अर्थात् जैनधर्मके अनुसार इतने ईश्वर हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। उनकी संख्या अनन्त है और आगे भी वे

बराबर अनन्तकाल तक होते रहेंगे; क्योंकि जैनसिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक आत्मा अपनी स्वतंत्र सत्ताको लिये हुए मुक्त हो सकता है। आज तक ऐसे अनन्त आत्मा मुक्त हो चुके हैं और आगे भी होंगे। ये मुक्त जीव ही जैनधर्मके ईश्वर हैं। इन्हींमें से कुछ मुक्तात्माओंको, जिन्होंने मुक्त होनेसे पहले संसारको मुक्तिका मार्ग बतलाया था, जैनधर्म तीर्थङ्कर मानता है।

जैनधर्मका मन्तव्य है कि अनादिकालसे कर्मबन्धनसे लिप्त होनेके कारण जीव अल्पज्ञ हो रहा है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके द्वारा उसके स्वाभाविक ज्ञान आदि सद्गुण ढँके हुए हैं। इन आवरणोंके दूर होनेपर यह जीव अनन्त ज्ञान आदिका अधिकारी होता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। जो जो महापुरुष कर्मबन्धनको काटकर मुक्त हुए हैं, वे सब सर्वज्ञ हैं। कर्म जीवके स्वाभाविक गुणोंका पूर्ण विकास नहीं होने देता। उसके दूर होनेपर प्रत्येक जीव अपनी अपनी स्वाभाविक शक्तियोंको प्राप्त कर लेता है। मतलब यह है कि जीवोंका कर्मबन्धन तथा जीवोंका मर्यादित किन्तु हीनाधिक ज्ञान इस बातको बतलाता है कि जीवोंकी मुक्ति तथा उनकी सर्वज्ञता असंभव वस्तु नहीं है। तथा जो जो सर्वज्ञ होता है वह कर्मबन्धनको काटकर ही सर्वज्ञ होता है, उसके बिना कोई सर्वज्ञ हो नहीं सकता। इसलिये अनादि सिद्ध कोई नहीं है।

कर्मबन्धनका विशेष वर्णन आगे कर्मसिद्धान्तमें किया गया है। चार घातिकर्मोंका नाश करके यह जीव सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञका दूसरा नाम केवली भी है। क्योंकि उसका ज्ञान और दर्शन आत्माके सिवा किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं करता, अतः वह केवली कहा जाता है। उसे जीवन्मुक्त भी कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि अभी वह सशरीर है, किन्तु घातिकर्मोंके नष्ट

हो जानेके कारण मुक्तात्माके ही समान है। वह चार घातिया-कर्मोंका नाश कर देता है इसलिये उसे 'अरिहंत' भी कहते हैं, उसे ही 'जिन' कहते हैं, क्योंकि वह कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेता है। ये केवली जिन दो प्रकारके होते हैं—एक सामान्य केवली और दूसरे तीर्थंकर केवली। सामान्य केवली अपनी ही मुक्तिकी साधना करते हैं, किन्तु तीर्थंकर केवली अपनी मुक्तिकी साधनाके बाद संसारी जीवोंको भी मुक्तिका—समस्त दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताते हैं। इनके उपदेशसे संसारके अनेक जीव तर जाते हैं इसलिये वे तीर्थ-स्वरूप गिने जाते हैं।

जैसे ब्राह्मणधर्ममें रामचन्द्रजी आदिको अवतार रूप माना जाता है या बौद्धधर्ममें बुद्धकी मान्यता है वैसे ही जैनधर्ममें तीर्थंकरोंकी मान्यता है। किन्तु ये तीर्थंकर किसी परमात्माका अवताररूप नहीं होते, बल्कि संसारी जीवोंमेंसे ही कोई जीव प्रयत्न करते करते लोककल्याणकी भावनासे तीर्थंकरपद प्राप्त करता है। जब कोई तीर्थंकरपद प्राप्त करनेवाला जीव माताके गर्भमें आता है तब तीर्थंकरकी माताको सोलह शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं। तीर्थंकरोंके गर्भावतरण, जन्माभिषेक, जिनदीक्षा, केवलज्ञानप्राप्ति और निर्वाणप्राप्ति ये पञ्च महा-कल्याणक होते हैं, जिनमें इन्द्रादिक भी सम्मिलित होते हैं। इस पञ्च महाकल्याणक रूप पूजाके कारण तीर्थंकरको 'अर्हत्'[1] भी कहा जाता है।

---

१. सम्भवतः इस 'अर्हत' नाम परसे ही हिन्दू पुराणकारोंने यह कल्पना कर डाली है कि किसी 'अर्हत' नामके राजाने जैनधर्मकी स्थापनाकी थी। अर्हत् किसीका नाम नहीं है बल्कि जैन तीर्थंकरोंका एक पद है। इस पदको प्राप्त कर लेनेपर ही वे जीवन्मुक्त होकर संसारको कल्याणका

तीर्थङ्कर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त-वीर्यके धारी होते हैं। वे साक्षात् भगवान् या ईश्वर होते हैं। जैन साहित्यमें इनके ऐश्वर्यका बहुत वर्णन मिलता है। ये जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञानके धारी होते हैं। जन्मसे ही इनका शरीर अपूर्व कान्तिमान् होता है। इनके निश्वासमें अपूर्व सुगन्धि रहती है। इनके शरीरका रक्त और माँस सफेद होता है। केवलज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् अर्थात् अर्हत् पद प्राप्त कर लेनेपर इनका उपदेश सुननेके लिये पशु-पक्षी तक इनकी सभामें उपस्थित होते हैं। इस सभाको 'समवशरण' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है 'समानरूपसे सबका शरणभूत' अर्थात् जिसकी शरणमें सब आते हैं। इस सभामें बारह प्रकोष्ठ होते हैं, जिनमें एक प्रकोष्ठ पशुओंके लिये भी होता है। तीर्थङ्करकी वाणीको पशु भी समझ लेते हैं। जहाँ जहाँ इनका विहार होता है वहाँ वहाँ रोग, वैर, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, आदि रह नहीं सकते। तीर्थङ्कर भगवानके पधारनेके साथ ही देशमें सर्वत्र शान्ति छा जाती है। कैवल्य लाभ करनेके पश्चात् ये अपना शेष जीवन संसारके प्राणियोंका उद्धार करनेमें ही व्यतीत करते हैं। इसीसे जैनोंके परम पवित्र पञ्च नमस्कार मंत्रमें अरिहंतको प्रथम स्थान दिया गया है—

णमो अरिहंताणं—अर्हन्तोंको नमस्कार हो।

जब इन अर्हन्तोंकी आयु थोड़ी शेष रह जाती है तब ये योगका निरोध करके बाकी बचे चार अघातिया कर्मोंको भी नष्ट कर देते हैं। चारों अघातिया कर्मोंका भी नाश होनेपर इन्हें

मार्ग बतलाते हैं, वही मार्ग उनके 'जिन' नाम परसे जैनधर्म कहा जाता है।

मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इनका शरीर यहीं छूट जाता है और अपने स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंसे युक्त केवल शुद्ध आत्मा रह जाता है, जो मुक्त होनेके पश्चात् स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनके द्वारा लोकके ऊपर अग्रभागमें जाकर ठहर जाता है। मुक्त होनेके पश्चात् सामान्य केवली और तीर्थङ्कर केवलीमें कोई अन्तर नहीं रहता, दोनोंको एक ही प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है। यद्यपि संसारमें सामान्य केवलीको अपेक्षा तीर्थङ्कर केवली अधिक पूजनीय माने जाते हैं; क्योंकि तीर्थङ्कर केवलीसे संसारको बहुत लाभ पहुँचता है, किन्तु मुक्त होनेपर दोनोंमें इस तरहका कोई अन्तर नहीं रहता। संसार अवस्थामें जो कुछ अन्तर था वह तीर्थङ्कर पदके कारण था। मुक्त होनेपर इस पदसे भी मुक्ति मिल जाती है, अतः मुक्तिमें सामान्यकेवली और तीर्थङ्कर केवलीमें कोई भेद नहीं रहता। दोनों मुक्त कहे जाते हैं। मुक्तोंको जैन सिद्धान्तमें 'सिद्ध' भी कहते हैं। यद्यपि अर्हन्तोंसे सिद्धोंका पद ऊँचा है; क्योंकि अर्हन्त कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त नहीं होते और सिद्ध उससे सर्वथा मुक्त होते हैं तथापि सिद्धोंको अर्हन्तोंके बाद नमस्कार किया गया है। यथा—

णमो सिद्धाणं—सिद्धोंको नमस्कार हो।

इस प्रकार जैनदृष्टिसे अर्हन्तपद और सिद्धपदको प्राप्त हुए जीव ही ईश्वर कहे जाते हैं। प्रत्येक जीवमें इस प्रकारके ईश्वर होनेकी शक्ति है। परन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनके कारण वह शक्ति ढकी हुई है। जो जीव इस कर्मबन्धनको तोड़ डालता है उसके ही ईश्वर होनेकी शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं और वह ईश्वर बन जाता है। इस तरह ईश्वर किसी एक पुरुष विशेषका नाम नहीं है। किन्तु अनादिकालसे जो अनन्त जीव अर्हन्त

और सिद्धपदको प्राप्त हो गये हैं और आगे होंगे उन्हींका नाम ईश्वर है।

जैनधर्मके ये ईश्वर संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। न सृष्टिके संचालनमें उनका हाथ है न वे किसीका भला-बुरा करते हैं। न वे किसीके स्तुतिवादसे कभी प्रसन्न होते हैं और न किसीके निन्दावादसे अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य या वैभवके नामसे पुकार सकें। न वे किसीको उसके अपराधोंका दण्ड देते हैं। जैन सिद्धान्तके अनुसार सृष्टि स्वयंसिद्ध है। जीव अपने अपने कर्मोंके अनुसार स्वयं ही सुख दुःख पाते हैं। ऐसी अवस्थामें मुक्तात्माओं और अर्हन्तोंको इन सब झंझटोंमें पड़नेकी आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

सारांश यह है कि जैनधर्ममें ईश्वररूपमें माने हुए अर्हन्तों और मुक्तात्माओंका उस ईश्वरत्वसे कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे अन्य लोग संसारके कर्ता हर्ता ईश्वरमें कल्पना किया करते हैं। उस ईश्वरत्वकी तो जैनदर्शनके विविध ग्रन्थोंमें बड़े जोरोंके साथ आलोचना की गई है। और उस दृष्टिसे जैनधर्मको अनीश्वरवादी कहा जा सकता है। उसमें इस तरहके ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है।

८—उसकी उपासना

क्यों और कैसे ?

जैनोंमें मूर्तिपूजाका प्रचलन बहुत प्राचीन है। सम्राट् खारवेलके शिलालेखमें कलिङ्गपर चढ़ाई करके नन्दद्वारा अपहृत

(श्रीऋषभदेव) की मूर्तिको ले जानेका और मगधपर चढ़ाई करके खारवेलके द्वारा उसे प्रत्यावर्तन करके लानेका उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध है कि आजसे लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व राजघरानोंतकमें जैनोंके प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवकी मूर्तिकी पूजा होती थी। स्वामी दयानन्द तो जैनोंसे ही मूर्तिपूजाका प्रचलन हुआ मानते हैं। यों तो भारतके प्रायः सभी प्राचीन धर्मोंमें मूर्तिपूजा प्रचलित है, किन्तु जैनमूर्तिके स्वरूप, उसकी पूजाविधि तथा उसके उद्देश्यमें अन्यधर्मोंसे बहुत अन्तर है। जो उसे समझ लेगा वह मूर्तिपूजाको व्यर्थ कहनेका साहस नहीं कर सकता।

जैनधर्ममें पाँच पद बहुत प्रतिष्ठित माने गये हैं—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन्हें पंच परमेष्ठी कहते हैं। जैनोंके परमपवित्र पंचनमस्कार मंत्रमें इन्हीं पंचपदोंको नमस्कार किया गया है। ये ही पाँच पद जैनधर्ममें वंदनीय हैं और पूजनीय हैं।

जो चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप स्वचतुष्टयको प्राप्त कर लेते हैं, उन परम औदारिक शरीरमें स्थित शुद्ध आत्माको अर्हन्त कहते हैं, जिनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। वे जीवन्मुक्त होते हैं। जो आठों कर्मोंसे और शरीरसे भी रहित हो जाते हैं, लोकालोकके जानने और देखनेवाले, सिद्धालयमें विराजमान उस पुरुषाकार आत्माको सिद्ध कहते हैं। और यह मुक्त होते हैं। जो साधु साधुसंघके प्रधान होते हैं, पाँच प्रकारके आचारका स्वयं भी पालन करते हैं और अपने संघके अन्य साधुओंसे भी पालन कराते हैं, वे आचार्य कहे जाते हैं। जो साधु समस्त शास्त्रोंके पारगामी होते हैं, अन्य साधुओंको पढ़ाते

हैं तथा सदा धर्मका उपदेश करनेमें लगे रहते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जो विषयोंकी आशाके फन्देसे निकलकर सदा ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन रहते हैं, जिनके पास न किसी प्रकारकी परिग्रह होती है और न कोई ठगविद्या, मोक्षका साधन करनेवाले उन शान्त, निस्पृही और जितेन्द्रिय मुनिको साधु कहते हैं।

इन पाँच परमेष्ठियोंमेंसे अर्हन्त परमेष्ठीकी मूर्ति जैन मन्दिरोंमें बहुतायतसे विराजमान रहती है। यद्यपि ये मूर्तियाँ जैनोंके २४ तीर्थङ्करोंमेंसे किसी न किसी तीर्थङ्करकी ही होती हैं, किन्तु होती अर्हन्त अवस्थाकी ही हैं, क्योंकि तीर्थङ्कर पदका वास्तविक कार्य धर्मतीर्थ प्रवर्तन है, जो अर्हन्त अवस्थामें ही होता है। तीर्थङ्कर भी अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त किये बिना पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ नहीं होते और बिना वीतरागता और सर्वज्ञताके धर्मतीर्थका प्रवर्तन नहीं हो सकता। अतः धर्मतीर्थके प्रवर्तक जैन तीर्थङ्करोंकी मूर्तियाँ जैन मन्दिरोंमें बहुतायतसे पाई जाती हैं। ये मूर्तियाँ पद्मासन भी होती हैं और खड्गासन भी होती हैं, किन्तु होती सभी ध्यानस्थ हैं। एक आत्मध्यानमें लीन योगीकी जैसी आकृति होती है वैसी ही आकृति उन मूर्तियोंकी होती है।

भगवद्गीतामें योगाभ्यासीका चित्रण करते हुए लिखा है—

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

प्रशान्तात्मा विगतभी ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥' अ० ६।

भावार्थ—शरीर, सिर और गर्दनको सीधा रखकर, निश्चल

हो, इधर उधर न देखते हुए, स्थिर मनसे अपनी नाकके अग्र-भागपर दृष्टि रखकर प्रशान्त आत्मा, निर्भय हो, ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित होकर तथा मनको वशमें करके मेरेमें मनको लगा।

जैनमूर्तिकी भी बिल्कुल ऐसी ही मुद्रा होती है। उसकी दृष्टि नाकके अग्रभागपर रहती है। शरीर, सिर और गर्दन एक सीधमें रहते हैं। पद्मासनमें बाईं हथेलीके ऊपर दाईं हथेली खुली होती है और खड्गासनमें दोनों हाथ जानुतक लटके रहते हैं। चेहरेपर शान्ति, निर्भयता और निर्विकारता खेलती रहती है। शरीरपर विकारको ढाकनेके लिये न कोई आवरण होता है और न सौंदर्यको चमकानेके लिये कोई आभरण रहता है। न हाथमें कोई अस्त्र शस्त्र ही होता है। भगवत्गीतामें कही हुई जिस योगमुद्रासे योगी निर्वाण लाभ करते हैं, वही मुद्रा जैनमूर्तिमें अंकित रहती है। देखनेवालेको यही प्रतीत होता है कि वह किसी प्रशान्तात्मा योगीकी मूर्तिका दर्शन कर रहा है। न वहाँ राग है और न बैर-विरोध।

सिद्धोंकी भी मूर्ति रहती है, किन्तु चूँकि सिद्ध परमेष्ठी देह-रहित होते हैं, इसलिये पीतलकी चादरके बीचमेंसे मनुष्याकारको काटकर मनुष्याकाररूप खाली स्थान छोड़ दिया जाता है। आचार्य, उपाध्याय और साधुकी भी मूर्तियाँ कहीं कहीं पाई जाती हैं। इनकी मूर्तियोंमें साधुके चिन्ह पीछी और कमण्डलु अंकित रहते हैं। सारांश यह है कि जैनमूर्ति जैनोंके आराध्य पञ्चपरमे-ष्ठियोंकी प्रतिकृतिरूप होती है।

जिनमन्दिरमें जाकर देवदर्शन करना प्रत्येक जैन श्रावक और श्राविकाका नित्य कर्तव्य है। वहाँ वह यह विचारता है कि यह मन्दिर जिन भगवानका समवशरण—उपदेशसभा है, वेदीमें विराजमान जिनकी मूर्ति ही जिनेन्द्रदेव है, और

मन्दिरमें उपस्थित स्त्री पुरुष ही श्रोतागण है। ऐसा विचार करके अच्छी अच्छी स्तुतियाँ पढ़ते हुए जिन भगवानको नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देता है। और यदि पूजन करना होता है तो पूजा भी करता है। पूजामें सबसे पहले जलसे मूर्तियोंका अभिषेक किया जाता है। कहीं कहीं दूध, दही, घी, इक्षुरस और सर्वौषधी रससे भी अभिषेक करनेकी पद्धति है। अभिषेकके पश्चात् पूजन किया जाता है। यह पूजन जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्योंसे किया जाता है। एक एक पद्य बोलते जाते हैं और नम्बरवार एक एक द्रव्य चढ़ाते जाते हैं। द्रव्य चढ़ाते समय द्रव्य चढ़ानेका उद्देश्य बोलकर द्रव्य चढ़ाते हैं। यथा—मैं जन्म, जरा और मृत्युके विनाशके लिये जल चढ़ाता हूँ १। अर्थात् जैसे जलसे गन्दगी दूर हो जाती है वैसे ही मेरे पीछे लगे हुए ये रोग धुलकर दूर हो जावें। मैं संसाररूपी सन्तापको शान्तिके लिये चन्दन चढ़ाता हूँ २। मैं अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्तिके लिये अक्षत चढ़ाता हूँ ३। मैं कामके विकारको दूर करनेके लिये पुष्प चढ़ाता हूँ ४। मैं क्षुधारूपी रोगको दूर करनेके लिये नैवेद्य चढ़ाता हूँ ५। मैं अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिये दीप चढ़ाता हूँ ६। मैं आठों कर्मोंको जलानेके लिये धूप चढ़ाता हूँ ७। यह धूप अग्निमें चढ़ाई जाती है। मैं मोक्षफलकी प्राप्तिके लिये फल चढ़ाता हूँ ८। एक एक करके आठों द्रव्य चढ़ानेके बाद आठों द्रव्योंको मिलाकर चढ़ाया जाता है उसे 'अर्घ्य' कहते हैं। यह भी अनर्घ अर्थात् अमूल्यपदकी प्राप्तिके उद्देश्यसे चढ़ाया जाता है।

इस प्रकार पूजाका उद्देश भी अपने विकारों और विकारोंके कारणोंको दूर करके चरम लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति ही रखा गया है। पूजाके दो भेद किये गये हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा।

शरीर और वचनको पूजनमें लगाना द्रव्य पूजा है और उसमें मनको लगाना भाव पूजा है। शरीरको लगानेके लिये द्रव्य रखे गये हैं, जिससे हाथ वगैरहका उपयोग उनके चढ़ानेमें ही होता रहता है। और वचनको उसमें लगानेके लिये पद्य रखे गये हैं जिन्हें पढ़ पढ़ करके द्रव्य चढ़ाया जाता है। इस तरह मनुष्यका शरीर और वचन पूजनमें लगा रहनेपर भी यदि उसका मन उसमें न रम रहा हो तो वह पूजन बेकार ही है क्योंकि बिना भावके कोई क्रिया फलदायक नहीं होती। जैसा कि कहा भी है—.

'आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबांधव! दुःखपात्रं
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ॥'

'हे जनबन्धु! तुम्हारा उपदेश सुनकर भी, तुम्हारी पूजा करके भी और तुम्हें बारम्बार देखकर भी निश्चयसे मैंने भक्ति-पूर्वक तुम्हें अपने हृदयमें स्थापित नहीं किया। इसीसे मैं दुःखोंका पात्र बना; क्योंकि भावशून्य क्रिया कभी भी फलदायी नहीं होती।'

अतः द्रव्यपूजाके साथ—शारीरिक और वाचनिक पूजाके साथ साथ—भाव पूजाका—मानसिक पूजाका होना आवश्यक है। किन्तु भावपूजा ऊपर कहे गये आठ द्रव्योंके बिना भी हो सकती है। द्रव्य तो मन, वचन और कायको लगानेके लिये एक आलम्बन मात्र है।

इस प्रकार जैनमूर्तिका स्वरूप और उसकी पूजाविधि बतलाकर उसके उद्देश्यपर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

जैनधर्ममें बतलाया है कि दुनियामें प्रत्येक वस्तुका चार

रूपसे व्यवहार होता देखा जाता है—एक नामरूपसे, दूसरे स्थापनारूपसे, तीसरे द्रव्यरूपसे और चौथे भावरूपसे। उदाहरणके लिये हम राजाको लेते हैं। राजा शब्दका व्यवहार चार रूपसे देखा जाता है। एक तो बहुतसे लोग अपने बच्चोंका राजा नाम रख लेते हैं। वे बच्चे नामसे राजा कहलाते हैं। दूसरे, राजाके अभावमें राजकार्य चलानेके लिये किसीको उनका प्रतिनिधि मानकर राजाकी ही तरह उसका आदर सत्कार होता देखा जाता है। जैसे भारतके वायसराय राजाके प्रतिनिधिके रूपमें राजाकी ही तरह माने जाते हैं। यह स्थापनाकी अपेक्षा राजा कहे जाते हैं। अर्थात् वे वास्तवमें राजा नहीं हैं किन्तु स्थानापन्न हैं। तीसरे, जो राजपुत्र आगे राजा होनेवाला है या जो राजा गद्दीसे उतार दिया गया है उन्हें भी राजा साहब कहते हुए देखा जाता है। वे द्रव्यकी अपेक्षा राजा हैं। चौथे, राज्यासन पर विराजमान वास्तविक राजा तो राजा है ही। वह भावकी अपेक्षा राजा है। इसी तरह तीर्थङ्कर भगवानका भी चार रूपसे व्यवहार होता है।

जब कोई तीर्थंकर मोक्ष चला जाता है तो उनकी मूर्तियाँ बनवाकर और उनमें उस तीर्थंकरकी स्थापना करके उसका उसी तरहसे आदर सत्कार आदि किया जाता है जिस तरह वास्तविक तीर्थङ्करका आदर सत्कार होता था। कोई भी पाषाण या धातुकी बनी हुई उन मूर्तियोंको ही तीर्थङ्कर परमात्मा नहीं मानता, किन्तु हमारे तीर्थंकर इसी प्रकारके प्रशान्तात्मा, वीतरागी तथा जितेन्द्रिय योगी होते थे पूजक और दर्शकका यही भाव रहता है। वह मूर्तिके द्वारा मूर्तिमानकी उपासना करता है। मूर्तिको देखते ही उसे मूर्तिमानका स्मरण हो जाता है, और स्मरण आते ही उनके पुनीत जीवनकी एक

झलक उसकी दृष्टिमें घूम जाती है। जो लोग मूर्तिपूजाके विरोधी हैं उन्हें भी हम अपने अपने धर्मग्रन्थोंका आदर सत्कार करते हुए पाते हैं। वास्तवमें वे धर्मग्रन्थ कागज और स्याहीसे बने हुए हैं। किन्तु कागज और स्याहीका कोई आदर नहीं करता, बल्कि उन कागजोंके ऊपर मनुष्यके हाथसे बनाये गये अक्षरोंमें जो उस महापुरुषका ज्ञान अंकित है उसका आदर किया जाता है। अतः जिस प्रकार ईश्वरीय ज्ञानके स्मरणके लिये मनुष्य अपने हाथोंसे कागजपर अक्षरोंकी मूर्तियाँ बनाकर और उनको विनय करता है उसी प्रकार ईश्वरीय रूपको स्मरण करनेके लिये कलाकार मूर्तिकी प्रतिष्ठा करता है। जैसे कागजोंके ऊपर अंकित अक्षरोंके पढ़नेसे ईश्वरीय ज्ञानका बोध होता है वैसे ही मूर्तिके द्वारा ईश्वरीय स्वरूपका बोध होता है। यद्यपि अक्षर भी मूर्ति है और मूर्ति भी मूर्ति है, किन्तु अक्षरोंसे तो पढ़ा लिखा व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है परन्तु मूर्तिको देखकर बेपढ़ा लिखा मनुष्य भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यदि कोई नासमझ मूर्तिसे गलत शिक्षा ले लेता है इसलिये मूर्ति बेकार है तो कोई कोई नासमझ धर्मग्रन्थोंको भी गलत समझ लेते हैं, किन्तु इसीसे उन्हें व्यर्थ तो नहीं माना जा सकता। जैसे कागजोंपर अंकित देश विदेशके नकशोंपर अंगुलि रखकर शिक्षक विद्यार्थियोंको बतलाता है कि यह रूस है, यह हिन्दुस्थान है, यह अमेरिका है आदि। समझदार विद्यार्थी जानते हैं कि जहाँ शिक्षकने अंगुलि रखी है वहाँ रूस, अमेरिका नहीं है किन्तु उस नकशेके द्वारा हमें उनका बोध कराया जा रहा है। वैसे ही हम भी मूर्तिको असली परमेश्वर नहीं मानते, किन्तु उसके द्वारा हमें उस परमेश्वरके स्वरूपको समझनेमें मदद मिलती है। अतः मूर्ति व्यर्थ नहीं है।

यहाँ हम एक जैन स्तुतिका भाव अंकित करते हैं, जिसमें मूर्तिपूजाके उद्देश्यपर तथा पूजककी भावनापर प्रकाश पड़ता है—

सब पदार्थोंके ज्ञाता होते हुए भी अपने आत्मिक आनन्दमें मग्न वे जिनेन्द्र सदा जयवंत हों जो चारों घातिया कर्मोंसे रहित हो चुके हैं।

हे वीतराग, विज्ञानके भण्डार! तुम्हारी जय हो। हे मोह रूपी अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्य! तुम्हारी जय हो। हे अनन्तानन्तज्ञानके धारक तथा अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यसे सुशोभित! तुम्हारी जय हो। भव्य जीवोंको स्वानुभव करानेमें कारण परमशान्त मुद्राके धारक! तुम्हारी जय हो। हे देव! भव्यजीवोंके भाग्योदयसे आपका दिव्य उपदेश होता है, जिसे सुनकर उनका भ्रम दूर हो जाता है। हे देव! तुम्हारे गुणोंका चिन्तन करनेसे अपने परायेका भेद मालूम हो जाता है। अर्थात् तुम्हारे आत्मिक गुणोंका विचार करनेसे मैं यह जान जाता हूँ कि आत्मा और शरीरमें तथा शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले कुटुम्बी जन धनसम्पत्ति आदिमें कितना अन्तर है; क्योंकि तुम्हारी आत्मामें जो गुण हैं वैसे ही गुण मेरी आत्मामें भी मौजूद हैं मगर मैं उन्हें भूला हुआ हूँ। अतः तुम्हारे गुणोंका चिन्तन करनेसे मुझे अपने गुणोंका भान हो जाता है और उससे मैं 'स्व' और 'पर' को पहचानने लगता हूँ, जिससे मैं अनेक आपदाओंसे—मुसीबतोंसे बच जाता हूँ। हे देव! तुम संसारके भूषण हो; क्योंकि तुम सब दूषणों और संकल्प विकल्पोंसे मुक्त हो। तुम शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमपावन परमात्मा हो। तुमने शुभ और अशुभरूप विभाव परिणतिका अभाव कर दिया है। हे धीर! तुम अठारह दोषोंसे रहित हो और अपने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप स्वचतुष्टयमें विराजमान

हो। मुनि गणपति वगैरह तुम्हारी सेवा करते हैं। तुम नौ केवल लब्धिरूपी आध्यात्मिक लक्ष्मीसे सुशोभित हो। तुम्हारे उपदेशों-पर चलकर अगणित जीवोंने मुक्तिलाभ की है, करते हैं तथा सदा करेंगे। 'यह भवरूपी समुद्र दुःखरूपी खारे पानीसे पूर्ण है, इसे पार करानेमें आपके सिवा और कोई समर्थ नहीं है।' यह देखकर और 'मेरे दुःखरूपी रोगको दूर करनेका इलाज तुम्हारे ही पास है' यह जानकर मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ और चिरकालसे मैंने जो दुःख उठाये हैं उन्हें बतलाता हूँ। मैं अपनेको भूलकर चिरकालसे इस संसारमें भटक रहा हूँ, मैंने विधिके खेल, पुण्य और पापको ही अपना समझा और अपनेको परका कर्ता मानकर तथा परमें इष्ट या अनिष्टकी कल्पना करके अज्ञानवश मैं व्याकुल हुआ हूँ। जैसे मृग मरीचिकाको पानी समझ लेता है वैसे ही मैंने शरीरको ही आत्मा माना और कभी भी आत्मरसका अनुभव नहीं किया।

हे जिनेश! तुमको न जानकर मैंने जो क्लेश उठाये उन्हें तुम जानते हो। पशुगति, नरकगति, देवगति और मनुष्य-गतिमें जन्म ले लेकर मैं अनन्तवार मरा। अब काललब्धिके आ जानेसे—मेरे मुक्तिलाभका काल समीप आ जानेसे तुम्हारे दर्शन पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। मेरा मन शान्त हो गया है। मेरे सब द्वन्द्व फन्द मिट गये हैं और मैंने दुःखोंका नाश करनेवाले आत्मरसका स्वाद चख लिया है। हे नाथ! अब ऐसा करो कि तुम्हारे चरणोंका साथ कभी न छूटे। (और इसके लिये) आत्माका अहित करनेवाले पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें और क्रोधादि कषायोंमें मेरा मन कभी न रमे। मैं अपने आपमें ही मग्न रहूँ। भगवन्! ऐसा करो जिससे मैं स्वाधीन हो जाऊँ। हे ईश! मुझे और कुछ चाह नहीं है, मुझे तो सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चरित्ररूपी रत्नत्रय चाहियें। मेरे कार्यके कारण आप हैं। मेरा मोहरूपी संताप हरकर मेरा कार्य करो। जैसे चन्द्रमा स्वयं ही शान्ति भी देता है और अन्धकारको भी हरता है, वैसे ही कल्याण करना तुम्हारा स्वभाव ही है। जैसे अमृतके पीनेसे रोग चला जाता है वैसे ही तुम्हारा अनुभवन करनेसे संसाररूपी रोग नष्ट हो जाता है। तीनों लोकों और तीनों कालोंमें तुम्हारे सिवा अन्य कोई आत्मिक सुखका दाता नहीं है। आज मेरे मनमें यह निश्चय हो गया है। तुम दुःखोंके समुद्रसे पार उतारनेके लिये जहाजके समान हो'।

इस स्तुतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्ति मनुष्यके चंचल चित्तको लगानेके लिये एक आलम्बन है। उस आलम्बनको पाकर मनुष्यका चंचल चित्त क्षणभरके लिये उन महापुरुषोंके गुणानुवादमें रम जाता है, जो किसी समय हमारी ही तरह संसारमें भटक रहे थे। किन्तु उन्होंने स्वयं अपने पैरोंपर खड़े होकर अपनेको पहचाना और आत्मलाभ करके दुनियाके कल्याण-की भावनासे उस मार्गको बतलाया जिसपर चलकर उन्होंने स्वयं मुक्तिलाभ किया। उनके गुणानुवादका प्रयोजन उन्हें रिझाना या प्रसन्न करना नहीं है। वे तो रागद्वेषकी इस घाटीसे बहुत दूर हैं। न वे किसीकी स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं और न निन्दासे नाराज। किन्तु उनके गुणोंका कीर्तन करनेसे हमें अपने गुणोंका बोध होता है, क्योंकि जो गुण उनमें हैं वही हममें भी हैं, किन्तु हम अपनेको भूले हुए हैं। अतः उनका गुणानुवाद हमें अपनी स्मृति कराकर बुरे कामोंसे बचाता है। जैसा कहा है—

'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥'

—बृहत्स्वयं०।

अर्थ—हे नाथ ! तुम वीतराग हो इसलिये तुम्हें अपनी पूजासे कोई प्रयोजन नहीं है। और चूंकि तुम वीतद्वेष हो इसलिये निन्दासे भी कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी तुम्हारे पुण्य गुणोंकी स्मृति हमारे चित्तको पापरूपी कालिमासे बचाती है।

अतः मूर्तिपूजाका उद्देश्य मूर्तिमें अंकित भावोंको अपनेमें लाकर जिसकी वह मूर्ति है उसके ही समान अपनेको बनाना है। अर्थात् जो जैसा होना चाहता है वह अपने सामने वैसा ही आदर्श रखता है। जैनधर्मका उद्देश्य आत्माको समस्त कर्मबन्धनों-से छुड़ाकर उसके असली स्वरूपकी प्राप्ति कराना है जिसे वह भूला हुआ है। अतः उसका आदर्श वे पुनीत आत्माएँ हैं, जिन्होंने अपनेको वैसा बना लिया है। उन्हीं आदर्शोंकी मूर्तिमें स्थापना करके सच्चा जैन अपनेको वैसा ही बनानेका प्रयत्न करता है।

प्रत्येक जैन मन्दिरमें शास्त्र भंडार भी रहता है, जिसमें जैन शास्त्रोंका संग्रह होता है। जो दर्शन या पूजनके लिये आता है उसे दर्शन या पूजन कर चुकनेके बाद शास्त्रस्वाध्याय भी अवश्य करनी होती है; क्योंकि उन शास्त्रोंको जाने बिना दर्शक या पूजक उन जैन तीर्थङ्करोंके उपदेशों और उनके जीवनवृत्तोंको नहीं जान सकता जिनकी मूर्तिको वह पूजता है। और उनके जाने बिना मूर्तिसे उसे जिस आदर्शकी शिक्षा मिलती है उस आदर्शको वह प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि मूर्ति तो मनुष्यके उस आदर्शकी ओर संकेतमात्र करती है। केवल वही उसे उस आदर्श प्राप्त नहीं करा सकती। जैसे जब बालक वर्णमाला सीखता है तो उसका हाथ साधनेके लिये पट्टीपर पेंसिलसे वर्णमालाके आँकटे लिख दिये जाते हैं। बच्चा उन आंकटोंपर ही अपनी कलम चलाता है।

जबतक उसका हाथ नहीं सधता और वह इस योग्य नहीं हो जाता कि बिना आंवटोंके भी स्वयं अक्षर लिख सके तबतक उसे बराबर आंवटोंका सहारा लेना पड़ता है। किन्तु जब उसका हाथ सध जाता है तब आंवटोंकी जरूरत नहीं रहती और वह बिना किसी सहारेके स्वयं लिखने लग जाता है। उसी तरह मूर्तिके साहाय्यको भी तभी तक जरूरत रहती है जब तक दर्शकका दृष्टिकोण अपने आदर्शकी ओर पूरी तरहसे नहीं होता। जब दर्शक अपने आदर्शकी ओर अग्रसर होकर उसीकी साधनामें लग जाता है, और इस तरह उस पथका साधक बन जाता है तब उसके लिये मूर्तिका दर्शन करना आवश्यक नहीं रहता।

अतः जैनोंकी मूर्तिपूजा उस आदर्शकी पूजा है जो प्राणिमात्रका सर्वोच्च लक्ष्य है। उसके द्वारा पूजकको अपने आदर्शका भान होता है, उसे वह भुला नहीं सकता। प्रतिदिन प्रातःकाल अन्य सब कार्य करनेसे पहले मन्दिरमें जाना इसीलिये अनिवार्य रखा गया है कि मनुष्य अर्थ और कामके पचड़ेमें पड़कर अपने उस सर्वोच्च लक्ष्यको भूल न जाये। तथा जिन महापुरुषोंने उस सर्वोच्च लक्ष्यको प्राप्त कर लिया है उनका गुणानुवाद करके उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सके और शान्ति तथा विरागताके उस दर्पणमें अपनी कलुषित आत्माका प्रतिबिम्ब देखकर उसके परिमार्जन करनेका प्रयत्न कर सके।

ऐसे सर्वोच्च लक्ष्यका भान करानेके लिये निर्मित जैन मन्दिरोंके बारेमें जब हम एक पुरानी उक्ति सुनते हैं—

'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमन्दिरम्।'

अर्थात्—'हाथीके द्वारा मारे जानेपर भी जैन मन्दिरमें नहीं जाना चाहिये।'

तो हमें बड़ा अचरज होता है। तत्कालीन साम्प्रदायिक असो-

वृत्तिके सिवा इसका कोई दूसरा कारण हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। अस्तु

हम पहले लिख आये हैं कि जैनमूर्ति निरावरण और निराभरण होती है। जो लोग सवस्त्र और सालङ्कार मूर्तिकी उपासना करते हैं उन्हें शायद नग्नमूर्ति अश्लील प्रतीत होती है। इस सम्बन्धमें हम अपनी ओरसे कुछ न लिखकर सुप्रसिद्ध साहित्यिक काका कालेलकरके वे उद्गार यहाँ अंकित करते हैं जो उन्होंने श्रमण बेलगोला (मैसूर) में स्थित बाहुबलिकी प्रशान्त किन्तु नग्नमूर्तिको देखकर अपने एक लेखमें व्यक्त किये थे। वे लिखते हैं—

'सांसारिक शिष्टाचारमें आसक्त हम इस मूर्तिको देखते ही मनमें विचार करते हैं कि यह मूर्ति नग्न है। हम मनमें और समाजमें भांति भांतिकी मैली वस्तुओंका संग्रह करते हैं, परन्तु हमें उससे नहीं होती है घृणा और नहीं आती है लज्जा। परन्तु नग्नता देखकर घबराते हैं और नग्नतामें अश्लीलताका अनुभव करते हैं। इसमें सदाचारका द्रोह है और यह लज्जास्पद है। अपनी नग्नताको छिपानेके लिये लोगोंने आत्महत्या भी की है। परन्तु क्या नग्नता वस्तुतः अभद्र है ? वास्तवमें श्रीविहीन है ? ऐसा होता तो प्रकृतिको भी इसकी लज्जा आती। पुष्प नग्न रहते हैं, पशु पक्षी नग्न ही रहते हैं। प्रकृतिके साथ जिन्होंने एकता नहीं खोई है ऐसे बालक भी नग्न ही घूमते हैं। उनको इसकी शरम नहीं आती और

उनकी निर्व्याजताके कारण हमें भी इसमें लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। लज्जाकी बात जाने दें। इसमें किसी प्रकारका अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, विश्री, अरोचक हमें लगा है, ऐसा किसी भी मनुष्यको अनुभव नहीं। इसका कारण क्या ? कारण यही कि नग्नता प्राकृतिक स्थितिके साथ स्वभाव शुदा है। मनुष्यने विकृत ध्यान करके अपने मनके विकारोंको इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उल्टे रास्तेकी ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभावसुन्दर नग्नता उसे सहन नहीं होती। दोष नग्नताका नहीं पर अपने कृत्रिम जीवनका है। बीमार मनुष्यके समक्ष परिपक्व फल, पौष्टिक मेवा और सात्विक आहार भी स्वतंत्रतापूर्वक रख नहीं सकते। यह दोष उन खाद्य पदार्थोंका नहीं पर मनुष्यके मानसिक रोगका है। नग्नता छिपानेमें नग्नताकी लज्जा नहीं, पर इसके मूलमें विकारी पुरुषके प्रति दयाभाव है, रक्षणवृत्ति है। पर जैसे बालकके सामने नराधम भी सौम्य और निर्मल बन जाता है वैसे ही पुण्य-पुरुषोंके सामने, वीतराग विभूतियोंके समक्ष भी वे शान्त हो जाते हैं। जहां भव्यता है, दिव्यता है, वहां भी मनुष्य पराजित होकर विशुद्ध होता है। मूर्तिकार सोचते तो माधवीलताकी एक शाखा जंघाके ऊपरसे ले जाकर कमरपर्यन्त ले जाते। इस प्रकार नग्नता छिपानी अशक्य नहीं थी। पर फिर तो उन्हें सारी फिलोसोफीकी हत्या करनी पड़ती। बालक आपके समक्ष

नग्न खड़े रहते हैं । उस समय वे कात्यायनी व्रत करती हुई मूर्तियोंके समान अपने हाथों द्वारा अपनी नग्नता नहीं छिपाते । उनकी लज्जाहीनता उनकी नग्नताको पवित्र करती है । उनके लिये दूसरा आवरण किस कामका है ?"

"जब मैं (काका सा०) कारकलके पास गोमटेश्वरकी मूर्ति देखने गया, उस समय हम स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अनेक थे । हममेंसे किसीको भी इस मूर्तिका दर्शन करते समय संकोच जैसा कुछ भी मालूम नहीं हुआ । अस्वाभाविक प्रतीत होनेका प्रश्न ही नहीं था । मैंने अनेक नग्न मूर्तियाँ देखी हैं और मन विकारी होनेके बदले उल्टा इन दर्शनोंके कारण ही निर्विकारी होनेका अनुभव करता है । मैंने ऐसी भी मूर्तियाँ तथा चित्र देखे हैं कि जो वस्त्राभूषणसे अच्छादित होनेपर भी केवल विकार प्रेरक और उन्मादक जैसी प्रतीत हुई हैं । केवल एक औपचारिक लंगोट पहननेवाले नग्न साधु अपने समक्ष वैराग्यका वातावरण उपस्थित करते हैं । इसके विपरीत सिरसे पैर पर्यन्त वस्त्राभूषणोंसे लदे हुए व्यक्ति आंखके एक इंगित मात्रसे अथवा अपने नखरेके थोड़ेसे इशारेसे मनुष्यको अस्वस्थ कर देते हैं, नीचे गिरा देते हैं । अतः हमारी नग्नताविषयक दृष्टि और हमारा विकारोंकी ओर झुकाव दोनों बदलने चाहियें । हम विकारोंका पोषण करते जाते हैं और विवेक रखना चाहते हैं ।"

काका साहबके इन उद्गारोंके बाद नग्नताके सम्बन्धमें कुछ कहना शेष नहीं रहता। अतः जैन मूर्तियोंकी नग्नताको लेकर जैन-धर्मके सम्बन्धमें जो अनेक प्रकारके अपवाद फैलाये गये हैं वे सब साम्प्रदायिक प्रद्वेषजन्य गलतफहमीके ही परिणाम हैं। जैन-धर्म वीतरागताका उपासक है। जहाँ विकार है, राग है, द्वेष है, कामुकप्रवृत्ति है, वहीं नग्नताको छिपानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है। निर्विकारके लिये उसकी आवश्यकता नहीं है। इसी भावसे जैन मूर्तियाँ नग्न होती हैं। उनके मुखपर सौम्यता और विरागता रहती है। उनके दर्शनसे विकार भागता है न कि उत्पन्न होता है। अतः जैन मन्दिरोंमें न जानेकी जनश्रुति भी एक मिथ्या प्रवाद है।

जैन मन्दिर शान्ति और भव्यताके प्रतीक होते हैं। उनमें जानेसे मनुष्यका मन पवित्र होता है। निर्विकार मूर्ति, तत्त्व-ज्ञानसे परिपूर्ण प्राचीन शास्त्र और उपयोगी चित्रकारी यही वहाँ-की प्रधान वस्तुएँ हैं, जिनके दर्शन और अध्ययनसे मनुष्यके मनको शान्ति मिलती है।

९—सात तत्त्व

यद्यपि द्रव्य छै हैं तथापि धर्मका सम्बन्ध केवल एक जीव-द्रव्यसे ही है, क्योंकि उसीको दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त करानेके लिये ही धर्मका उपदेश दिया गया है। और दुःखोंका मूलकारण उसी जीवके द्वारा बाँधे गये कर्म हैं, जो कि अजीव और अजीवोंमें भी पौद्गलिक हैं। अतः जब धर्मका लक्ष्य जीवको सब दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना है और दुःखोंका मूलकारण जीवके द्वारा बाँधे गये कर्म ही हैं तो दुःखोंसे छूटनेके लिये निम्न बातोंकी जानकारी आवश्यक है—

१—उस वस्तुका क्या स्वरूप है, जिसको छुटकारा दिलाना है?

२–कर्मका क्या स्वरूप है ? क्योंकि जैसे स्वर्णकारको स्वर्ण और उसमें मिले हुए द्रव्यकी ठीक-ठीक पहचान होना आवश्यक है वैसे ही एक आत्मशोधकको भी आत्मा और उसके साथ मिले हुए परद्रव्यकी पहचान होना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना वह आत्माका शोधन ही नहीं कर सकता।

३–वह अजीव कर्म जीव तक कैसे पहुँचता है ?

४–और पहुँचकर कैसे जीवके साथ बँध जाता है ?

इस प्रकार जीव और कर्मका स्वरूप और कर्मोंका जीवतक आगमन और बन्धनका ज्ञान हो जानेसे संसारके कारणोंका पूरा ज्ञान हो जाता है। अब उससे छुटकारा पानेके लिये कुछ बातें जानना आवश्यक है—

५–नवीन कर्मबन्धको रोकनेका क्या उपाय है ?

६–पुराने बँधे हुए कर्मोंको कैसे नष्ट किया जा सकता है ?

७–इन उपायोंसे जो मुक्ति प्राप्त होगी वह क्या वस्तु है ?

इन सात बातोंका ज्ञान होना प्रत्येक मुमुक्षुके लिये आवश्यक है, इन्हींको सात तत्त्व कहते हैं। पौद्गलिक कर्मोंके संयोगसे ही यह जीव बन्धनमें है और सब प्रकारके कष्ट भोगता है। इस सम्बन्धका अन्त किस प्रकार किया जाये यह एक समस्या है, जिसे प्रत्येक मुमुक्षुको हल करना है। धर्म ही वह विज्ञान है जिसके द्वारा उक्त समस्याको हल किया जा सकता है और उसीके हल करनेके लिये उक्त सात बातें बतलाई गई हैं। ये सात बातें ही ऐसी हैं जिनकी श्रद्धा और ज्ञानपर हमारा योगक्षेम निर्भर है। इसीलिये इन्हें तत्त्वसंज्ञा दी गई है। तत्त्व यानी सारभूत पदार्थ ये ही हैं। जो व्यक्ति इनको नहीं जानता, सम्भव है वह बहुत ज्ञान रखता हो, किन्तु यथार्थमें उपयोगी बातोंका ज्ञान उसे नहीं है।

उक्त सात तत्त्वोंका नाम है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें से जीव और अजीव दो मूलभूत तत्त्व हैं, जिनसे यह विश्व निर्मित है। इन दोनों तत्त्वोंका वर्णन पहले कर आये हैं। तीसरा तत्त्व आस्रव है, जो जीवमें कर्ममलके आनेको सूचित करता है। वास्तवमें जीव और कर्मोंका बन्ध तभी सम्भव है जब जीवमें कर्म-पुद्गलोंका आगमन हो। अतः कर्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं। वह द्वार, जिसके द्वारा जीवमें सर्वदा कर्मपुद्गलोंका आगमन होता है, जीवकी ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। वह शक्ति शरीरधारी जीवोंकी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाओंका सहारा पाकर जीवकी ओर कर्मपुद्गलोंको आकृष्ट करती है। अर्थात् हम मनके द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचनके द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीरके द्वारा जो कुछ हलनचलन करते हैं वह सब हमारी ओर कर्मोंके आनेमें कारण होता है। इसीलिये तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहते हैं और वह योग ही आस्रवका कारण होनेसे आस्रव कहा जाता है। अतः आस्रव तत्त्व यह बतलाता है कि जीवमें कर्मपुद्गलोंका आगमन किस प्रकारसे होता है?

चौथा बन्धतत्त्व है। जीव और कर्मके परस्परमें मिल जानेको बन्ध कहते हैं। यह बन्ध यद्यपि संयोगपूर्वक होता है किन्तु संयोगसे एक जुदी वस्तु है। संयोग तो मेज और उसपर रक्खी हुई पुस्तकका भी है, किन्तु उसे बन्ध नहीं कह सकते। बन्ध तो एक ऐसा मिश्रण (मिलाव) है जिसमें रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। उसमें मिलनेवाली दो वस्तुएँ अपनी असली हालतको छोड़कर एक तीसरी हालतमें

हो जाती हैं। जैसे दूध और पानीको आपसमें मिला दिये जानेपर न दूध अपनी असली हालतमें रहता है और न पानी अपनी असली हालतमें रहता है, किन्तु दूधमें पनीलापन आ जाता है और पानी दूधका सा हो जाता है। दोनों दोनोंपर प्रभाव डालते हैं। इसी तरह जीव और कर्मका परस्परमें सम्बन्ध हो जाने पर न जीव ही अपनी असली हालतमें रहता है और न कर्मपुद्गल ही अपनी असली हालतमें रहते हैं। दोनों दोनोंसे प्रभावित होते हैं। यही बन्ध है। इसका विशेष विवेचन आगे कर्मसिद्धान्तमें किया गया है। आस्रव और बन्ध ये दोनों संसारके कारण हैं।

पाँचवा तत्त्व संवर है। आस्रवके रोकनेको संवर कहते हैं। अर्थात् नये कर्मोंका जीवमें न आना ही संवर है। यदि नये कर्मोंके आगमनको न रोका जाये तो जीवको कभी भी कर्म-बन्धनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः संवर पाँचवा तत्त्व है। छठा तत्त्व निर्जरा है। बँधे हुए कर्मोंके थोड़ा थोड़ा करके जीवसे अलग होनेको निर्जरा कहते हैं। यद्यपि जैसे जीवमें प्रतिसमय नये कर्मोंका आस्रव और बन्ध होता है वैसे ही प्रतिसमय पहले बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा भी होती रहती है, क्योंकि जो कर्म अपना फल दे चुकते हैं वे झड़ते जाते हैं। किन्तु उस निर्जरासे कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता; क्योंकि प्रतिसमय नये कर्मोंका बन्ध होता ही रहता है, अतः संवरपूर्वक जो निर्जरा होती है, अर्थात् एक ओर तो नये कर्मोंके आगमनको रोक दिया जाता है और दूसरी ओर पहले बँधे हुए कर्मोंको जीवसे धीरे धीरे जुदा कर दिया जाता है तभी मोक्षकी प्राप्ति होती है जो कि सातवाँ तत्त्व है। समस्त कर्मबन्धनोंसे जीवके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष का

मुक्ति शब्दका अर्थ ही छुटकारा है। जब जीव सब कर्मबन्धनोंसे छूट जाता है तो उसे मुक्तजीव कहते हैं।

इस प्रकार उक्त सात तत्त्वोंमेंसे जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं, उनके मेलसे ही संसारकी सृष्टि होती है। संसारके मूल कारण आस्रव और बन्ध हैं और संसारसे मुक्त होनेके कारण संवर और निर्जरा हैं। संवर और निर्जराके द्वारा जीवको जो पद प्राप्त होता है वह मोक्ष है, जो कि प्रत्येक जीवका चरम लक्ष्य है। उसीकी प्राप्तिके लिये उसका प्रयत्न चालू रहता है, जिसे हम धर्मके नामसे पुकारते हैं। अतः जो जीव अपने उस चरम लक्ष्यको प्राप्त करना चाहता है उसे उक्त सात तत्त्वोंका ज्ञान होना आवश्यक है।

१०—कर्मसिद्धान्त

कर्मका स्वरूप

प्राणी जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। मोटे तौरसे यही कर्मसिद्धान्तका अभिप्राय है। इस सिद्धान्तको जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं, किन्तु अनात्मवादी बौद्ध-दर्शन भी मानता है। इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वर-वादी भी इसमें प्रायः एकमत हैं। किन्तु इस सिद्धान्तमें ऐकमत्य होते हुए भी कर्मके स्वरूप और उसके फल देनेके सम्बन्धमें दोनोंमें मौलिक मतभेद है। साधारण तौरसे जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे—खाना, पीना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, सोचना वगैरह। परलोकको माननेवाले दार्शनिकोंका मत है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या

बुरा कर्म अपना संस्कार छोड़ जाता है, क्योंकि हमारे प्रत्येक कर्म या प्रवृत्तिके मूलमें राग और द्वेष रहते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका संस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है। संस्कारसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसे संस्कारकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसीका नाम संसार है। यह संस्कार ही धर्म, अधर्म, कर्माशय आदि नामोंमें पुकारा जाता है। किन्तु जैनदर्शनके मतानुसार कर्मका स्वरूप किसी अंशमें इससे भिन्न है। जैनदर्शनमें कर्म केवल एक संस्कारमात्र ही नहीं है किन्तु एक वस्तुभूत पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीवकी क्रियासे आकृष्ट होकर जीवके साथ मिल जाता है। यद्यपि वह पदार्थ भौतिक है तथापि जीवके कर्म अर्थात् क्रियाके द्वारा आकृष्ट होकर वह जीवसे बँधता है इसलिये उसे कर्म कहते हैं। आशय यह है कि जहाँ अन्य धर्म राग और द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक क्रियाको कर्म कहते हैं और उस कर्मके क्षणिक होनेपर भी उसके संस्कारको स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शनका कहना है कि राग द्वेषसे युक्त जीवकी प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाके साथ एक द्रव्य जीवमें आता है जो उसके राग-द्वेषरूप भावोंका निमित्त पाकर जीवसे बँध जाता है, और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है। इसका खुलासा यह है कि पुद्गलद्रव्य २३ तरहकी वर्गणाओंमें बँटा हुआ है। उन वर्गणाओंमेंसे एक कार्मण वर्गणा भी है, जो सब संसारमें व्याप्त है। जीवके कार्योंके निमित्तसे यह कार्मणवर्गणा ही कर्मरूप हो जाती है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—

'परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥९५॥'

—प्रवचन०

'जब राग द्वेषसे युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरण आदि रूपसे उसमें प्रवेश करता है।'

इस प्रकार कर्म एक मूर्त पदार्थ है जो जीवके साथ बँध जाता है।

जीव अमूर्तिक है और कर्म मूर्तिक। अतः उन दोनोंका बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि मूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध हो सकता है। किन्तु अमूर्तिकके साथ मूर्तिकका बन्ध कैसे हो सकता है? ऐसी आशंका की जा सकती है, उसका समाधान इस प्रकार है—अन्य दर्शनोंकी तरह जैनदर्शन भी जीव और कर्मके सम्बन्धको अनादि मानता है। किसी समय जीव सर्वथा शुद्ध था, बादको उसके साथ कर्मोंका सम्बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक विवाद उठ खड़े होते हैं। सबसे पहला विवाद तो यह है कि सर्वथा शुद्ध जीवके कर्मबन्ध हुआ तो कैसे हुआ? और यदि सर्वथा शुद्ध जीव भी कर्मोंके बन्धनमें पड़ सकता है तो उससे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना ही व्यर्थ हो जाता है। अतः जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है, जैसा कि पञ्चास्तिकायनामक ग्रन्थमें आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥'

अर्थ—जो जीव संसारमें स्थित है अर्थात् जन्म और मरणके चक्रमें पड़ा हुआ है, उसके रागरूप और द्वेषरूप परिणाम होते हैं। उन परिणामोंसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मोंसे गतियोंमें जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेनेसे शरीर मिलता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियोंसे विषयोंको ग्रहण करता है। विषयोंको ग्रहण करनेसे इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेष करता है। इस प्रकार संसाररूपी चक्रमें पड़े हुए जीवके भावोंसे कर्मबन्ध और कर्मबन्धसे राग-द्वेषरूप भाव होते रहते हैं। यह चक्र [1]अभव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि अनन्त है और भव्यजीवकी अपेक्षासे अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि संसारी जीव अनादिकालसे मूर्तिक कर्मोंसे बँधा हुआ है और इसलिये एक तरहसे वह भी मूर्तिक हो रहा है, जैसा कि कहा है—

'वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥ ॥'
—द्रव्यसं०।

अर्थात्—वास्तवमें जीवमें पाँचों रूप, पाँचों रस, दोनों गन्ध और आठों स्पर्श नहीं रहते इसलिये वह अमूर्तिक है, क्योंकि जैनदर्शनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शगुणवाली वस्तुको ही मूर्तिक कहा है। किन्तु कर्मबन्धके कारण व्यवहारमें जीव मूर्तिक है। अतः कथञ्चित् मूर्तिक आत्माके साथ मूर्तिक कर्मद्रव्यका सम्बन्ध होता है।

---

१ जो जीव इस चक्रका अन्त नहीं कर सकते उन्हें अभव्य कहते हैं और जो उसका अंत कर सकते हैं उन्हें भव्य कहते हैं।

सारांश यह है कि कर्मके दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीवसे सम्बद्ध कर्मपुद्गलोंको द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्मके प्रभावसे होनेवाले जीवके राग-द्वेषरूप भावोंको भावकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म भावकर्मका कारण है और भावकर्म द्रव्यकर्मका कारण है। न बिना द्रव्यकर्मके भावकर्म होते हैं और न बिना भावकर्मके द्रव्यकर्म होते हैं।

कर्म अपना फल कैसे देते हैं

ईश्वरको जगतका नियन्ता माननेवाले वैदिकदर्शन जीवको कर्म करनेमें स्वतंत्र किन्तु उसका फल भोगनेमें परतंत्र मानते हैं। उनके मतसे कर्मका फल ईश्वर देता है और वह प्राणियोंके अच्छे या बुरे कर्मके अनुरूप ही अच्छा या बुरा फल देता है। किन्तु जैनदर्शनका कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देते हैं, उसके लिये किसी न्यायाधीशकी आवश्यकता नहीं है। जैसे शराब पीने से नशा होता है और दूध पीनेसे पुष्टि होती है। शराब या दूध पीनेके बाद उसका फल देनेके लिये किसी दूसरे शक्तिमान नियामककी आवश्यकता नहीं होती। उसी तरह जीवकी प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तिके साथ जो कर्मपरमाणु जीवात्माकी ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेषका निमित्त पाकर उस जीवसे बंध जाते हैं, उन कर्म परमाणुओंमें भी शराब और दूधकी तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालनेकी शक्ति रहती है, जो चैतन्यके सम्बन्धसे व्यक्त होकर जीवपर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभावसे मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीवके भाव अच्छे होते हैं तो बंधनेवाले कर्मपरमाणुओंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है और बादको

उनका फल भी अच्छा ही होता है। तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तरमें उसका फल भी बुरा ही होता है।

मानसिक भावों का अचेतन वस्तुके ऊपर कैसे प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावकी वजहसे उस अचेतनका परिपाक कैसे अच्छा या बुरा होता है? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये चिकित्सकोंके भोजन सम्बन्धी नियमोंपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। वैद्यकशास्त्रके अनुसार भोजन करते समय मनमें किसी तरहका क्षोभ नहीं होना चाहिये—भोजन करनेसे आधा घंटा पहलेसे लेकर भोजन करनेके आधा घंटा बाद तक मनमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाला कोई विचार नहीं आना चाहिये। ऐसी दशामें जो भोजन किया जाता है, उसका परिपाक अच्छा होता है और वह विकार नहीं करता। किन्तु इसके विपरीत काम, क्रोध आदि विकारोंके रहते हुए यदि भोजन किया जाता है तो वह भोजन शरीरमें जाकर विकार उत्पन्न करता है। इससे स्पष्ट है कि कर्ताके भावोंका असर अचेतनपर भी पड़ता है और उसके अनुसार ही उसका विपाक होता है। अतः जीवको फल भोगनेमें परतन्त्र माननेकी आवश्यकता नहीं है।

यदि ईश्वरको फलदाता माना जाता है तो जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका घात करता है वहाँ घातकको पापका भागी नहीं होना चाहिये; क्योंकि उस घातकके द्वारा ईश्वर मरनेवालेको दण्ड दिलाता है। जैसे, राजा जिन पुरुषोंके द्वारा अपराधियोंको दण्ड दिलाता है वे पुरुष अपराधी नहीं कहे जाते; क्योंकि वे राजाज्ञाका पालन करते हैं। उसी तरह किसीका घात करनेवाला घातक भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगताता है; क्योंकि ईश्वरने उसके पूर्वकृत कर्मोंकी यही सजा

निबद्ध की होगी तभी तो उसका वध किया गया। यदि कहा जाये कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतंत्र है अतः घातकका कार्य ईश्वर प्रेरित नहीं है, किन्तु घातककी स्वतंत्र इच्छाका परिणाम है। तो इसका उत्तर यह है कि संसार दशामें कोई भी प्राणी वास्तवमें स्वतंत्र नहीं है, सभी अपने अपने कर्मोंसे बँधे हैं और कर्मके अनुसार ही प्राणीकी बुद्धि होती है। शायद कहा जाये कि ऐसी दशामें तो कोई भी व्यक्ति मुक्तिलाभ नहीं कर सकता; क्योंकि जीव कर्मसे बँधा है और कर्मके अनुसार जीवकी बुद्धि होती है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं। अतः अच्छे कर्मके अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्यको सन्मार्गकी ओर ले जाती है और बुरे कर्मके अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्यको कुमार्गकी ओर ले जाती है। सन्मार्गपर चलनेसे मुक्तिलाभ और कुमार्गपर चलनेसे संसार लाभ होता है। अतः बुद्धिके कर्मानुसार होनेसे मुक्तिकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं आती।

इस तरह जब जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र नहीं है तो घातकका घातरूपकर्म उसकी दुर्बुद्धिका ही परिणाम कहा जायेगा। और बुद्धिकी दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत कर्मका फल कही जायेगी। ऐसी स्थितिमें यदि हम कर्मफलदाता ईश्वरको मानते हैं तो उस घातककी दुष्ट बुद्धिका कर्ता ईश्वरको ही कहा जायेगा। इसपर हमारी विचारशक्ति कहती है कि एक विचारशील फलदाताको किसी व्यक्तिके बुरे कर्मका फल ऐसा देना चाहिये जो उसकी सजाके रूपमें हो, न कि उसके द्वारा दूसरोंको सजा दिलवानेके रूपमें हो। किन्तु ईश्वर घातकसे दूसरेका घात कराता है; क्योंकि उसे उस घातकके द्वारा दूसरेको सजा दिलानी है। किन्तु घातकको जिस बुद्धिके कारण वह परका घात करता है उस

बुद्धिको बिगाड़नेवाले कर्मोंका क्या फल मिला ? इस फलके द्वारा तो दूसरेको सजा भोगनी पड़ी। किन्तु यदि ईश्वरको फलदाता न मानकर जीवके कर्मोंमें ही स्वतः फलदानकी शक्ति मान ली जाये तो उक्त समस्या आसानीसे हल हो जाती है; क्योंकि मनुष्यके बुरे कर्म उसकी बुद्धिपर इस प्रकारका संस्कार डाल देते हैं, जिससे वह क्रोधमें आकर दूसरोंका घात कर डालता है और इस तरह उसके बुरे कर्म उसे बुरे मार्गकी ओर ही तबतक लिये चले जाते हैं जबतक वह उधरसे सावधान नहीं होता। अतः ईश्वरको कर्मफलदाता माननेमें इस तरहके अन्य भी अनेक विवाद खड़े होते हैं। जिनमेंसे एक इस प्रकार है—

किसी कर्मका फल हमें तुरन्त मिल जाता है, किसीका कुछ माह बाद मिलता है, किसीका कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसीका जन्मान्तरमें मिलता है। इसका क्या कारण है ? कर्म-फलके भोगमें समयकी विषमता क्यों देखी जाती है ? ईश्वर-वादियोंकी ओरसे इसका ईश्वरेच्छाके सिवाय कोई सन्तोषकारक समाधान नहीं मिलता। किन्तु कर्ममें ही फलदानकी शक्ति माननेवाला कर्मवादी जैनसिद्धान्त उक्त प्रश्नोंका बुद्धिगम्य समाधान करता है जो कि आगे बतलाया गया है। अतः ईश्वरको फलदाता मानना उचित नहीं जँचता।

कर्मके भेद

पहले बतलाया है कि जैनदर्शनमें कर्मसे मतलब जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ जीवकी ओर आकृष्ट होनेवाले कर्मपरमा-णुओंसे है। वे कर्मपरमाणु जीवकी प्रत्येक क्रियाके साथ, जिसे जैनदर्शनमें योगके नामसे कहा गया है, जीवकी ओर आकृष्ट होते हैं और आत्माके राग, द्वेष और मोह आदि भावोंका—

जिन्हें जैनदर्शनमें कषाय कहते हैं, निमित्त पाकर जीवसे बँध जाते हैं। इस तरह कर्मपरमाणुओंको जीवतक लानेका काम जीवकी योगशक्ति करती है और उसके साथ बन्ध करानेका काम कषाय अर्थात् जीवके राग-द्वेषरूप भाव करते हैं। सारांश यह है कि जीवकी योगशक्ति और कषाय ही बन्धका कारण हैं। कषायके नष्ट हो जानेपर योगके रहनेतक जीवमें कर्मपरमाणुओं-का आस्रव-आगमन तो होता है किन्तु कषायके न होनेके कारण वे ठहर नहीं सकते। उदाहरणके लिये, योगको वायुकी, कषायको गोंदकी, जीवको एक दीवारकी और कर्मपरमाणुओंको धूलकी उपमा दी जा सकती है। यदि दीवारपर गोंद लगी हो तो वायुके साथ उड़कर आनेवाली धूल दीवारसे चिपक जाती है, किन्तु यदि दीवार साफ, चिकनी और सूखी होती है तो धूल दीवारपर न चिपककर तुरन्त झड़ पड़ती है। यहाँ धूलका कम या ज्यादा परिमाणमें उड़कर आना वायुके वेगपर निर्भर है। यदि वायु तेज होती है तो धूल भी खूब उड़ती है और यदि वायु धीमी होती है तो धूल भी कम उड़ती है। तथा दीवारपर धूलका थोड़े या अधिक दिनोंतक चिपके रहना उसपर लगी गोंद आदि गीली वस्तुओंकी चिपकाहटकी कमीबेशी पर निर्भर है। यदि दीवारपर पानी पड़ा हो तो उसपर लगी हुई धूल जल्दी झड़ जाती है। यदि किसी पेड़का दूध लगा हो तो कुछ देरमें झड़ती है और यदि कोई गोंद लगी हो तो बहुत दिनोंमें झड़ती है। सारांश यह कि चिपकानेवाली चीजका असर दूर होते ही चिपकनेवाली चीज स्वयं झड़ जाती है। यही बात योग और कषायके सम्बन्ध-में भी जाननी चाहिये। योगशक्ति जिस दर्जेकी होती है आने-वाले कर्मपरमाणुओंकी संख्या भी उसीके अनुसार कमती या बढ़ती होती है। यदि योग उत्कृष्ट होता है तो कर्मपरमाणु भी

अधिक तादादमें जीवकी ओर आते हैं। यदि योग जघन्य होता है तो कर्मपरमाणु भी कम तादादमें जीवकी ओर आते हैं। इसी तरह यदि कषाय तीव्र होती है तो कर्मपरमाणु जीवके साथ बहुत दिनोंतक बँधे रहते हैं और फल भी तीव्र देते हैं। यदि कषाय हल्की होती है तो कर्मपरमाणु जीवके साथ कम समय तक बँधे रहते हैं और फल भी कम देते हैं। यह एक साधारण नियम है किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी हैं।

इस प्रकार योग और कषायसे जीवके साथ कर्मपुद्गलोंका बन्ध होता है। वह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। बन्धको प्राप्त होनेवाले कर्मपरमाणुओंमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है। उनकी संख्याका नियत होना प्रदेशबन्ध है। उनमें कालकी मर्यादाका पड़ना, कि ये अमुक कालतक जीवके साथ बँधे रहेंगे, स्थितिबन्ध है और उनमें फल देनेकी शक्तिका पड़ना अनुभागबन्ध है। कर्मोंमें अनेक प्रकारका स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्याका कमती बढ़ती होना योगपर निर्भर है। तथा उनमें जीवके साथ कम या अधिक कालतक ठहरनेकी शक्तिका पड़ना और तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्तिका पड़ना कषायपर निर्भर है। इस तरह प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते हैं और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं।

इनमेंसे प्रकृतिबन्धके आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण नामका कर्म जीवके ज्ञानगुणको घातता है। इसीकी वजहसे कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेषज्ञानी देखा जाता है। दर्शनावरण कर्म जीवके दर्शनगुणको घातता है। आवरण ढाँकनेवाली वस्तुको कहते हैं, अर्थात् ये दोनों कर्म जीवके ज्ञान

और दर्शनको ढाँकते हैं, उन्हें प्रकट नहीं होने देते। वेदनीय-कर्म—जो सुख और दुःखका वेदन – अनुभवन कराता है। मोह-नीयकर्म—जो जीवको मोहित कर देता है। इसके दो भेद हैं एक जो जीवको सच्चे मार्गका भान नहीं होने देता और दूसरा, जो सच्चे मार्गका भान हो जानेपर भी उसपर चलने नहीं देता। आयुकर्म—जो अमुक समय तक जीवको किसी एक शरीरमें रोके रहता है। इसके छिद जानेपर ही जीवको मृत्यु कही जाती है। नामकर्म–जिसकी वजहसे अच्छे या बुरे शरीर और अंग-उपाङ्ग वगैरहकी रचना होती है। गोत्रकर्म—जिसकी वजहसे जीव ऊँचे कुलका या नीच कुलका कहा जाता है। अन्तरायकर्म–जिसकी वजहसे इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट पैदा हो जाती है। इन आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म कहे जाते हैं, क्योंकि ये चारों जीवके स्वाभाविक गुणोंको घातते हैं। शेष चार कर्म अघाती कहे जाते हैं; क्योंकि वे जीवके गुणोंका घात नहीं करते। इन आठ कर्मोंमेंसे भी ज्ञानावरणके पाँच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामके तिरानवें, गोत्रके दो और अन्तरायके पाँच भेद हैं। इन भेदोंका नाम और उनका काम वगैरह तत्त्वार्थसूत्र-कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है।

घातीकर्मके भी दो भेद हैं—सर्वघाती और देशघाती। जो कर्म जीवके गुणका पूरी तरहसे घात करता है उसे सर्वघाती कहते हैं और जो कर्म उसका एक देशसे घात करता है उसे देशघाती कहते हैं। चार घाती कर्मोंके ४७ भेदोंमेंसे २६ देश-घाती हैं और २१ सर्वघाती हैं। घातिकर्म तो पापकर्म ही कहे जाते हैं किन्तु अघातिकर्मके भेदोंमेंसे कुछ पुण्यकर्म हैं और

कुछ पापकर्म हैं। जैसे मनुष्यके द्वारा खाया हुआ भोजन पाकस्थलीमें जाकर रस, मज्जा, रुधिर आदि रूप हो जाता है, वैसे ही जीवके द्वारा ग्रहण किये गये कर्मपुद्गल ज्ञानावरणादि रूप हो जाते हैं-इन कर्मपुद्गलोंका बँटवारा बंधनेवाले कर्मोंमें तुरन्त हो जाता है।

जीव कब कैसे कर्मोंको बाँधता है और उनका बँटवारा कैसे होता है? स्थिति और अनुभागका क्या नियम है? इत्यादि बातोंका वर्णन जैन कर्मसाहित्यसे जाना जा सकता है।

कर्मोंकी अनेक दशाएँ

जैनसिद्धान्तमें कर्मोंकी १० मुख्य अवस्थाएँ या कर्मोंमें होनेवाली दस मुख्य क्रियाएँ बतलाई हैं जिन्हें 'करण' कहते हैं। उनके नाम-बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना है।

बन्ध—कर्म पुद्गलोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको बन्ध कहते हैं। यह सबसे पहली दशा है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था नहीं हो सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। जब जीवके साथ कर्म पुद्गलोंका बन्ध होता है उनमें जीवके योग और कषायके निमित्तसे चार बातें होती हैं, प्रथम तुरन्त ही उनमें ज्ञानादिकको घातने वगैरहका स्वभाव पड़ जाता है। दूसरे उनमें स्थिति पड़ जाती है कि ये अमुक समय तक जीवके साथ बँधे रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्ति पड़ जाती है, चौथे वे नियत तादादमें ही जीवसे सम्बद्ध होते हैं। जैसा कि पहले बतलाया है।

उत्कर्षण—स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उत्कर्षण कहते हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभागके घटनेको अपकर्षण कहते हैं।

बन्धके बाद बँधे हुए कर्मोंमें ये दोनों क्रियाएँ होती हैं। बुरे कर्मोंका बन्ध करनेके बाद यदि जीव अच्छे कर्म करता है तो उसके पहले बाँधे हुए बुरे कर्मोंकी स्थिति और फलदानशक्ति अच्छे भावोंके प्रभावसे घट जाती है। और अगर बुरे कर्मोंका बन्ध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते हैं और वह और भी अधिक बुरे काम करनेपर उतारू हो जाता है तो बुरे भावोंका असर पाकर पहले बाँधे हुए कर्मोंकी स्थिति और फलदानशक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षणके कारण ही कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देरमें। किसी कर्मका फल तीव्र होता है और किसीका मन्द।

सत्ता—बंधनेके बाद तुरन्त ही कर्म अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद उसका फल मिलता है। इसका कारण यह है कि बंधनेके बाद कर्म सत्तामें रहता है। जैसे शराब पीते ही तुरन्त अपना असर नहीं देती किन्तु कुछ समय बाद अपना असर दिखलाती है। वैसे ही कर्म भी बंधनेके बाद कुछ समयतक सत्तामें रहता है इस कालको जैन परिभाषामें आबाधाकाल कहते हैं। साधारणतया कर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिके अनुसार होता है। जैसे जो शराब जितनी ही अधिक नशीली और टिकाऊ होती है वह उतने ही अधिक दिनोंतक सड़ाकर बनती है, वैसे ही जो कर्म अधिक दिनोंतक ठहरता है उसका आबाधाकाल भी उसी हिसाब से अधिक होता है। एक कोटी कोटी सागरकी स्थितिमें सौ वर्ष अबाधाकाल होता है।

अर्थात् यदि किसी कर्मकी स्थिति एक कोटि कोटि सागर बाँधी हो तो वह कर्म सौ वर्षके बाद फल देना शुरू करता है और तबतक फल देता रहता है जबतक उसकी स्थिति पूरी न हो। किन्तु आयुकर्मका आबाधाकाल उसकी स्थितिपर निर्भर नहीं है इसका खुलासा अन्यग्रन्थोंमें देखना चाहिये। इस प्रकार बँधनेके बाद कर्मके फल न देकर जीवके साथ मौजूद रहने मात्रको सत्ता कहते हैं।

उदय—कर्मके फल देनेको उदय कहते हैं। यह उदय दो तरहका होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है तो वह फलोदय कहा जाता है। और जब कर्म विना फल दिये ही नष्ट हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

उदीरणा—जैसे, आमोंके मौसममें आम बेचनेवाले आमोंको जल्दी पकानेके लिये पेड़से तोड़कर भूसे वगैरहमें दबा देते हैं, जिससे वे आम वृक्षकी अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। इसी तरह कभी कभी नियत समयसे पहले कर्मका विपाक हो जाता है। इसे ही उदीरणा कहते हैं। उदीरणाके लिये पहले अपकर्षण करणके द्वारा कर्मकी स्थितिको कम कर दिया जाता है, स्थितिके घट जानेपर कर्म नियत समयसे पहले उदयमें आ जाता है। जब कोई असमयमें ही मर जाता है तो उसकी अकालमृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयुकर्मकी उदीरणा ही है। स्थितिका घात हुए विना उदीरणा नहीं होती।

संक्रमण—एक कर्मका दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जानेको संक्रमण करण कहते हैं। यह संक्रमण मूल भेदोंमें नहीं होता। अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप नहीं होता और न दर्शनावरण ज्ञानावरणरूप होता है। इसी तरह अन्य मूलकर्मोंके बारेमें

भी जानना। किन्तु एक कर्मका अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेदरूप हो सकता है। जैसे वेदनीय कर्मके दो भेदोंमेंसे सातवेदनीय असातवेदनीयरूप हो सकता है और असातवेदनीय सातवेदनीयरूप हो सकता है। यद्यपि संक्रमण एक कर्म के अवान्तर भेदोंमें ही होता है, किन्तु उसमें अपवाद भी है। आयुकर्मके चार भेदोंमें परस्परमें संक्रमण नहीं होता। नरकगतिकी आयु बाँध लेनेपर जीवको नरकगतिमें ही जाना पड़ता है, अन्य गतिमें नहीं। इसी प्रकार बाकीकी तीन आयुओंके बारेमें भी जानना चाहिये।

उपशम—कर्मको उदयमें आ सकनेके अयोग्य कर देना उपशमकरण है।

निधत्ति—कर्मका संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

निकाचना—उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय-का न हो सकना निकाचना है।

कर्मकी इन अनेक दशाओंके सिवाय जैन सिद्धान्तमें कर्मका स्वामी, कर्मोंकी स्थिति, कब कौन कर्म बँधता है? किसका उदय होता है, किस कर्मकी सत्ता रहती है, किस कर्मका क्षय होता है आदि बातोंका विस्तारसे वर्णन किया है।

३. चारित्र

जैनधर्मके दार्शनिक मन्तव्योंका परिचय कराकर अब हम उस चरित्रकी ओर आते हैं, जो कि वस्तुतः धर्म कहा जाता है।

रत्नकरंडश्रावकाचार नामक प्राचीन जैन-ग्रन्थमें समर्थ जैनाचार्य श्री समन्तभद्र स्वामीने धर्मका वर्णन करते हुए लिखा है—

'देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥'

'मैं कर्मबन्धनका नाश करनेवाले उस सत्यधर्मका कथन करता हूँ जो प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरता है।'

इससे निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) संसारमें दुःख है।

(२) उस दुःखका कारण प्राणियोंके अपने अपने कर्म हैं।

(३) धर्म प्राणिमात्रको दुःखसे छुड़ाकर न केवल सुख किन्तु उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

अब विचारणीय यह है कि संसारमें दुःख क्यों हैं और धर्म कैसे उससे छुड़ाकर उत्तम सुख प्राप्त कराता है।

१—संसारमें दुःख क्यों हैं ?

संसारमें दुःख है यह किसीसे छिपा नहीं। और सब लोग सुखके इच्छुक हैं और सुखके लिये ही रात दिन प्रयत्न करते हैं यह

भी किसीसे छिपा नहीं। फिर भी सब दुःखी क्यों हैं? जिन्हें पेट भरनेके लिये न मुट्ठी भर अन्न मिलता है और न तन ढाँकनेके लिये वस्त्र, उनकी बात जाने दीजिये। जो सम्पत्तिशाली हैं उन्हें भी हम किसी न किसी दुःखसे पीड़ित पाते हैं। निर्धन धनके लिये छटपटाते हैं और धनवानोंको धनकी तृष्णा चैन नहीं लेने देती। निःसन्तान सन्तानके लिये रोते हैं तो सन्तानवाले सन्तानके भरणपोषणके लिये चिन्तित हैं। किसीका पुत्र मर जाता है तो किसीकी पुत्री विधवा हो जाती है। कोई पत्नीके बिना दुःखी है तो कोई कुलटा पत्नीके कारण दुःखी है। सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी दुःखसे दुःखी है। और अपनी अपनी समझके अनुसार उसे दूर करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु फिर भी दुःखोंसे छुटकारा नहीं होता। सुखकी चाहको पूरा करनेके प्रयत्नमें जीवन बीत जाता है किन्तु किसीकी चाह पूरी नहीं होती। आइये! जरा इसके कारणोंपर विचार करें।

सुखके साधन तीन हैं—धर्म, अर्थ और काम। इनमें भी धर्म ही सुखका मुख्य साधन है और बाकीके दोनों गौण हैं; क्योंकि शुभाचरणरूप धर्मके बिना प्रथम तो अर्थ और कामकी प्राप्ति ही असंभव है। जरा देरके लिये उसे संभव भी मान लिया जाये तो अधर्मपूर्ण साधनोंसे उपार्जन किया हुआ अर्थ और काम कभी सुखका कारण हो नहीं सकता। बल्कि दुःखोंका ही कारण होता है। इसके दृष्टान्तके लिये चोरीसे धन कमानेवालों और परस्त्रीगामियोंको उपस्थित किया जा सकता है। मोहवश इन कामोंमें बहुतसे लोग प्रवृत्त हुए देखे जाते हैं, पर उन कामोंको स्वयं वे ही अच्छा नहीं बतलाते। और उस धन और कामभोगसे उन्हें कितना सुख मिलता है यह भी उनको आत्मा ही जानती है। यथार्थमें अर्थ और कामसे तभी सुख हो सकता है जब उसमें

सन्तोष हो। सन्तोषके बिना धन कमानेसे धनकी तृष्णा बढ़ती जाती है और तृष्णाकी ज्वालासे जलते हुए मनुष्योंको सुखका लेश भी नहीं मिल सकता। इसी प्रकार जो काम भोगकी तृष्णामें पड़कर कामभोगके साधन शरीर, इन्द्रिय वगैरहको जर्जर कर लेते हैं वे क्या कभी सुखी हो सकते हैं? फिर अर्थ और काम सदा ठहरनेवाले नहीं हैं, इनका स्वभाव ही नश्वरता है, किन्तु मनुष्योंने उन्हें ही सुखका साधन मान रखा है। अर्थ और काममें जो जितनी उन्नति कर लेता है, जितनी अधिक संपत्ति, भोग-उपभोगके साधन, ऊँची अट्टालिकाएँ, सुन्दर सुन्दर गाड़ियाँ आदि जिसके पास है वह उतना ही अधिक सुखी माना जाता है, उसका उतना ही अधिक आदर होता है। और यह सब देखकर सब लोग—क्या मूर्ख और क्या विद्वान्, क्या ग्रामीण और क्या शहरी, बालकसे बूढ़ेतक अर्थ और कामके लिये ही शक्तिभर उद्योग करते हैं। यदि कोई धर्ममें लगता भी है तो अर्थ और कामके लिये ही लगता है। ऐसी स्थितिमें यदि मनुष्य दुःखी न हों तो क्यों न हों? फिर मनुष्योंकी यह अर्थलालसा और काम-लालसा केवल उन्हें ही दुःखी नहीं करती बल्कि समाज और राष्ट्र भरको दुःखी बनाती है; क्योंकि जो मनुष्य स्वार्थवश धन कमाता है और उचित अनुचितका विचार नहीं करता वह दूसरोंके कष्टका कारण अवश्य होता है, साथ ही साथ यदि वह दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर चोरी या छलसे अपनेको धनी बनाता है तो दूसरे चतुर मनुष्य उसका ही अनुकरण करके उसी रीतिसे बलवान बननेकी चेष्टा करते हैं और इस तरह परस्परमें ही एक दूसरेके द्वारा सताया जाकर समाजका समाज दुःखी हो उठता है। यही बात कामभोगके सम्बन्धमें भी है। अतः यदि धर्मके द्वारा अर्थ और कामकी मर्यादा रखी जाय तो वे सुखके साधन

हो सकते हैं, परन्तु धर्मकी मर्यादाके बिना वे सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। अतः सुखके साथ धर्मका ही घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है और सुखके साधनोंमें धर्म ही प्रधान ठहरता है।

तथा शास्त्रोंमें जो सुखका विचार किया गया है, उसपर दृष्टि डालनेसे तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। शास्त्रोंमें सुखको जीवका स्वभाव बतलाया है; क्योंकि सुख जीवके भीतरसे ही प्रकट होता है। बाहर संसारमें कहीं भी सुखका स्थान नहीं है। यदि हम अपनेसे बाहर अन्य पदार्थोंमें सुखको खोज करते रहें तो हमें कभी भी सुख नहीं मिल सकता। यह सत्य है कि इन्द्रियोंके भोग हमसे बाहर इस संसारमें विद्यमान हैं; किन्तु उनमेंसे कोई भी स्वयं सुख नहीं है। उदाहरणके लिये एक व्यापारीको तार द्वारा यह सूचना मिलती है कि उसे व्यापारमें बहुत लाभ हुआ है। सूचना पाते ही वह आनन्दमें निमग्न हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि तार द्वारा सूचना मिलते ही उसके हृदयमें जो आनन्द हुआ वह कहाँसे आया? क्या वह उस तारके कागजसे उत्पन्न हुआ जिसपर सूचना लिखी थी? नहीं, क्योंकि यदि उस कागजपर हानिकी सूचना लिखी होती तो वही कागज उसी व्यापारीके दुःखका कारण बन जाता। शायद आप कहें कि उस तारके कागजपर जो वाक्य लिखे हुए थे उनमें सुख विद्यमान था। किन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यदि उन वाक्योंमें सुख है तो जो कोई उन वाक्योंको पढ़े या सुने उन सभीको उससे सुख होना चाहिये, मगर ऐसा नहीं देखा जाता। शायद कहा जाये कि उन वाक्योंका सम्बन्ध उसी व्यापारीसे है अतः उनसे उसीको सुख होता है दूसरोंको नहीं, किन्तु यदि उस व्यापारीको उस तारकी सत्यतामें सन्देह हो तो

उन वाक्योंसे उसे भी तब तक सुख नहीं होता जब तक उसका सन्देह दूर न हो। इसके सिवा एक ही वस्तु किसीके सुखका साधन होती है और किसीके दुःखका साधन होती है। तथा एक ही वस्तु कभी सुखका साधन होती है और कभी दुःखका साधन होती है। जैसे, पुत्र जब तक माता-पिताका आज्ञाकारी रहता है तब तक उनके सुखका साधन होता है और जब वही उद्दण्ड हो जाता है तो दुःखका कारण बन जाता है। अतः यदि बाह्य वस्तु सुखस्वरूप होती तो उससे सबको सदा सुख ही होना चाहिये था, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः सुख जीवका ही स्वभाव है, इसलिये वह अन्दरसे ही उत्पन्न होता है। किन्तु बाहरमें जिस वस्तुका सहारा पाकर सुख उत्पन्न होता है, अज्ञानसे मनुष्य उसे ही सुख समझ बैठता है। परन्तु वास्तवमें बाहिरी वस्तु न स्वयं सुख है और न सुखका साधन ही है। शरीरमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी क्षणिक शान्तिके उपायोंको मनुष्य भ्रमसे सुखका साधन मानता है, किन्तु वास्तवमें वे सुखके साधन नहीं हैं, बल्कि शारीरिक विकारोंके प्रतीकार मात्र हैं, जैसा कि भर्तृहरिने भी लिखा है—

> "तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
> क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
> प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं
> प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥"

अर्थात्—'जब प्याससे मुख सूखने लगता है तो मनुष्य सुगन्धित स्वादु जल पीता है। भूखसे पीड़ित होनेपर शाक आदिके साथ भात खाता है। कामाग्निके प्रज्वलित होनेपर पत्नीका आलिंगन करता है इस प्रकार रोगके प्रतीकारोंको मनुष्य भूलसे सुख मान रहा है।'

सारांश यह है कि बाह्य वस्तुओंके संग्रहका उद्देश्य केवल शरीर और मनके अन्दर उत्पन्न होनेवाली दुःखजनित चंचलताको मिटाना मात्र है। सच्चा सुख तो अपने अन्दरसे स्वतः विकसित होता है, वह बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता। उसके लिये नगर और वन, स्वजन और परजन, महल और श्मशान तथा प्रियाकी गोद और शिलातल सब समान हैं। अतः न अर्थ सुखका साधन है और न काम, किन्तु इच्छाका निरोध ही सच्चे सुखका साधन है। जो इस सत्यको नहीं समझते वे इच्छाको न रोक कर इच्छाके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके सुखी होनेका प्रयत्न करते हैं, किन्तु एक इच्छाके पूरी होनेपर दूसरी इच्छा उत्पन्न होती है और इस तरह इच्छाका स्रोत बहता रहता है। सब इच्छाएँ किसीकी पूरी नहीं होतीं, और यदि हो भी जायें तो आगे कोई इच्छा उत्पन्न न हो यह संभव नहीं है। अतः फिर इच्छा उत्पन्न होनेसे फिर दुःखकी ही संभावना है। अतः प्रत्येक प्रकारकी इच्छाका नियमन करना ही सुखका सच्चा उपाय है, न कि उसके अनुकूल पदार्थ जुटाकर उसकी तृप्ति करना। तृप्ति करनेसे तो इच्छा बढ़ती है और वह तृष्णाका रूप धारण कर लेती है।

निष्कर्ष यह है कि सब सुख चाहते हैं, किन्तु दुःखोंका अभाव हुए बिना सुख की प्रतीति नहीं हो सकती। अर्थ और कामसे जो सुख होता है वह सुख सुख नहीं हैं, किन्तु शारीरिक और मानसिक रोगोंका प्रतीकारमात्र है। भ्रमसे लोगोंने उसे सुख समझ लिया है और सब उसीकी प्राप्तिके उपायोंमें लगे रहते हैं, तथा न्याय और अन्यायका विचार नहीं करते। इसीसे संसारमें दुःख है। हमारी अर्थ और कामकी अनियंत्रित वाञ्छा ही स्वयं हमारे और दूसरोंके दुःखका कारण बनी हुई है। यदि

हम उसे धर्मके अंकुशसे नियंत्रित कर सकें—धर्मअविरुद्ध अर्थ और कामके सेवन करनेका व्रत ले लें तो हम स्वयं भी सुखी हो सकते हैं और दूसरे भी, जो कि हमारी अनियंत्रित अर्थतृष्णा और कामतृष्णाके शिकार बने हुए हैं, सुखी हो सकते हैं। इसीलिये धर्म उपादेय है। वह हमारी इच्छाओंका नियमन करके हमें सुखी ही नहीं, किन्तु पूर्ण सुखी बनाता है; क्योंकि जो सुख हमें इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है, वह पराधीन है, जबतक हमें भोगनेके लिये रुचिकर पदार्थ नहीं मिलते तबतक वह होता ही नहीं, तथा उनके भोगनेपर तत्काल सुख मालूम होता है किन्तु बादमें जब भोगकर छोड़ देते हैं तो पुनः उनके बिना विकलता होने लगती है। जैसे भूख लगनेपर रुचिकर भोजन मिलनेसे सुख होता है, न मिलनेसे दुःख होता है। तथा एक बार भरपेट भोजन कर लेनेपर दूसरी बार फिर क्षुधा सताने लगती है और हम भोजनके लिये विकल हो उठते हैं। अतः इस प्रकारसे प्राप्त होनेवाला सुख सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है। सच्चा सुख वह है जिसे एक बार प्राप्त कर लेनेपर फिर दुःखका भय ही नहीं रहता। इसीसे कहा है—'तत्सुखं यत्र नासुखम्'—

सुख वही है जिसमें दुःख न हो। धर्मसे ऐसे ही स्थायी सुखकी प्राप्ति होती है।

२–मुक्तिका मार्ग

'संसारमें दुःख क्यों है' यह हम जान चुके हैं। और यह भी जान चुके हैं कि सुखका साधन धर्म है वह हमें दुःखोंसे छुड़ाकर सुख ही नहीं किन्तु उत्तम सुख प्राप्त करा सकता है। अब प्रश्न यह है कि दुःखोंसे छूटने और सुखको प्राप्त करनेका वह मार्ग कौनसा है, जो धर्मके नामसे पुकारा जाता है आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं—

"सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥" रत्नकरंड० ।

अर्थात्—'धर्मके प्रवर्तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहते हैं। जिनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचरित्र संसारके मार्ग हैं।'

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको ही, जो कि धर्मके नामसे कहे गये हैं प्रसिद्ध सूत्रकार उमास्वामीने मुक्तिका मार्ग बतलाया है। असलमें जो मुक्तिका मार्ग है—दुःखों और उनके कारणोंसे छूटनेका उपाय है, वही तो धर्म है। उसीको हमें समझना है।

दुःखोंसे स्थायी छुटकारा पानेके लिये सबसे प्रथम हमें यह दृढ़ श्रद्धान होना जरूरी है कि—

"एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥"
नियमसार ।

'ज्ञानदर्शनमय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए बाकीके सभी पदार्थ बाह्य हैं—मुझसे भिन्न हैं मेरे नहीं हैं।'

जबतक हम उन वस्तुओंसे, जो हमें हमारे शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, ममत्व नहीं त्यागेंगे, तबतक हम अपने छुटकारेका प्रयत्न नहीं कर सकेंगे। और करेंगे भी तो वह हमारा प्रयत्न सफल नहीं होगा, क्योंकि जबतक हमें यही मालूम नहीं है कि हम क्या हैं और जिनके बीचमें हम रहते हैं उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है तबतक हम किससे किसका छुटकारा करा सकेंगे ? जैसे, जिसे सोनेकी और उसमें मिले हुए खोटकी

पहचान नहीं है कि यह सोना है और यह मैल है, वह खानसे निकले हुए पिण्डमेंसे सोनेको शोधकर नहीं निकाल सकता। सोनेको शोधकर निकालनेके लिये उसे सोने और मलका ज्ञान तथा यही सोना है और यही मल है ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये। क्योंकि दृढ़ विश्वास न होनेपर वह किसी दूसरेके बहकावमें आकर मलको सोना और सोनेको मल समझकर भ्रममें भी पड़ सकता है। वैसे ही आत्मशोधकको भी अपनी आत्मा, उसकी खराबियाँ, उन खराबियोंके कारण और उनसे छुटकारा पानेके उपायोंका भली भाँति ज्ञान होनेके साथ ही साथ अपने उस ज्ञानकी सत्यतापर दृढ़ आस्था भी अवश्य होनी चाहिये। यह आस्था ही सम्यग्दर्शन है। छुटकारेका प्रयत्न करनेसे पहले इसका होना नितान्त आवश्यक है। जो कुछ सन्देह वगैरह हो उसे पहले ही दूर कर लेना चाहिये। जब वह दूर हो जाये और पहले कहे गये सात तत्त्वोंकी दृढ़ प्रतीति हो जाये तब फिर मुक्तिके मार्गमें पैर बढ़ाना चाहिये और फिर उससे पीछे पैर नहीं हटाना चाहिये, जैसा कि कहा है—

"विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥"

पुरुषार्थ०।

'शरीरको ही आत्मा मान लेनेका जो मिथ्याभाव हो रहा है, उसे दूर करके आत्मतत्त्वको अच्छी तरह जानकर, उससे विचलित न होना ही परमपुरुषार्थ मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय है।'

अतः मुक्तिके लिये उक्त सात तत्त्वोंपर दृढ़ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है और उनका ठीक ठीक ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है। ये दोनों ही आगे बढ़नेकी भूमिका हैं, इनके बिना मुक्तिके

लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। जिस जीवको इस प्रकारका दृढ़ श्रद्धान और ज्ञान हो जाता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं अर्थात् उसकी दृष्टि ठीक मानी जाती है—अब यदि वह आगे बढ़ेगा तो धोखा नहीं खा सकेगा। जबतक मनुष्यकी दृष्टि ठीक नहीं होती—उसे अपने हिताहितका ज्ञान नहीं होता तबतक वह अपने हितकर मार्गपर आगे नहीं बढ़ सकता। अतः प्रारम्भमें ही उसकी दृष्टिका ठीक होना आवश्यक है। इसीलिये सम्यग्दर्शनको मोक्षके मार्गमें कर्णधार बतलाया है। जैसे नावको ठीक दिशामें ले जाना खेनेवालोंके हाथमें नहीं होता, किन्तु नावके पीछे लगे हुए डांडका सञ्चालन करनेवाले मनुष्यके हाथमें होता है। वह उसे जिधरको घुमाता है उधरको ही नावकी गति हो जाती है। यही बात सम्यग्दर्शनके विषयमें भी जानना चाहिये। इसीसे जैन सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शनका बहुत महत्त्व बतलाया है। इसके हुए बिना न कोई ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और न कोई चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है, अतः मोक्षके उपासककी दृष्टिका सम्यक् होना बहुत जरूरी है, उसके रहते हुए मुमुक्षु लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हो सकता।

इस सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। जैसे शरीरमें आठ अंग होते हैं, उनके बिना शरीर नहीं बनता, वैसे ही इन आठ अंगोंके बिना सम्यग्दर्शन भी नहीं बनता। सबसे प्रथम जिस सत्य मार्गका उसने अवलम्बन किया है उसके सम्बन्धमें उसे निःशङ्क होना चाहिये। जबतक उसे यह शंका लगी हुई है कि यह मार्ग ठीक है या गलत तबतक उसकी आस्था दृढ़ कैसे कही जा सकती है? ऐसी अवस्थामें आगे बढ़नेपर भी उसका लक्ष्यतक पहुँचना सम्भव नहीं है। अतः उसे अपनेपर अपने गन्तव्य पथपर और अपने मार्गद्रष्टापर अविचल विश्वास होना चाहिये। दूसरे, उसे किसी भी प्रकारके लौकिक सुखोंकी इच्छा नहीं करना चाहिये—

बिलकुल निष्काम होकर काम करना चाहिये। क्योंकि कामना और वह भी स्त्री, पुत्र, धन वगैरहकी, मनुष्यको लक्ष्यभ्रष्ट कर देती है। इच्छाका दास कभी आगे बढ़ ही नहीं सकता। जैसे कोई आदमी अपने देशको स्वतंत्र करनेके मार्गको अपनाता है और यह कामना रखकर अपनाता है कि इस मार्गको अपनानेसे मेरी ख्याति होगी, प्रतिष्ठा होगी, मुझे कौंसिलमें मेम्बरी मिलेगी यदि ये चीजें उसे मिल जाती हैं तो वह फिर इनको ही अपना लक्ष्य मानकर उनमें ही रम जाता है और देशकी स्वतंत्रताको भूल बैठता है। यदि ये चीजें नहीं मिलतीं और उल्टी यातना सहनी पड़ती है तो वह लोगोंको भला-बुरा कहकर उस मार्गको ही छोड़ बैठता है। वैसे ही सांसारिक सुखकी कामना रखकर इस मार्गपर चलना भी लक्ष्यभ्रष्ट कर देता है। अतः निरीह होकर रहना ही ठीक है। तीसरे, रोगी दुःखी और दरिद्रीको देखकर उससे ग्लानि नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ये सब जीवोंके अपने अपने किये हुए पुण्य पापका खेल है। आज जो अमीर है कल वह दरिद्र हो सकता है। आज जो नीरोग है कल वह रोगी हो सकता है। अतः मनुष्यके वैभव और शरीरकी गन्दगीपर दृष्टि न देकर उसके गुणोंपर दृष्टि देनी चाहिये। चौथे, उसे कुमार्गकी और कुमार्गपर चलनेवालोंकी कभी भी सराहना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि इससे कुमार्गको प्रोत्साहन मिलता है। तथा उसमें इतना विवेक और दृढ़ताका होना जरूरी है कि यदि कोई उसे सन्मार्गसे च्युत करनेका प्रयत्न करे तो उसकी बातोंमें न आ सके। पाँचवे, उसे अपनेमें गुणोंको बढ़ाते रहनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये और दूसरोंके दोषोंको ढाँकनेका प्रयत्न करना चाहिये। तथा अज्ञानी और असमर्थजनोंके द्वारा यदि सन्मार्ग-पर कोई अपवाद आता हो तो उसके भी दूर करनेका प्रयत्न

करना चाहिये, जिससे लोकमें सन्मार्गकी निन्दा न हो। छठे, स्वयं या कोई दूसरा मनुष्य सन्मार्गसे डिगता हुआ हो, किसी कारणसे उसका त्याग कर देना चाहता हो तो अपना और उसका स्थितिकरण करना चाहिये। सातवें, अपने सहयोगियों से, और अहिंसामयी धर्मसे अत्यन्त स्नेह करना चाहिये। आठवें जनतामें फैले हुए अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करके अहिंसामयी धर्मका सर्वत्र प्रसार करते रहना चाहिये। ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं, जिनका होना जरूरी है।

इसके सिवा सम्यग्दृष्टिको अपने ज्ञान, तप, आदर-सत्कार, बल, ऐश्वर्य, कुल, जाति और सौन्दर्यका मद नहीं करना चाहिये। मद बहुत बुरा है। जो कोई मदमें आकर अपने किसी भी सहधर्मीका अपमान करता है, वह अपने धर्मका ही अपमान करता है, क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्मकी स्थिति नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि तथा सम्यग्ज्ञानी होकर जीवको आगे बढ़नेका प्रयत्न करना चाहिये। इतनी भूमिका तैयार किये बिना अहिंसा धर्मरूपी उस महावृक्षका अंकुरारोपण नहीं हो सकता, जिसके शान्तरससे परिपूर्ण सुस्वादु मधुरफल मुक्तिके मार्गमें पाथेयका काम देते हैं और जिसकी शीतल सुखद छायामें यह सचराचर विश्व—युद्धोंकी विभीषिकासे त्रस्त और आकुल यह संसार, शान्ति लाभ कर सकता है।

अब रहा सम्यक्चारित्र या आचार।

३—चारित्र या आचार

प्रारम्भमें जैनधर्मका आरम्भकाल बतलाते हुए यह बतलाया है कि जैनशास्त्रोंके अनुसार वर्तमान अवसर्पिणीकालके प्रारम्भमें जब यहाँ भोगभूमि थी, उस समय यहाँ कोई भी धर्म नहीं था।

सब मनुष्य सुखी थे। सबको आवश्यकताके अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिल जाती थीं। मनुष्य संतोषी और सरल होते थे। वैयक्तिक सम्पत्तिवादका तब जन्म नहीं हुआ था। अतः विषमता भी नहीं थी। प्राकृतिक साम्यवाद था। न कोई छोटा था और न कोई बड़ा। न कोई अमीर था और न कोई गरीब। न कोई शासक था और न कोई शास्य। किन्तु पीछे प्रकृतिने पलटा खाया, आवश्यक वस्तुओंका यथेष्ट परिमाणमें मिलना बन्द हो गया। मनुष्योंमें असन्तोष और घबराहट पैदा हुई। उनसे संचय-वृत्तिका जन्म हुआ। फलतः विषमता बढ़ने लगी और उसके साथ साथ अपराधोंकी भी प्रवृत्ति हो चली। सुखका स्थान दुःखने ले लिया। तब भगवान ऋषभदेवका जन्म हुआ। उन्होंने लोगोंको असि, मषी, कृषि, शिल्प, सेवा और व्यापारके द्वारा आजीविका करनेका उपदेश दिया तथा अपने प्रत्येक कार्यमें अहिंसामूलक व्यवहार करनेका उपदेश देकर अहिंसाको ही धर्म बतलाया और उस अहिंसा धर्मकी रक्षाके लिये सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार अन्य धर्मोंका पालन भी आवश्यक बतलाया। ये पाँच यमरूप धर्म ही जैनाचारका मूल है इसीको एकदेशसे गृहस्थ पालते हैं और सर्वदेशसे मुनि पालते हैं।

चारित्र या आचारका अर्थ होता है आचरण। मनुष्य जो कुछ सोचता है या बोलता है या करता है वह सब उसका आचरण कहलाता है। उस आचरणका सुधार ही मनुष्यका सुधार है और उसका बिगाड़ ही मनुष्यका बिगाड़ है। मनुष्य प्रवृत्ति-शील है और उसकी प्रवृत्तिके तीन द्वार हैं—मन, वचन और काय। इनके द्वारा ही मनुष्य अपना काम करता है और इनके द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके परिचयमें आता है। यही वे

चीजें हैं, जो मनुष्यको मनुष्यका दुश्मन बनाती हैं और यही वे चीजें हैं जो मनुष्यको मनुष्यका मित्र बनाती हैं। यही वे चीजें हैं जिनके सत्प्रयोगसे मनुष्य स्वयं सुखी हो सकता है और दूसरोंको सुखी कर सकता है और यही वे चीजें हैं, जिनके दुष्प्रयोगसे मनुष्य स्वयं दुःखी होता है और दूसरोंके दुःखका कारण बनता है। अतः इनका सत्प्रयोग करना और दुष्प्रयोग न करना शुभाचरण कहा जाता है।

यथार्थमें चारित्रके दो अंश हैं—एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक। जितना प्रवृत्तिमूलक अंश है वह सब बन्धका कारण है और जितना निवृत्तिमूलक अंश है वह सब अबन्धका कारण है।

यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। प्रवृत्तिका मतलब है इच्छा-पूर्वक किसी कार्यमें लगना और निवृत्तिका मतलब है प्रवृत्तिको रोकना। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी। प्रवृत्तिके तीन द्वार हैं—मन, वचन और काय। किसीका बुरा विचारना, किसीसे ईर्षाभाव रखना आदि बुरी मानसिक प्रवृत्ति है। किसीका भला विचारना, किसीकी रक्षाका उपाय सोचना, आदि अच्छी मानसिक प्रवृत्ति है। झूठ बोलना, गाली बकना आदि बुरी वाचनिक प्रवृत्ति है। हित मित वचन बोलना, अच्छी वाचनिक प्रवृत्ति है। किसीकी हिंसा करना, चोरी करना, व्यभिचार करना आदि बुरी कायिक प्रवृत्ति है और किसीको रक्षा करना, सेवा करना आदि अच्छी कायिक प्रवृत्ति है इस तरह प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। किन्तु प्रवृत्तिका अच्छापन या बुरापन कर्ताकी क्रिया या उसके फल पर निर्भर नहीं है किन्तु कर्ताके इरादे पर निर्भर है। कर्ता जो कार्य अच्छे इरादेसे करता है वह कार्य

अच्छा कहलाता है और जो कार्य बुरे इरादेसे करता है वह कार्य बुरा कहलाता है। जैसे, एक डाक्टर अच्छा करनेके भावसे रोगीको नश्तर देता है। रोगी चिल्लाता है और तड़फता है फिर भी डाक्टरका कार्य बुरा नहीं कहलाता; क्योंकि उसका इरादा बुरा नहीं है। तथा एक मनुष्य किसी धनी युवकसे मित्रता जोड़कर उसका धन हथियानेके इरादेसे प्रतिदिन उसकी खुशामद करता है, उसे तरह तरहके सब्जबाग दिखाकर वेश्या और शराबसे उसकी खातिर करता है। उसका यह काम बुरा है क्योंकि उसका इरादा बुरा है। इसी तरह और भी अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। अतः प्रवृत्तिका अच्छा या बुरापन कर्ताके भावोंपर निर्भर है न कि कार्यपर। ऐसी स्थितिमें जो लोग लौकिक सुखकी इच्छासे प्रेरित होकर धर्माचरण करते हैं उनका वह धर्माचरण यद्यपि बुरे कार्योंमें लगनेकी अपेक्षा अच्छा ही है तथापि जिस दृष्टिसे धर्माचरणको कर्तव्य बतलाया है उस दृष्टिसे वह एक तरहसे निष्फल ही है; क्योंकि लौकिक वैषयिक सुखकी लालसामें फँसकर हम उस चिरस्थायी आत्मिक सुखकी बातको भूल जाते हैं, जो धर्माचरणका अन्तिम लक्ष्य है, और ऐसे ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिनसे बहुत कालके लिये उस चिरस्थायी सुखकी आशा नष्ट हो जाती है।

यद्यपि सुखलाभकी प्रवृत्ति जीवका स्वभावसिद्ध धर्म है। वही प्रवृत्ति जीवों को अच्छे या बुरे कार्योंमें लगाती है। किन्तु एक तो जीवोंको सच्चे सुखकी पहिचान नहीं है। वे समझते हैं कि इन्द्रियोंके विषयोंमें ही सच्चा सुख है। इसलिये वे उन्हींकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं और उसीके लोभसे धर्माचरण भी करते हैं। किन्तु ज्यों ज्यों उन्हें विषयोंकी प्राप्ति होती जाती है त्यों त्यों उनकी विषयतृष्णा बढ़ती जाती है। उस तृष्णाको

पूर्तिके लिये वे प्रतिदिन नये नये उपाय रचते हैं, अनर्थ करते हैं, बलात्कार करते हैं, दूसरोंको सताते हैं, उचित अनुचितका विचार किये बिना जो कुछ कर सकते हैं करते हैं, किन्तु उनकी तृष्णा शान्त नहीं होती। अन्तमें तृष्णाको शान्त करनेकी धुनमें वे स्वयं ही शान्त हो जाते हैं और अपने पीछे पापोंकी पोटरी बाँधकर दुनियासे चल बसते हैं। इसीलिये वैषयिक सुखकी खोज इतनी निन्दनीय है। दूसरे, प्रवृत्तिमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि प्रवृत्तिमात्र ही सहजमें असंयत हो उठती है और उचित सीमाको लाँघकर कार्य करने लगती है। इसीलिये प्रवृत्तिके दमनपर इतना जोर दिया है और प्रवृत्तिको विश्वस्त पथप्रदर्शक नहीं माना जाता। इसीलिये दूरदर्शी धर्मोपदेष्टाओंने प्रवृत्ति-मूलक कार्यकी अपेक्षा निवृत्तिमूलक कार्यकी ही अधिक प्रशंसा की है। और निवृत्तिमार्गको ही ग्रहण करनेका उपदेश दिया है।

अनेक लोग सोच सकते हैं कि प्रवृत्ति मनुष्यको यथार्थकर्मा बनाकर जगतका हित करनेमें लगाती है और निवृत्ति मनुष्यको निष्कर्मा बनाकर जगतका हित करनेसे रोकती है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। यह सच है कि निवृत्तिमार्गकी अपेक्षा प्रवृत्ति-मार्ग आकर्षक है। पर उसका कारण यह है कि प्रवृत्तिमार्गसे जिस सुखकी खोज की जाती है वह क्षणिक होनेपर भी सहज-लभ्य और सहजभोग्य है। उधर निवृत्तिमार्गसे जिस सुखको खोजा जाता है वह नित्य होनेपर भी अतिदूर है और संयतचित्त हुए बिना कोई उसे भोग नहीं सकता। अतः निवृत्तिमार्ग यद्यपि आकर्षक नहीं है तथापि एक बार जो उसपर पग रख देता है वह बराबर चलता रहता है, क्योंकि उस मार्गपर चलनेसे जो सुख प्राप्त होता है वह नित्य है और उसको भोगनेकी शक्तिका कमी ह्रास नहीं होता। इसके विपरीत प्रवृत्तिमार्गसे जो सुख

प्राप्त होता है उस सुखके लिये जिन भोग्य सामग्रियोंकी आवश्यकता है वे सब अस्थायी हैं और उस सुखको भोगनेके लिये हममें जो शक्ति है वह भी क्षय होनेवाली है। दूसरे प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर जो कार्य किया जाता है उसके अन्त तक चालू रहनेमें बहुत कुछ शंका रहती है, क्योंकि कर्ता किसी लौकिक इच्छासे ही उसमें प्रवृत्त होता है। किन्तु निवृत्तिमार्गपर चलनेवालेके विषयमें यह शंका नहीं रहती; क्योंकि वह अपने सुख लाभपर दृष्टि न रखकर कार्य करनेमें ही रत रहता है। शायद कोई कहे कि प्रवृत्तिमार्गी लोगोंने ही परिश्रम करके अनेक प्रकारके विषय-सुखके उपायोंका आविष्कार करके मनुष्यजातिका महान् हित किया है और निवृत्तिमार्गियोंने कुछ नहीं किया। तो उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि उन सब सुखसाधनोंके रहते हुए भी जब कोई आदमी दुस्सह शोकसागरमें निमग्न होता है, या निराशाके गर्तमें पड़ा होता है या असाध्य रोगसे पीड़ित होता है तो निवृत्तिमार्गियोंके जीवनके उज्ज्वल दृष्टान्त ही उसको धीरज बँधाते हैं, और उनके अनुभवपूर्ण उपदेशोंके द्वारा ही उसे सच्ची शान्तिका लाभ होता है। अतः जो सच्चे सुख और शान्तिकी खोजमें हैं उन्हें कुछ कुछ निवृत्तिमार्गी भी होना जरूरी है और प्रवृत्तिमार्गपर चलते हुए भी अपनी दृष्टि निवृत्तिमार्गपर ही रखनी चाहिये।

कोई कह सकते हैं कि इस तरह यदि सभी निवृत्तिमार्गी हो जायँगे तो दुनियाका काम कैसे चलेगा? किन्तु ऐसा सोचनेको जरूरत नहीं है क्योंकि हमारी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि निवृत्तिके अभ्याससे उनकी जड़ उखड़नेकी संभावना नहीं है। उससे इतना ही हो सकता है कि वे कुछ शान्त हो जायें, किन्तु इससे हमें और जगतको लाभ ही पहुँचेगा, हानि

नहीं। अतः चारित्रके दो रूप हैं एक प्रवृत्तिमूलक और दूसरा निवृत्तिमूलक। इन दोनों ही चारित्रोंका प्राण है अहिंसा और उसके रक्षक हैं, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

४—अहिंसा

जैनाचारका प्राण

अहिंसा ही परमधर्म है। अहिंसा ही परमब्रह्म है। अहिंसा ही सुख शान्ति देनेवाली है, अहिंसा ही संसारका त्राण करनेवाली है। यही मानवका सच्चा धर्म है, यही मानवका सच्चा कर्म है। यही वीरोंका सच्चा बाना है, यही धीरोंकी प्रबल निशानी है। इसके बिना न मानवकी शोभा है न उसकी शान है। मानव और दानवमें केवल अहिंसा और हिंसाका ही तो अन्तर है। अहिंसा मानवी है और हिंसा दानवी है। जबसे मानवने अहिंसाको भुला दिया तभीसे वह दानव होता जाता है और उसकी दानवताका अभिशाप इस विश्वको भोगना पड़ रहा है। फिर भी मानव इस सत्यको नहीं समझता। किन्तु वह दिन दूर नहीं है जब मानवसंसार उसे समझेगा; क्योंकि उसके कष्टोंका दूसरा इलाज ही नहीं है।

संसार सुख शान्ति चाहता है, इसका मतलब है कि संसारमें निवास करनेवाला प्रत्येक प्राणी सुखशान्तिका इच्छुक है। कोई मरना नहीं चाहता। दुःखीसे दुःखी प्राणी भी जीवित रहनेकी चाह रखता है। सबको अपना जीवन प्रिय ही नहीं, बल्कि अतिप्रिय है। ऐसी अति प्यारी चीजको जो नष्ट कर डालता है वह हिंसक है, दानव है, पातकी है। और जो उसकी रक्षा करता है, अपने प्राणोंका बलिदान करके भी त्रस्तोंको बचाता है, उन्हें जीवनदान देता है, वह अहिंसक है और वही सच्चा

मानव है। इस मानवताका मूल्य वही आँक सकता है, जिसके प्राणोंपर कभी संकट आया है। जो केवल मारना जानते हैं, सताना जानते हैं, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है?

कहावत प्रसिद्ध है—'जाके पैर नहि फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई?' जिसके जीवन पर कभी दुःखकी घटा नहीं घहराई, कभी किसी आततायीकी तलवार नहीं पड़ी वह क्या जान सकता है कि दूसरोंको मारनेमें या सतानेमें क्या दुःख है? काश यदि मानवने अपने जीवन पर बीती दुःखद घटनाओंसे शिक्षा ली होती तो आज मानव मानवके खूनका प्यासा न होता। किन्तु मानव इतना स्वार्थी है या उसकी स्वार्थपरक वृत्तियां इतनी प्रबल हैं, कि वह स्वयं तो जीवित रहना चाहता है किन्तु दूसरोंके जीवनकी कतई परवाह नहीं करता। उसकी दशा नशेमें मस्त उस मोटरचालककी सी है जो सरपट मोटर दौड़ाते हुए यह भूल जाता है कि जिस सड़क पर मैं मोटर चला रहा हूँ उस पर कुछ अन्य प्राणी भी चल रहे हैं, जो मेरी मोटरसे दबकर मर सकते हैं। उसे अपने जीवनकी व अपने सुख चैनकी तो चिन्ता है किन्तु दूसरोंकी नहीं। मुझे स्वादिष्टसे स्वादिष्ट पदार्थ खानेको मिलने चाहियें चाहे दूसरोंको सूखा कौर भी न मिले। मेरे खजानेमें बेकार सोने-चाँदीका ढेर लगा रहना चाहिये चाहे दूसरोंके तन पर फटा चीथड़ा भी न हो। मेरी साहूकारी सैकड़ोंको गरीब बनाती है तो मुझे क्या? मेरे भोगविलासके निमित्तसे दूसरोंके प्राणोंपर बन आती है तो मुझे क्या? हमारे साम्राज्यवादकी चक्कीमें देशका देश पिस रहा है तो हमें क्या? व्यक्ति, समाज और राष्ट्रकी ये भावनाएँ ही दूसरे व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रोंका निर्दलन कर रही हैं। इनके कारण किसीको भी सुख-साता नहीं है। परस्परमें अविश्वासकी तीव्र भावना रात दिन

आकुल करती रहती है। सब अवसरकी प्रतीक्षामें रहते हैं कि कब दूसरेका गला दबोचा जाय। ये सब हिंसक मनोवृत्तिका ही दुष्परिणाम है जो विश्वको भोगना पड़ रहा है। इससे बचनेका एक ही उपाय है और वह है 'जिओ और जीने दो' का मंत्र। उसके बिना विश्वमें शान्ति नहीं हो सकती।

कुछ लोग अहिंसाको कायरताकी जननी समझते हैं और कुछ उसे अच्छी मानकर भी अशक्य समझते हैं। उनका ऐसा ख्याल है कि अहिंसा है तो अच्छी चीज मगर वह पाली नहीं जा सकती। ये दोनों ही ख्याल गलत हैं। न अहिंसा कायरताको पैदा करती है और न वह ऐसी ही है कि उसका पालन करना अशक्य हो। अहिंसापर गहरा विचार न करनेसे ही ऐसी धारणा बना ली गई है। हिंसा न करनेको अहिंसा कहते हैं। किन्तु अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुःखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं फिर भी जैनधर्मके अनुसार इसे तब तक हिंसा नहीं कहा जा सकता जब तक अपने हिंसारूप परिणाम न हों। वास्तवमें हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। अर्थात् जब तक हम प्रमादी और अयत्नाचारी न हों तब तक किसीका घात हो जाने मात्रसे हम हिंसक नहीं कहलाये जा सकते। आशय यह है कि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कषायसे अर्थात् जान बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानीसे। जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभके वश दूसरे मनुष्य-पर वार करता है तो वह हिंसा कषायसे कही जाती है और जब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह हिंसा अयत्नाचारसे कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देख भालकर अपना कार्य कर रहा है और उस

समय उसके चित्तमें किसीको कष्ट पहुँचानेका भी भाव नहीं है, फिर भी यदि उसके द्वारा किसीको कष्ट पहुँचता है या किसीका घात हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जा सकता। इसी बातको स्पष्ट करते हुए शास्त्रकारोंने लिखा है—

"उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आबादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।"

अर्थात्—'जो मनुष्य आगे देख भालकर रास्ता चल रहा है उसके पैर उठानेपर अगर कोई जीव पैरके नीचे आ जावे और कुचल कर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मरनेका थोड़ा सा भी पाप आगममें नहीं कहा।'

किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है उसे इस बातकी बिल्कुल परवाह नहीं है कि उसके इस कार्यसे किसीको हानि पहुँच सकती है या किसीके प्राणोंपर बन आ सकती है, और उसके द्वारा उस समय किसीको कोई हानि पहुँच भी नहीं रही हो, फिर भी वह हिंसाके पापका भागी है—

'मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥'

अर्थात्—'जीव चाहे जिये चाहे मरे, असावधानतासे काम करनेवालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो सावधानीसे काम कर रहा है उसे प्राणिवध हो जानेपर भी हिंसाका पाप नहीं लगता।'

अहिंसा की इस व्याख्याके अनुसार अपनेसे किसी जीवका घात हो जाने या किसीके दुखी हो जानेपर भी तबतक हिंसा नहीं कहलाती जबतक अपने भाव उसे मारने या दुःखी करनेके

न हों, अथवा हम अपना कार्य करते हुए असावधान न हों। किन्तु यदि हमारे भाव किसीको मारने या कष्ट पहुँचानेके हों, परन्तु प्रयत्न करनेपर भी हम उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकें, तब हम हिंसक ही समझे जायेंगे। क्योंकि जो दूसरोंका बुरा करना चाहता है वह सबसे पहले अपना बुरा करता है। जैसा कि कहा है—

'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः॥'

अर्थात्—'प्रमादी मनुष्य पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है, पीछे दूसरे प्राणियोंका घात हो या न हो।'

असलमें जैनधर्ममें हिंसाको दो भागोंमें बाँट दिया गया है— द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। जब किसीको मारने या सताने अथवा असावधानताका भाव न होनेपर भी दूसरेका घात हो जाता है तब उसे द्रव्यहिंसा कहते हैं और जब किसीको मारने या सताने अथवा असावधानताका भाव होता है तब उसे भावहिंसा कहते हैं। वास्तवमें भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाको तो केवल इसलिये हिंसा कहा है कि उसका भाव हिंसाके साथ सम्बन्ध है। किन्तु द्रव्यहिंसाके होनेपर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है, अर्थात् जिस आदमीके द्वारा किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है उस आदमीका इरादा ही ऐसा करनेका था ऐसा एकान्तरूपसे नहीं कहा जा सकता। अतः जहाँ कर्ताके भावोंमें हिंसा है वहीं हिंसा है, चाहे उसके द्वारा कोई मारा जाय या न मारा जाये। और जहाँ कर्ताके भावोंमें हिंसा नहीं है वहाँ हिंसा भी नहीं है, भले ही उसके निमित्तसे किसीकी जान चली जाये। अगर द्रव्यहिंसा और भावहिंसाको इस प्रकार अलग न किया

गया होता तो कोई भी अहिंसक न बन सकता और यह शंका बराबर खड़ी रहती—

'जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥'

'जलमें जंतु हैं, स्थलमें जंतु हैं और आकाशमें भी जंतु हैं। इस तरह जब समस्त लोक जन्तुओंसे भरा हुआ है तो कोई मुनि कैसे अहिंसक हो सकता है?'

इस शंकाका उत्तर इस प्रकार दिया है—

'सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥'

'जीव दो प्रकारके हैं सूक्ष्म और बादर या स्थूल। जो जीव सूक्ष्म अर्थात् अदृश्य होते हैं और न तो किसीसे रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं, उन्हें तो कोई पीड़ा दी हो नहीं जा सकती। रहे स्थूलजीव, उनमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है। अतः जिसने अपनेको संयत कर लिया है उसे हिंसाका पाप कैसे लग सकता है?'

इससे स्पष्ट है कि जो मनुष्य जीवोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता बल्कि उनके बचानेके भाव रखता है और अपना प्रत्येक काम ऐसी सावधानीसे करता है कि उससे किसीको भी कष्ट न पहुँच सके उसके द्वारा जो द्रव्यहिंसा हो जाती है उसका पाप उसे नहीं लगता। अतः जैनधर्मकी अहिंसा भावोंके ऊपर निर्भर है और इसलिये कोई भी समझदार उसे अव्यवहार्य नहीं कह सकता। मनुष्यसे यह आशा की जाती है कि वह अपने स्वार्थके पीछे किसी भी अन्य जीवको सतानेके भाव चित्तमें न आने दे और अपना जीवननिर्वाह इस तरीकेसे करे कि उससे

कमसे कम जीवोंका कमसे कम अहित होता हो। जो मनुष्य इस तरहकी सावधानी रखता है वह अहिंसक है।

अहिंसाको व्यवहार्य बनानेके लिये जैसे हिंसाके द्रव्यहिंसा और भावहिंसा भेद किये गये हैं, वैसे ही उसके अन्य भी अनेक भेद किये गये हैं। सबसे प्रथम तो गृहस्थ और साधुकी अपेक्षासे अहिंसा दो भागोंमें बाँट दी गई है। गृहस्थकी अहिंसाकी सीमा जुदी है और साधुकी अहिंसाकी सीमा जुदी है। जो एकके लिये व्यवहार्य है वही दूसरेके लिये अव्यवहार्य है, क्योंकि दोनोंके पद और उत्तरदायित्व विभिन्न हैं। दूसरे गृहस्थकी दृष्टिसे भी उसके अनेक प्रभेद किये गये हैं। यदि उन सीमाओं और भेद प्रभेदोंको भी दृष्टिमें रखकर जैनी अहिंसाको देखा जाये तो हमें विश्वास है कि उसपर अव्यावहारिकताका दोषारोपण नहीं किया जा सकेगा।

गृहस्थकी अहिंसा

हिंसा चार प्रकारकी होती है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी। बिना अपराधके जान बूझकर किसी जीवका वध करनेको संकल्पी हिंसा कहते हैं। जैसे, कसाई पशुवध करता है। जीवन निर्वाहके लिये व्यापार, खेती आदि करने, कल कारखाने चलाने तथा सेनामें नौकर होकर युद्ध करने आदिमें जो हिंसा हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। सावधानी रखते हुए भी भोजन आदि बनानेमें जो हिंसा हो जाती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। और अपनी या दूसरोंकी रक्षाके लिये जो हिंसा करनी पड़ती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

जैनधर्ममें सब संसारी जीवोंको दो भेदोंमें बाँटा गया है एक स्थावर और दूसरा त्रस। जैनधर्मके अनुसार मनुष्य, पशु,

पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदिके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें भी जीव हैं। मिट्टीमें कीड़े आदि जीव तो हैं ही, परन्तु मिट्टीका ढेला स्वयं पृथ्वीकायिक जीवके शरीरका पिंड है। इसी तरह जल बिन्दुमें यंत्रोंके द्वारा दिखाई देनेवाले अनेक जीवोंके अतिरिक्त वह स्वयं जलकायिक जीवके शरीरका पिण्ड है। ऐसे ही अग्नि आदिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। इन जीवोंको स्थावर जीव कहते हैं। और जो जीव चलते फिरते दिखाई देते हैं, जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े वगैरह, वे सब त्रस कहे जाते हैं। इन दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे गृहस्थ स्थावर जीवोंकी रक्षाका तो यथाशक्ति प्रयत्न करता है, और बिना जरूरत न पृथ्वी खोदता है, न जलको खराब करता है, न आग जलाता है. न हवा करता है और न हरी साग सब्जीको या वृक्षोंको काटता है। तथा त्रस जीवोंकी केवल संकल्पी हिंसाका त्याग करता है। इस हिंसाका त्याग कर देनेसे उसके सांसारिक जीवनमें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती; क्योंकि संकल्पी हिंसा केवल मनोविनोदके लिये या दूसरोंको मारकर उनके माँसका भक्षण करनेके लिये की जाती है। खेद है कि मनुष्य 'जिओ और जीने दो' के सिद्धान्तको भुलाकर दिल-बहलावके लिये जंगलमें निर्द्वन्द विचरण करनेवाले पशु पक्षियोंका शिकार खेलता है और उनके माँससे अपना पेट भरता है। यदि मनुष्य ऐसा करना छोड़ दे तो उससे उसकी जीवनयात्रामें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। मनुष्यके दिलबहलावके साधनोंकी कमी नहीं है और पेट भरनेके लिये पृथ्वीसे अन्न और हरी साग सब्जी उपजाई जा सकती है जिससे तरह तरहके स्वादिष्ट भोजन तैयार हो सकते हैं। आजके युगमें वैज्ञानिक साधनोंसे सब जगह खाद्यान्न उपजाया जा सकता है और अनावश्यक

जानवरोंकी पैदायशको भी रोका जा सकता है। यदि मनुष्य यह संकल्प करले कि हम अपने लिये किसी जीवकी हत्या न करेंगे तो वह दूसरी दिशामें और भी अधिक उन्नति कर सकता है।

मांसाहार मनुष्यका प्राकृतिक भोजन नहीं है, उसके दाँतों और आँतोंकी बनावट इसका साक्षी है। न माँसाहारसे वह बल और शक्ति ही प्राप्त होती है जो घी, दूध और फलाहारसे प्राप्त होती है। इसके सिवा माँसाहार तामसिक है, उससे मनुष्यकी सात्विक वृत्तियोंका घात होता है। इसके विषयमें काफी लिखा जा सकता है किन्तु यहाँ उसके लिये उतना स्थान नहीं है। इसी तरह शिकार खेलना भी मनुष्यकी नृशंसता है। व्याघ्र वगैरह हिंसक पशु भी तभी दूसरे जानवरोंपर आक्रमण करते हैं जब उन्हें भूख सताती है। किन्तु मनुष्य उनसे भी गया बीता है, जो डरसे भागते हुए पशुओंके पीछे घोड़ा दौड़ाकर और बाण या बन्दूककी गोलीसे उनको भूनकर अपना दिल बहलाता है। कुछ लोगोंका कहना है कि शिकार खेलनेसे वीरता आती है, इसलिये मृगया करना क्षत्रियका कर्तव्य है। उन्होंने शायद क्रूरता और निर्दयताको ही वीरता समझा है। किन्तु वीरता आन्तरिक शौर्य है जो तेजस्वी पुरुषोंमें समय समय पर अन्याय व अत्याचारका दमन करनेके लिये प्रकट होती है। डरकर भागते हुए मूक पशुओंके जीवनके साथ होली खेलना शूरवीरता नहीं है, कायरता है। जो ऐसा करते हैं, वे प्रायः कायर होते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमने हिन्दू मुस्लिम दंगेके समय बनारसमें देखा। हमारे मुहालमें अधिकतर बस्ती मल्लाहोंकी है। वे इतने क्रूर होते हैं कि बड़े बड़े घड़ियालोंको पकड़ कर साग सब्जीकी तरह काट डालते हैं और खा जाते हैं। किन्तु

हिन्दू मुस्लिम दंगेके समय इनकी कायरता दर्शनीय थी। अपनी लॉरियोंमें बैठ बैठकर सब उस पर भाग गये थे और जो शेष थे वे भी जैन विद्यार्थियोंसे अपनी रक्षा करनेकी प्रार्थना किया करते थे। अतः माँसाहार या शिकार खेलनेसे शूरवीरताका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इनसे बचना चाहिये।

इसी तरह धर्म समझ कर देवीके सामने बकरों, भैंसों और सूकरोंका बलिदान करना भी एक प्रकारकी मूढ़ता और नृशंसता है। इससे देवी प्रसन्न नहीं होती। धर्माराधनके स्थानोंको बूचड़खाना बनाना शोभा नहीं देता। अतः सबसे पहले गृहस्थको धर्मके लिये, पेटके लिये और दिलबहलावके लिये किसी भी प्राणीका घात नहीं करना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि जब जैनधर्मके अनुसार जल तथा वनस्पति वगैरह भी जीवोंका कलेवर ही है, तब निरामिष भोजियोंको वनस्पति वगैरह भी नहीं खाना चाहिये। परन्तु जो सप्तधातु युक्त कलेवर होता है उसकी ही माँस संज्ञा है। वनस्पतिमें सप्तधातु नहीं पाई जाती। अतः उसकी माँस संज्ञा नहीं है। इसी तरह कुछ लोग स्वयं मरे हुए प्राणीके माँसके खानेमें कुछ दोष नहीं बतलाते। यह सत्य है कि जिस प्राणीका वह माँस है, उसे मारा नहीं गया। किन्तु एक तो माँसमें तत्काल अनेक सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है, दूसरे माँस भक्षणसे जो बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, उनसे मनुष्य कभी भी नहीं बच सकता। कहा भी है—

"मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शकुन्य इव दुर्धियः॥"

अर्थात्—'जिसको माँस खानेका चसका पड़ जाता है, उस

प्राणीकी बुद्धि दुष्ट पक्षियोंके समान दूसरे प्राणियोंको मारनेमें लगती है'।

आज माँस भक्षणका बहुत प्रचार है और उसका ही यह फल है कि अपने स्वार्थके पीछे मनुष्य मनुष्यका दुश्मन बना हुआ है। एकको दूसरेका वध करते हुए जरा भी संकोच नहीं होता। अतः इससे बचना चाहिये।

इस तरह गृहस्थको त्रस जीवोंको संकल्पी हिंसाका त्याग जरूर करना चाहिये। अब रह जाती है, उद्योगी आरम्भी और विरोधी हिंसा। एक नीची श्रेणीके गृहस्थके लिये इनका त्याग करना शक्य नहीं है, क्योंकि उसे अपने और अपने कुटुम्बियोंके भरण-पोषणके लिये कोई न कोई उद्योग और कुछ न कुछ आरम्भ अवश्य करना पड़ता है, उसके बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकता। किन्तु उसे ऐसा ही उद्योग और आरम्भ करना चाहिये जिसमें दूसरे प्राणियोंको कमसे कम कष्ट पहुँचनेकी संभावना हो। इसी तरह विरोधी हिंसासे भी गृहस्थ नहीं बच सकता। यद्यपि वह स्वयं किसीसे अकारण विरोध पैदा नहीं करता, किन्तु यदि कोई उसपर आक्रमण करे तो उससे बचनेके लिये वह बराबर प्रयत्न करेगा। आक्रमणकारीका सामना न करके डरकर घरमें छिप जाना अहिंसाको निशानी नहीं है। इस मानसिक हिंसासे तो प्रत्यक्ष हिंसा कहीं अच्छी है। जैन शास्त्रमें तो स्पष्ट लिखा है—

'नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभि भयैर्मनाक्।' पञ्चाध्यायी।

'जैन धर्मका जो सच्चा श्रद्धानी है वह सात प्रकारके भयोंसे सर्वथा अछूता रहता है।'

जैन धर्मके सभी तीर्थंकर क्षत्रियवंशी थे। उन्होंने अपने जीवनमें अनेक दिग्विजय की थीं। मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त, महा-

मेघवाहन सम्राट् खारवेल, वीर सेनापति चामुण्डराय आदि जैन वीर योद्धा तो भारतीय इतिहासके उज्ज्वल रत्न हैं। वस्तुतः जैनधर्म उन क्षत्रियोंका धर्म था जो युद्धस्थलमें दुश्मनका सामना तलवारसे करना जानते थे और उसे क्षमा करना भी जानते थे। जैन क्षत्रियोंके लिये आदेश है—

"यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति न दीनकानीनकदाशयेषु॥"
—यशस्तिलक।

'अस्त्र शस्त्रसे सुसज्जित होकर समराङ्गणमें जो शत्रु बनकर आया हो, या अपने देशका दुश्मन हो उसीपर राजा गण अस्त्रप्रहार करते हैं, कमजोर, निहत्थे कायरोंपर नहीं।'

यही जैनी राजनीति है। अतः जो लोग अहिंसा धर्मपर कायरताका लाञ्छन लगाते हैं, वह भ्रममें हैं। अहिंसामें तो कायरताके लिये स्थान ही नहीं है। अहिंसाका तो पहला पाठ ही निर्भयता है। निर्भयता और कायरता एक ही स्थानमें नहीं रह सकतीं। शौर्य आत्माका एक गुण है, जब वह आत्माके ही द्वारा प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा कहलाता है और जब वह शरीरके द्वारा प्रकट किया जाता है तब वीरता। जैनधर्मकी अहिंसा या तो वीरताका पाठ पढ़ाती है या क्षमाका। आपत्तिकालमें गृहस्थका कर्तव्य बतलाते हुए एक जैनाचार्यने लिखा है—

"अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये॥८१२॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम्।
तावद् द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥८१३॥"
—पञ्चाध्या०।

अर्थात्—'धर्मके आयतन जिन मन्दिर, जिन बिम्ब आदिमें-से किसीपर भी आपत्ति आ जानेपर सच्चे जैनीको उसे दूर करनेके लिये सदा तत्पर रहना चाहिये। अथवा जबतक उसके पास आत्मबल, मंत्रबल, तलवारका बल और धनबल है, तबतक वह उस आपत्तिको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है।'

जो कुछ धर्मपर आई हुई आपत्तिके प्रतीकारके बारेमें कहा गया है वही देशपर आई हुई आपत्तिके बारेमें भी समझना चाहिये। अतः जो लोग ऐसा समझते हैं कि जैनधर्मका अनुयायी सेनामें भर्ती नहीं हो सकता या युद्ध नहीं कर सकता, वे भ्रममें हैं। आजकल जैनधर्मके माननेवाले अधिकांश वैश्य हैं। और सदियोंकी दासता और उत्पीड़नने उन्हें भी कायर और डरपोक बना दिया है। यह अहिंसाधर्मका दोष नहीं है। जबतक भारतपर अहिंसाधर्मी जैनोंका राज्य रहा तबतक भारत गुलाम नहीं हो सका। वे मरना जानते थे और समयपर मारना भी जानते थे किन्तु रणसे विमुख होकर भागना नहीं जानते थे। प्राणोंके मोहसे कर्तव्यच्युत होना तो सबसे बड़ी हिंसा है।

एक बार एक लेखक ने गीता में प्रतिपादित अर्जुन व्यामोह के सम्बन्धमें लिखा था—"अर्जुन का आदर्श अनार्योंका—बौद्ध और जैनोंका मार्ग है। वह आर्योंका-हिन्दू जातिका आदर्श कदापि नहीं है। हिन्दू-जाति ऐसे झूठे अहिंसाके आदर्शको नहीं मानती।" हम नहीं समझते लेखकने इस आदर्शको जैनोंका आदर्श कैसे समझ लिया? गीतासे स्पष्ट है कि अर्जुन हिंसाके भयसे युद्धसे विरत नहीं हो रहा था किन्तु अपने बन्धु बान्धवों और कुलका विनाश उसे कर्तव्यच्युत कर रहा था। अर्जुनके

हृदयमें अहिंसाकी ज्योति नहीं झलकी थी, जिसके प्रकाशमें मनुष्य प्राणिमात्रको अपना बन्धु और संसारको अपना कुटुम्ब मानता है, उसके हृदयमें तो कुटुम्ब मोहने अपना साम्राज्य जमा लिया था। अतः वह अहिंसाका आदर्श नहीं था। अहिंसा कर्तव्यच्युत नहीं करती, किन्तु कर्तव्य और अकर्तव्यका बोध कराकर अकर्तव्यसे बचाती है और कर्तव्यपर दृढ़ करती है। अतः अहिंसा न अव्यवहार्य है और न कायरता और निर्बलता की जननी है। उसकी मर्यादा, व्याख्या और शक्तिसे जो परिचित है वह ऐसा कहनेका साहस नहीं कर सकता।

५—श्रावकका चारित्र

जैन संघके चार अंग बतलाये हैं—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। श्रावकसे मतलब है पुरुष गृहस्थ और श्राविकासे मतलब है स्त्री गृहस्थ। जैन गृहस्थ श्रावक कहे जाते हैं, जिसका अपभ्रंश 'सरावगी' शब्द कहीं कहीं अब भी प्रचलित है। श्रावक और श्राविकाका जैन संघमें बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके बिना मुनि आश्रम चल ही नहीं सकता और उन्हींमेंसे तो आगे चलकर मुनि होते हैं। अतः जैन गृहस्थका आचार एक प्रकारसे मुनि-आचारका नींवरूप है, उसीके ऊपर आगे चलकर मुनि-आचारका भव्य प्रासाद खड़ा होता है। अतः सच्चा जैन गृहस्थ एक आदर्श गृहस्थ होता है।

जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि गृहस्थधर्मका पालन वही कर सकता है जो न्याय से धन कमाता है, गुणी जनोंका आदर करता है, मीठी वाणी बोलता है, धर्म, अर्थ और कामका सेवन इस रीतिसे करता है कि एक दूसरेमें बाधक नहीं होता, लज्जाशील होता है, जिसका आहार और विहार दोनों युक्त होते

हैं, सदा सज्जनोंकी संगतिमें रहता है, और जो शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ, दयालु, पापभीरु और जितेन्द्रिय होता है। जिस गृहस्थमें इतने गुण हों उसके आदर्श गृहस्थ होनेमें सन्देह ही क्या है ? यदि ऐसे सद्गृहस्थ होने लगें तो यही पृथिवी स्वर्गसे भी बढ़कर हो सकती है। किन्तु मनुष्यकी भोगलिप्सा और स्वार्थपरक वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जाती हैं कि वह अपने इन सभी सद्गुणोंको भुला बैठा है और उसका आराध्य केवल काम और अर्थ रह गया है। यदि वह धर्माचरण भी करता है तो उसीकी पूर्तिके लिये करता है। न उसे न्यायका विचार है और न अन्यायका। न उसे दयासे प्रेम है और न पापसे भय। वह इन्द्रियोंका दास बना हुआ है और उसीकी तुष्टिके लिये सब कुछ करता रहता है, अस्तु,

जैन गृहस्थके आठ मूल गुण होते हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का एकदेश पालन तथा मांस, मधु और मदिराका सर्वथा त्याग। मूल जड़को कहते हैं—ये आगे बढ़नेके लिये जड़रूप हैं इसलिये इन्हें मूलगुण कहते हैं। इनके बिना कोई जैन श्रावक नहीं कहा जा सकता।

अहिंसाणुव्रत

जैन सिद्धांतमें जीव दो प्रकारके बतलाये हैं स्थावर और त्रस। जो जीव चलते फिरते हैं जैसे मनुष्य, पशु, चींटी, लट, जूँ वगैरह, उन्हें त्रस कहते हैं। और जो जीव पृथ्वीरूप हैं, जलरूप है, अग्निरूप हैं, वायुरूप हैं और वनस्पतिरूप हैं उन्हें स्थावर कहते हैं। गृहस्थ स्थावर जीवोंकी हिंसासे तो बच ही नहीं सकता, उसे अपने जीवन निर्वाहके लिये इन सब वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, हाँ सावधानी उनके प्रति भी रखता है, जैसा आगे बतलाया गया है। अब रह जाते हैं

त्रस। त्रसोंकी हिंसा चार प्रकारकी होती है संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमेंसे वह केवल संकल्पी हिंसाका त्याग करता है। इनका विशेष विवेचन पहले 'अहिंसा' के प्रकरणमें कर दिया गया है। शास्त्रकारोंने लिखा है—

"इत्यनारम्भजां जह्याद् हिंसामारम्भजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद् गृही ॥ १० ॥" सागारधर्मा०।

'आरम्भके सिवा अन्य कार्योंमें होनेवाली हिंसाको गृहस्थ छोड़ दे, और खेती आदि आरम्भोंमें होनेवाली हिंसाको व्यर्थकी स्थावर हिंसाकी तरह यथाशक्ति बचानेका प्रयत्न करे।'

आरम्भमें होनेवाली हिंसाके सिवा दिलबहलावके लिये, स्वादके लिये, चमड़ेके सामान जूते वगैरह बनानेके लिये और धर्मके लिये जो पशुहत्या की जाती है वह सब छोड़ देना चाहिये। और जीवित पशुओंको मारकर उनके ताजे और मुलायम चमड़ेसे जो चीजें बनाई जाती हैं उनका भी व्यवहार नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उनके वधको प्रोत्साहन मिलता है। चूँकि जो गृहस्थ जीवन बिताता है उसका निर्वाह बिना किसी उद्योग धन्धेके चल नहीं सकता, इसलिये आरम्भी हिंसा तो एक गृहस्थके लिये अपरिहार्य है, किन्तु गृहस्थको ऐसा उद्योग करना चाहिये जिसमें जीवघात कमसे कम हो, और उतना ही उद्योग करना चाहिये जितनेसे उसका निर्वाह बखूबी हो सकता हो, क्योंकि जो गृहस्थ थोड़े आरम्भ और थोड़ी परिग्रहमें सन्तुष्ट रहता है वही अहिंसा अणुव्रतको पाल सकता है। जिसे रात-दिन धनकी चिन्ता सताती रहती है, जो रात-दिन नये नये कल कारखाने खोलकर धनसंग्रह करनेमें तत्पर रहता है और अपने कर्मचारियों और नौकरोंको कमसे कम देकर उनसे अधिकसे अधिक काम कराता है, न्याय और अन्यायका कतई विचार नहीं

करता वह क्या स्वाक अहिंसाको पाल सकता है ? अहिंसा सन्तोषीके लिये है, असन्तोषी कभी अहिंसक हो ही नहीं सकता। गृहस्थका यह कर्तव्य बतलाया है कि वह अपने आश्रितों और यथाशक्ति अनाश्रितोंको भी पहले भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करे। जो सन्तोषी होगा वही ऐसा कर सकता है। असन्तोषी तो पहले अपना पेट ही नहीं, किन्तु अपने भण्डारको भरनेकी चिन्ता करेगा, उसको दृष्टिमें तो आश्रितोंकी चिन्ता करना ही बेकार है। वह समझता है कि मैंने मोलभाव करके उन्हें रखा है, हर महीने उन्हें उसके अनुसार वेतन दे दिया जाता है। उतनेमें उनका और उनके बालबच्चोंका पेट भरो या मत भरो। इतनेमें यदि वे काम नहीं करना चाहते तो न करें हम दूसरे आदमी रख लेंगे। बाजारमें आदमियोंकी कमी नहीं है। ऐसे विचारवाला मनुष्य कोरा व्यापारी है किन्तु अहिंसक व्यापारी नहीं है। अहिंसक व्यापारी तो वह है जो अपनी ही तरह अपने आश्रितोंकी भी चिन्ता करता है और उनके ऊपर जोर जुल्म न करके उन्हें समयपर भरपेट भोजन देता है और उतना ही काम लेता है जितना वे कर सकते हों। यह बात अपने आश्रित मनुष्यों और पशुओं दोनोंके सम्बन्धमें समान-रूपसे लागू होती है। जैन शास्त्रकारोंने अहिंसा अणुव्रतके पाँच दोष बतलाये हैं और उनसे बचते रहनेकी ताकीद की है। वे दोष इस प्रकार हैं—

(१) बुरे इरादेसे मनुष्य और पशुओंको रस्सी वगैरहसे बाँधना। नौकर चाकरोंको तो गुस्सेमें आकर मालिक लोग बँधवा डालते हैं, किन्तु पालतू पशु तो बिना बाँधे रह नहीं सकते। इसलिये उनको इस तरहसे बाँधना चाहिये कि यदि कभी घरमें आग लग जाये तो वे बन्धन छुड़ाकर भाग सकें।

(२) क्रूरता पूर्वक डण्डे या कोड़ेसे पीटना।

(३) निर्दय होकर हाथ, पैर, कान, नाक वगैरहका काट डालना। किन्तु यदि किसी पशु या मनुष्यके शरीरका कोई अवयव सड़ गया हो या शरीरमें फोड़ा हो गया हो तो उसके काटने या चीरनेमें कोई दोष नहीं है।

(४) गुस्सेमें आकर या लोभसे मनुष्य या पशुके ऊपर उसकी शक्तिसे ज्यादा बोझा लादना या शक्तिसे अधिक काम लेना। श्रावकको चाहिये कि मनुष्य जितना बोझा स्वयं उठाकर ले जा सके और उतार कर नीचे रख सके उतना ही बोझा उससे उठवाये और रखवाये। इसी तरह चौपाया जितना बोझा लादकर अच्छी तरह चल सके उतना ही उसपर लादे। उसमें भी समयका ध्यान अवश्य रखे। उचित समय तक ही उनसे काम लेना चाहिये। यदि श्रावक खेती करता हो तो हल और गाड़ी वगैरहमें बैलोंको समयसे जोते और समयसे छोड़ दे। शक्तिसे अधिक काम लेना भी हिंसा ही है।

(५) तथा भूख प्याससे पीड़ित प्राणी मर भी जाता है इसलिये खाना किसीका भी न रोकना चाहिये। यदि किसीने अपराध किया हो तो उसे डाटनेके लिये मुँहसे यह चाहे कह दे कि आज तुझे भोजन नहीं मिलेगा, किन्तु भोजनका समय आनेपर तो नियमसे दूसरोंको खिलाकर ही स्वयं खाना चाहिये। हाँ, यदि कोई अपना आश्रित बीमार हो या उसने स्वयं ही उपवास किया हो तो बात दूसरी है। अतः श्रावकको इस बातका बराबर ध्यान रखना चाहिये कि अहिंसाव्रतमें दोष न आने पाये।

यदि अहिंसाव्रती श्रावक अपने आश्रितोंके साथ ऐसा प्रेममय व्यवहार रखे तो उसे इससे आर्थिक दृष्टिसे भी लाभ ही रहेगा, क्योंकि प्रेममय व्यवहारसे कर्मचारीगण उसके कामको अपना समझकर

दिल लगाकर काम करेंगे और उसके हानि-लाभको अपना हानि-लाभ गिनेंगे। इस तरहसे अहिंसामूलक व्यवहार स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही दृष्टिसे लाभदायक है। यदि जमींदार और मिलमालिक अपने आश्रित किसानों और मजदूरोंके साथ ऐसा ही प्रेममय व्यवहार करते आते तो आज उन दोनोंके बीचमें जो खींचातानी चलती रहती है वह उतना कटुरूप धारण न करती और न जमींदारी और कल-कारखानोंपर सरकारी नियंत्रणकी बात ही पैदा होती। अस्तु

रात्रिभोजन और जलगालन

अहिंसाव्रती श्रावकको रातमें भोजन नहीं करना चाहिये और पानी भी कपड़ेसे छानकर काममें लेना चाहिये। रातमें भोजन करनेके दुष्परिणाम प्रायः समाचारपत्रोंमें प्रकट होते रहते हैं। कहीं चायकी केटलीमें छिपकलीके घुर जानेके कारण चाय पीनेवाले मनुष्योंका मरण सुननेमें आता है, कभी किसी दावतमें पकते हुए बरतनमें साँपके रंध जानेके कारण मनुष्योंका मरण सुननेमें आता है। प्रतिवर्ष इस तरहकी दो चार घटनाएँ घटती रहती हैं, मगर फिर भी मनुष्योंकी आँखें नहीं खुलतीं। भोजन हमेशा दिनके प्रकाशमें ही देख भालकर करना चाहिये। रात्रिमें तेजसे तेज प्रकाशका प्रबन्ध होनेपर भी एक तो उतना स्पष्ट दिखलाई नहीं देता, जितना दिनमें दिखलाई देता है। दूसरे, सूर्यके प्रकाशमें जो जीव जन्तु इधर उधर जा छिपते हैं, रात्रि होते ही वे सब अपने अपने खाद्यकी खोजमें निकल पड़ते हैं, कृत्रिम प्रकाश उन्हें रोक नहीं सकता, बल्कि अधिक तेज-प्रकाशसे पतंगे वगैरह और भी अधिक आते हैं। खानेवाला भोजन करता जाता है और पतंगे वगैरह टप टप गिरते रहते

हैं। रात्रिको हलवाईकी दूकानपर जाकर देखें। नीचे भट्टीपर दूधकी कढ़ाही चढ़ी होती है और ऊपर बिजलीके बल्बपर पतंगे मंडराते रहते हैं और कढ़ाईमें गिर गिरकर पीनेवालोंके लिये मलाईका लच्छा बनानेका काम करते रहते हैं। पास ही छिपकली उनके शिकारके लिये लपकती रहती है, जो कभी-कभी दूधमें भी जा पड़ती है। एक बार इसी तरहके दूधको जमा दिया गया। सुबहको जिस जिसने उस दूधके दहीकी लस्सी पी उसीकी हालत खराब हो गई। पीछे दहीके कुंडेमें नीचे छिपकली मरी हुई पाई गई। यदि भोजनमें जूं खा ली जाये तो जलोदर रोग हो जाता है और मकड़ी खा ली जाये तो कुष्ठ हो जाता है। तथा वैद्यकशास्त्रके अनुसार भी भोजन करनेके तीन घंटेके पश्चात् जब खाये हुए भोजनका परिपाक होने लगे तब शय्यापर सोनेका विधान किया गया है। जो लोग रात्रिमें भोजन करते हैं वे प्रायः भोजन करके पड़ रहते हैं और विषयभोगमें लग जाते हैं। इससे स्वास्थ्यकी बड़ी हानि होती है। अतः नीरोगताकी दृष्टिसे भी दिनमें ही भोजन करना हितकर है।

इसी तरह पानी भी हमेशा छानकर ही काममें लेना चाहिये। बिना छने पानीमें यदि कीड़े हों तो वे पेटमें जाकर अनेक संक्रामक रोग पैदा करते हैं। जब हैजा वगैरह फैला होता है तब पानीको पकाकर पीनेकी सलाह दी जाती है। वास्तवमें पका हुआ पानी कभी भी विकार नहीं करता। जैन साधु पका पानी ही काममें लाते हैं। किन्तु जैन गृहस्थोंको पके पानीका तो नियम नहीं कराया जाता, किन्तु छने पानीका नियम कराया जाता है। अनछने पानीसे छना पानी साफ होता है और छने पानीसे पका पानी शुद्ध होता है। आजकल तो जगह जगह नल लगे हुए हैं। किन्तु नलोंका पानी भी छानकर

ही काममें लेना चाहिये; क्योंकि नलोंके पानीमें भी जंग मिट्टी वगैरह मिली आती है, जो कपड़ेपर जम जाती है। एक बार तो एक सपोलिया (साँपका बच्चा) कहींसे नलमें आ गया था। अतः चाहे नलका पानी हो या कुँएका हो या नदीका हो, सबको छानकर ही काममें लेना चाहिये। इससे हम अनेक रोगों और कष्टोंसे बच जाते हैं। एक बार समाचारपत्रमें मुरादाबाद जिलेकी एक घटना प्रकाशित हुई थी। एक लड़का रातको खाटके नीचे पानी रखकर सो गया। उसमें बिच्छु गिर गया। अचानक लड़केको रातमें प्यास लगी और उसने बिना देखे ही गिलास उठाकर मुँहसे लगा लिया। बिच्छु उसके मुँहमें चला गया और उसके हलक में चिपट कर डंक मारने लगा। लड़का तिलमिला उठा। बहुत उपचार किया गया मगर बिच्छू छुड़ाया न जा सका। आखिर लड़के ने तड़फ तड़फ कर जान दे दी। ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाओंसे शिक्षा लेना चाहिये और रात्रि भोजन तथा बिना छने पानीसे बचना चाहिये। धार्मिक विषयोंमें केवल धर्मको ही मर्यादा नहीं है, उनमें व्यक्ति और समाजका सामूहिक हित भी छिपा हुआ है।

सत्याणुव्रत

जो वस्तु जैसी देखी हो या सुनी हो, उसको वैसा ही न कहना लोकमें असत्य कहलाता है, परन्तु जैनधर्ममें सत्य स्वयं कोई स्वतत्र व्रत नहीं है, किन्तु अहिंसाव्रतकी रक्षा करना ही उसका लक्ष्य है। इसलिये जैनधर्ममें जो वचन दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके उद्देश्यसे बोला जाता है वह सत्य होनेपर भी असत्य कहलाता है। जैसे, काने पुरुषको काना कहना यद्यपि सत्य है, किन्तु यदि उससे उस मनुष्यके दिलको चोट पहुँचती है, या

यदि उसे चोट पहुँचानेके विचारसे काना कहा जाता है तो वह असत्यमें ही गिना जायेगा। इसी दृष्टिसे यदि सत्य बोलनेसे किसीके प्राणोंपर संकट बन आता हो तो उस अवस्थामें सत्य बोलना भी बुरा कहा जायेगा। किन्तु ऐसे समयमें असत्य बोलकर किसीके प्राणोंकी रक्षा करनेसे यदि उसके जुल्म और अत्याचारोंसे दूसरोंके प्राणोंपर संकट आनेकी संभावना हो तो उक्त नियममें अपवाद भी हो सकता है; क्योंकि यद्यपि व्यक्तिके जीवनकी रक्षा इष्ट है, किन्तु व्यक्तिके जुल्म और अत्याचारोंकी रक्षा किसी भी अवस्थामें इष्ट नहीं है। जुल्म और अत्याचारोंके परिशोधके लिये व्यक्ति या व्यक्तियोंकी जान ले लेनेकी अपेक्षा उनका सुधार कर देना अति उत्तम है, किन्तु यदि यह शक्य न हो तो अन्याय और अत्याचारको सहायता देना तो कभी भी उचित नहीं है। मगर व्यक्ति सुधर सकता है और इसलिये उसे अवसर अवश्य देना चाहिये। प्राणरक्षाके लिये असत्य बोलनेके मूलमें यही भाव हैं।

असत्य वचनके अनेक भेद हैं, जैसे—(१) मनुष्यके विषयमें झूठ बोलना। शादी विवाहके अवसरोंपर विरोधियोंके द्वारा इस तरहके झूठ बोलनेका प्रायः चलन है। विरोधी लोग विवाह न होने देनेके लिये किसीकी कन्याको दूषण लगा देते हैं, किसीके लड़केमें बुराइयाँ बतला देते हैं। (२) चौपायोंके विषयमें झूठ बोलना। जैसे थोड़ा दूध देनेवाली गायको बहुत दूध देनेवाली बतलाना या बहुत दूध देनेवाली गायको थोड़ा दूध देनेवाली बतलाना। (३) अचेतन वस्तुओंके विषयमें झूठ बोलना। जैसे—दूसरेकी जमीनको अपनी बतलाना या टैक्स वगैरहसे बचनेके लिये अपनी जमीनको दूसरेकी बतलाना। (४) लांचके लोभसे या ईर्षा होनेसे किसी सच्ची घटनाके विरुद्ध गवाही देना।

५—अपने पास रखी हुई किसी की धरोहरके सम्बन्धमें असत्य बोलना। ये और इस तरहके अन्य झूठ वचन गृहस्थको नहीं बोलना चाहिये। इनसे मनुष्यका विश्वास जाता रहता है और अनाचारको भी प्रोत्साहन मिलता है, तथा जिनके विषयमें झूठ बोला गया है उन्हें दुःख पहुँचता है और वे अपनी जानके वैरी बन जाते हैं। जो लोग कार रुजगारमें अधिक झूठ बोलते हैं और सच्चा व्यवहार नहीं रखते, बाजारमें भी उनकी साख जाती रहती है। लोग उन्हें झूठा समझने लगते हैं और उनसे लेन-देन तक बन्द कर देते हैं।

बहुतसे लोग झूठ बोलनेकी आदत न होनेपर भी कभी कभी क्रोधमें आकर झूठ बोल जाते हैं, कुछ लोग लोभमें फँसकर झूठ बोल जाते हैं, कुछ लोग पुलिस वगैरहके डरसे झूठ बोल जाते हैं और कुछ लोग हँसी मजाकमें झूठ बोल जाते हैं। अतः सत्यवादीको क्रोध, लालच और भयसे भी बचना चाहिये और हँसी मजाकके समय तो एकदम सावधान रहना चाहिये; क्योंकि हँसी मजाकमें झूठ बोलनेसे लाभ तो कुछ भी नहीं होता, उल्टे झगड़ा टंटा बढ़ जानेका ही भय रहता है और आदत भी बिगड़ती है।

अचौर्याणुव्रत

जो मनुष्य चुरानेके अभिप्रायसे दूसरेकी एक तृण मात्र वस्तुको भी ले लेता है या उठाकर दूसरेको दे देता है वह चोर है, और जो इस तरहकी चोरीका त्याग कर देता है वह श्रावक अचौर्याणुव्रती कहा जाता है। किन्तु जो वस्तुएँ सर्वसाधारणके उपयोगके लिये हैं, जैसे पानी मिट्टी वगैरह, उनको वह बिना किसीसे पूछे ले सकता है। इसी तरह जिस कुटुम्बीके धनका उत्तराधिकार

उसे प्राप्त है, यदि वह मर जाये तो उसका धन भी ले सकता है। किन्तु उसकी जीवित अवस्थामें उससे उसका छीन लेना चोरी ही कहा जायेगा। यदि कभी अपनी ही वस्तुमें यह संदेह हो जाये कि ये मेरी है या नहीं? तो जबतक वह सन्देह दूर न हो तबतक उस वस्तुको नहीं अपनाना चाहिये।

तथा चोरीको बुरा समझकर छोड़ देनेवालोंको नीचे लिखे कार्य भी नहीं करना चाहिये —

१–किसी चोरको स्वयं या दूसरेके द्वारा चोरी करनेकी प्रेरणा करना और कराना या उसकी प्रशंसा करना। तथा कैंची वगैरह चोरीके औजारोंको बेचना या चोरोंको अपनी ओरसे देना। जैसे, 'तुम बेकार क्यों बैठे हो? यदि तुम्हारे पास खानेको नहीं है तो मैं देता हूँ। यदि तुम्हारे चुराये हुए मालका कोई खरीदार नहीं है तो मैं उसे बेच दूँगा। इस प्रकारके वचनोंसे चोरोंको चोरीमें लगाना भी एक तरहसे चोरी ही है।

२–चोरीका माल खरीदना। जो लोग ऐसा काम करते हैं वे समझते हैं कि हम तो व्यापार करते हैं, चोरी नहीं करते। किन्तु चोरीका माल खरीदनेवाला भी चोर ही समझा जाता है, तभी तो ऐसा देन-लेन छिपकर होता है।

३–बाट तराजू गज वगैरह कमती या बढ़ती रखना। कमतीसे तोलकर दूसरोंको देना और बढ़तीसे तोलकर स्वयं लेना।

४–किसी वस्तुमें कम कीमतकी समान वस्तु मिलाकर बेचना। जैसे, धान्यमें मरा हुआ धान्य, घीमें चर्बी, हींगमें खैर, तेलमें मूत्र, खरे सोने चाँदीमें मिलावटी सोना चाँदी आदि मिलाकर बेचना। व्यापारी समझता है कि ऐसा करके मैं चोरी नहीं कर रहा हूँ यह तो व्यापारकी एक कला

है, किन्तु उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है; क्योंकि इस तरहके व्यवहारसे वह दूसरोंको ठगता है और इसलिये ऐसा करना निन्दनीय है।

५–राज्यमें गड़बड़ उत्पन्न होनेपर वस्तुओंका मूल्य बढ़ा देना, जैसा युद्धके जमानेमें किया गया है। या एक राज्यके निवासीका छिपकर दूसरे राज्यमें प्रवेश करना और वहाँका माल वहाँ ले जाना या वहाँका माल यहाँ लाना। इसी तरह बेटिकिट यात्रा करना, चुंगी महसूल आयकर वगैरह छिपाना, इस तरहके कार्य चोरी ही समझे जाते हैं। अतः इनसे बचना चाहिये।

ऊपर जो बातें बतलाई गई हैं यद्यपि वे व्यापारको लेकर ही बतलाई गई हैं, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि चोरीके काम व्यापारी ही करते हैं और राजा या उसके कर्मचारी नहीं करते। यदि वे भी राज्यमें चोरी करवाएँ, चोरीका माल खरीदें, चोरोंसे लाच घूस वसूल करें, राजाकी ओरसे वस्तुओंकी खरीद होनेपर कमती बढ़ती दें लें, और अपने राज्य या देशके विरुद्ध काम करें तो वे भी चोरीके दोषके भागीदार कहे जायेंगे।

वास्तवमें धन मनुष्यका प्राण है, अतः जो किसीका धन हरता है वह उसके प्राण हरता है। यह समझ कर किसीको किसी-की चोरी नहीं करनी चाहिये।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

कामवासना एक रोग है और उसका प्रतिकार भोग नहीं है। भोगसे तो यह रोग और भी अधिक बढ़ता है। किन्तु जिनके चित्त में यह बात नहीं जमती, या जमनेपर भी जो अपनी कामवासनाको रोकनेमें असमर्थ हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी

विवाहिता पत्नीमें ही सन्तोष रक्खें। इसीका नाम ब्रह्मचर्याणुव्रत है। ब्रह्मचर्याणुव्रती अपनी पत्नीके सिवा जितनी भी स्त्रियाँ हैं, चाहे वे विवाहित हों, अविवाहित हों अथवा वेश्या हों, उनसे रमण नहीं करता है और न दूसरोंसे ही ऐसा कराता है। ऐसा न करनेका कारण इज्जत आबरूका सवाल नहीं है, किन्तु इस कामको वह अन्तःकरणसे पाप समझता है। जो केवल अपनी मान प्रतिष्ठाके भयसे ऐसे कार्योंसे बचता है, वह ऐसे कार्योंको बुरा नहीं समझता और इसलिये जहाँ उसे अपनी मान प्रतिष्ठा जानेका भय नहीं रहता, वहाँ वह ऐसे अनाचार कर बैठता है। और कर बैठनेपर कभी कभी धोखेमें मानप्रतिष्ठा भी गँवा देता है। किन्तु जो ऐसे कार्योंको पाप समझता है वह सदा उनसे बचा रहता है। इसलिये पाप समझकर ही उनसे बचे रहनेमें हित है। परस्त्रीगमन और वेश्यागमनकी बुराइयाँ सब कोई जानते हैं, मगर फिर भी मनुष्य अपनी वासनापर काबू न रख सकनेके कारण अनाचार कर बैठते हैं। अनेक युवक छोटे लड़कोंके साथ कुत्सित काम कर बैठते हैं और अपने तथा दूसरोंके जीवनको धूलमें मिला देते हैं। कुछ हस्तमैथुनके द्वारा अपनी कामवासनाको तृप्त करते हैं। ये काम तो परस्त्रीगमन और वेश्यागमनसे भी अधिक निन्दनीय हैं। किन्तु आजकलकी शिक्षाका लक्ष इस तरहके अनाचारोंको रोकनेकी ओर कतई नहीं रहा है। शिक्षार्थी अपना जीवन कैसे बिताता है कोई शिक्षक या प्रबन्धक इधर ध्यान नहीं देता। सब जगह शिक्षाकी भी खानापूर्ति की जाने लगी है। जो ऐसे अनाचारोंमें पड़ जाते हैं वे अपने और दूसरोंके आत्मा और शरीर दोनोंका ही घात करते हैं और इसलिये वे किसी भी हिंसकसे कम नहीं हैं। अतः जो अपनी आध्यात्मिक और लौकिक

उन्नति करना चाहते हैं और चाहते हैं कि समाजमें इस तरहका अनाचार न फैले, उन्हें काम वासनाका केन्द्र केवल अपनी पत्नीको ही बनाना चाहिये और उसके सिवा संसारकी समस्त स्त्रियोंको अपनी माता बहिन या पुत्री समझना चाहिये तथा छोटे लड़कोंको अपना भाई या पुत्र समझकर उन्नत बनाना चाहिये।

पत्नीको कामवासनाका केन्द्र बनानेसे कोई यह न समझ लें कि एक पत्नीव्रत या विवाह अनियंत्रित कामाचारका सार्टिफिकेट है। वह तो कामरोगको शान्त करनेकी औषधि है। स्तम्भक और उत्तेजक औषधियोंके द्वारा रोगको बढ़ाकर स्त्रीरूपी औषधिका अधिक सेवन करना तो औषधिके साथ अत्याचार करना है। ऐसे अत्याचारके फलस्वरूप ही आजकल विवाहित लड़के और लड़कियाँ क्षय रोगसे ग्रस्त होकर अकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं। अतः अनियंत्रित कामाचार भी आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्यको चौपट कर देता है, इसलिये उससे भी बचना ही चाहिये।

प्रत्येक सद्गृहस्थको नीचे लिखी बातोंसे बचनेकी सलाह दी गई है—

१–दुराचारिणी स्त्रियोंसे बचते रहो। २–मुँहसे अश्लील बातें मत बको। ३–शक्ति से अधिक काम सेवन मत करो। ४–अप्राकृतिक मैथुनसे बचो। ५–और दूसरोंके वैवाहिक सम्बन्धोंके झगड़ेमें मत पड़ो। जो बातें पुरुषोंके लिये कही गई हैं वे ही स्त्रियोंके लिये भी हैं। स्त्रियोंको भी पर-पुरुष और अधिक कामाचारसे बचना चाहिये, और अपनेको संयत रखनेकी चेष्टा करना चाहिये।

परिग्रह परिमाणव्रत

स्त्री, पुत्र, घर, सोना आदि वस्तुओंमें 'ये मेरी हैं' इस तरहका जो ममत्व रहता है उस ममत्व परिणामको परिग्रह कहते हैं। और ममत्वको घटाकर उन वस्तुओंके घटानेको परिग्रह परिमाणव्रत कहते हैं। लोकमें तो रुपया पैसा जमीन जायदाद ही परिग्रह कहलाता है। किन्तु वास्तवमें तो मनुष्यका ममत्व भाव परिग्रह है। इन बाहिरी चीजोंको तो उस ममत्वका कारण होनेसे परिग्रह कहा जाता है। यदि बाहिरी चीजोंको ही परिग्रह माना जायेगा तो जिन असंख्य लोगोंके पास कुछ भी नहीं, किन्तु उनके चित्तमें बड़ी बड़ी आकाक्षाएँ हैं वे सब अपरिग्रही कहलायेंगे। किन्तु बात ऐसी नहीं है। सच्चा अपरिग्रही वही है जिसके पास कुछ भी नहीं है और न जिसके चित्तमें किसी चीजकी चाह ही है; क्योंकि चाह होनेपर मनुष्य परिग्रहका संचय किये बिना नहीं रह सकता। और संचयकी वृत्ति आनेपर न्याय अन्याय और युक्त अयुक्तका विचार नहीं रहता। फिर तो मनुष्य धनका कीड़ा बन जाता है, वह धनका स्वामी न रहकर उसका दास हो जाता है। द्रव्य दान करके भी उससे उसका ममत्व नहीं छूटता। उसे वह अपने पास ही रखना चाहता है। उसे भय रहता है कि उसके दिये हुए द्रव्यको कोई हड़प न जाये। वह चाहता है कि उससे उसकी खूब कीर्ति हो, लोग उसका गुणगान करें, उसके दोषोंपर परदा डाल दिया जाये, अखबारोंमें उसकी खूब बड़ाई छापी जाये। यह सब ममत्व-भावका ही फल है। उससे छुटकारा मिले बिना परिग्रहसे छुट-कारा नहीं मिल सकता। देखा जाता है कि जब तक हम किसी वस्तुको अपनी नहीं समझते तब तक उसके भले बुरेसे न हमें

प्रसन्नता होती है और न रंज। किन्तु ज्योंही किसी वस्तुमें 'यह हमारी है' ऐसी भावना ही जाती है त्योंही मनुष्य उसकी चिन्तामें पड़ जाता है। इसलिये ममत्व ही परिग्रह है। उसके कम किये बिना परिग्रहरूपी पापसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

जैसे रुपया वगैरह बाह्य परिग्रह है वैसे ही काम, क्रोध, मद, मोह आदि भाव अभ्यन्तर परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रहके समान ही इन आन्तर परिग्रहोंको भी घटाना चाहिये। परिग्रहको घटानेका एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर रुपया पैसा जमीन जायदाद वगैरह सभी वस्तुओंकी एक मर्यादा नियत कर ले कि इससे ज्यादा मैं अपने पास नहीं रखूँगा। ऐसा करनेसे उसके पास अनावश्यक द्रव्यका संग्रह भी नहीं हो सकेगा; और आवश्यकताके अनुसार द्रव्य उसके पास होनेसे स्वयं उसे भी कोई कष्ट न होगा। साथ ही साथ वह बहुत सी व्यर्थकी हाय हायसे भी बच जायेगा और अपना जीवन सुख और सन्तोषके साथ व्यतीत कर सकेगा। आज दुनियामें जो आर्थिक विषमता फैली हुई है उसका कारण मनुष्यकी अनावश्यक संचयवृत्ति ही है। यदि सभी मनुष्य अपनी अपनी आवश्यकताके अनुसार ही वस्तुओंका संचय करें और अनावश्यक संग्रहको समाजके उन दूसरे व्यक्तियोंको सौंप दें जिनको उसकी आवश्यकता है तो आज दुनियामें जितनी अशान्ति मची हुई है उतनी न रहे और सम्पत्तिके बटवारेका जो प्रश्न आज दुनियाके सामने उपस्थित है, वह बिना किसी कानूनके स्वयं ही बहुत कुछ अंशोंमें हल हो जाये।

दुनियाकी अनियंत्रित इच्छाको लक्ष्य करके जैनाचार्य श्री गुणभद्र स्वामीने संसारके प्राणियोंको सम्बोधन करते हुए कहा है—

"आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥३६॥" आत्मानु० ।

'प्रत्येक प्राणीमें आशाका इतना बड़ा गढ़ा है जिसमें यह विश्व अणुके बराबर है। ऐसी स्थितिमें यदि इस विश्वका बँटवारा किया जाये तो किसके हिस्सेमें कितना आयेगा ? अतः संसारके तृष्णालु प्राणियों तुम्हारी विषयोंकी चाह व्यर्थ ही है।'

अतः प्रत्येक श्रावकको विश्वकी सम्पत्ति और उसकी चाहमें तड़फनेवाले असंख्य प्राणियोंका विचार करके धनकी तृष्णासे विरत ही रहना चाहिये; क्योंकि न्यायकी कमाईसे मनुष्य जीवन निर्वाह कर सकता है किन्तु धनका अटूट भण्डार एकत्र नहीं कर सकता। अटूट भण्डार तो पापकी कमाईसे ही भरता है, जैसा कि उन्हीं गुणभद्राचार्यने कहा है—

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः ।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥४५॥" आत्मानु० ।

'सज्जनोंकी भी सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धनसे नहीं बढ़ती। क्या कभी नदियोंको स्वच्छ जलसे परिपूर्ण देखा गया है।'

नदियाँ जब भी भरती हैं तो वर्षाके गंदे पानीसे ही भरती हैं, उसी तरह धनकी वृद्धि भी न्यायकी कमाईसे नहीं होती। अतः आवश्यक धनका परिमाण करके मनुष्यको अन्यायकी कमाईसे बचना चाहिये। इससे वह स्वयं सुखी रहेगा और दूसरे लोग भी उसके दुःखके कारण नहीं बनेंगे।

इस व्रतके भी पाँच दोष हैं, जिनसे बचना चाहिये—१-लोभमें आकर मनुष्य और पशुओंसे शक्तिसे अधिक काम लेना। २-धान्य वगैरह आगे खूब मुनाफा देगा इस लोभसे धान्यादिकका अधिक संग्रह करना, जैसा युद्धकालमें किया गया

है। ३—इस तरहके धान्य-संग्रहको थोड़े लाभसे बेच देनेपर या धान्यका संग्रह ही न करनेपर या दूसरोंको धान्य-संग्रहसे अधिक लाभ होता हुआ देखकर खेदखिन्न होना। ४—पर्याप्तलाभ उठाने पर भी उससे अधिक लाभकी इच्छा करना। ५—और अधिक लाभ होता हुआ देखकर धनादिककी की हुई मर्यादाको बढ़ा लेना।

श्रावकके भेद

श्रावकके तीन भेद हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। जो एक देशसे हिंसाका त्याग करके श्रावक धर्मको स्वीकार करता है उसे पाक्षिक श्रावक कहते हैं। जो निरतिचार श्रावक धर्मका पालन करता है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। और जो देश चारित्रको पूर्ण करके अपनी आत्माकी साधनामें लीन हो जाता है, उसे साधक श्रावक कहते हैं। अर्थात् प्रारम्भिक दशाका नाम पाक्षिक है, मध्यदशाका नाम नैष्ठिक है और पूर्णदशाका नाम साधक है। इस तरह अवस्था भेदसे श्रावकके तीन भेद किये गये हैं। इनका विशेष परिचय नीचे दिया जाता है।

पाक्षिक श्रावक

पाक्षिक श्रावक पहले कहे गये आठ मूल गुणोंका पालन करता है। उत्तरकालमें आठमूल गुणोंमें पाँच अणुव्रतोंके स्थानमें पाँच क्षीरिफलोंको लिया गया है। जिस वृक्षमेंसे दूध निकलता है उसे क्षीरिवृक्ष या उदुम्बर कहते हैं। उदुम्बर फलोंमें जन्तु पाये जाते हैं। इसीसे अमरकोषमें उदुम्बरका एक नाम जन्तु-फल भी है और एक नाम 'हेमदुग्धक' है, क्योंकि उसमेंसे निकलनेवाले दूधका रंग पीलेपनको लिये हुए होता है। पीपल, वट,

पिलखन, गूलर और काक उदुम्बरी इन पाँच प्रकारके वृक्षोंके फलोंको नहीं खाना चाहिये, क्योंकि इनमें साक्षात् जन्तु पाये जाते हैं। पेड़से गिरते ही गूलरके फूट जानेपर उसमेंसे उड़ते हुए जन्तुओंको हमने स्वयं देखा है। अतः ऐसे फलोंको नहीं खाना चाहिये तथा मद्य, माँस और मधुसे बचना चाहिये। प्रत्येक पाक्षिकको इतना तो कमसे कम करना ही चाहिये। लिखा है—

'पिप्पलोदुम्बरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥१३॥' सागारधर्मा०।

'पीपल, गूलर, पिलखन, वट और काक उदुम्बरीके हरे फलोंको जो खाता है वह त्रस अर्थात् चलते फिरते हुए जन्तुओं-का घात करता है; क्योंकि उन फलोंके अन्दर ऐसे जन्तु पाये जाते हैं। और जो उन्हें सुखाकर खाता है, वह उनमें अति आसक्ति होनेके कारण अपनी आत्माका घात करता है।'

अतः प्राथमिक श्रावकको इस तरहके फल नहीं खाना चाहिये। तथा रातको भोजन नहीं करना चाहिये और सदा पानीको छान-कर काममें लाना चाहिये। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहके छोड़नेका यथाशक्ति अभ्यास करना चाहिये। तथा जुआ, वेश्या, शिकार, परस्त्री वगैरह व्यसनोंसे भी बचते रहनेका ध्यान रखना चाहिये। प्रतिदिन जिन मन्दिरमें जाकर अर्हन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये, गुरुओंकी सेवा करनी चाहिये, सुपात्रोंको दान देना चाहिये। तथा अन्य भी जो धार्मिक कृत्य हैं, तथा लोकमें ख्याति करानेवाले कार्य हैं, उन्हें करते रहना चाहिये। जैसे, दीन और अनाथोंके लिये भोजनशाला और औषधालयोंकी व्यवस्था करना चाहिये, अपने पुत्र और पुत्रीको योग्य बनाकर सुपात्रके साथ उनका सम्बन्ध करना चाहिये। आदि,

नैष्ठिक श्रावक

नैष्ठिक श्रावकके ११ दर्जे हैं। ये दर्जे इस क्रमसे रखे गये हैं कि उनपर धीरे-धीरे चढ़ करके कोई भी श्रावक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अपने जीवनके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इन ११ दर्जोंका, जिन्हें जैन सिद्धान्तमें ११ प्रतिमाएँ कहते हैं, संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१ दार्शनिक—पाक्षिक श्रावकका जो आचार पहले बतलाया है, उसके पालन करनेसे जिसका श्रद्धान दृढ़ और विशुद्ध हो गया है, संसारके कारण भोगोंसे जो विरक्त हो चला है अर्थात् इष्ट विषयोंका सेवन करते हुए भी उनमें जिसकी आसक्ति नहीं है, जिसका चित्त सदा पाँच परमेष्ठियोंके चरणोंमें लीन रहता है, जो आठ मूलगुणोंमें कोई भी दोष नहीं लगाता और आगेके गुणोंको प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहता है तथा भरण पोषणके लिये न्याय्य तरीकोंसे आजीविका करता है, उस श्रावकको दार्शनिक कहते हैं। दार्शनिक श्रावक मद्य, माँस वगैरहका न केवल सेवन नहीं करता, किन्तु न उनका व्यापार वगैरह स्वयं करता है न दूसरोंसे कराता है और न ऐसे कामोंमें किसीको अपनी सम्मति ही देता है। जो स्त्री पुरुष शराब वगैरह पीते हैं उनके साथ खान पान आदि व्यवहार भी नहीं रखता, क्योंकि ऐसा करनेसे मद्य वगैरहके सेवनका प्रसंग उपस्थित हो सकता है। चमड़ेके पात्रमें रखा हुआ घी, तेल या पानी काममें नहीं लाता। जिस भोजन पर फुई आ जाती है, या स्वाद बिगड़ जाता है उसे नहीं खाता। जिस फल या साग सब्जीसे वह परिचित नहीं है उसे नहीं खाता। सूर्योदय होनेके एक मुहूर्त बादसे सूर्यास्त होनेके एक मुहूर्त पहले तक ही अपना खान पान करता है।

पानीको शुद्ध साफ वस्त्रसे छानकर ही काममें लाता है। जुआ नहीं खेलता और न सट्टेबाजी ही करता है। वेश्याका सेवन तो दूर रहा, उससे किसी भी तरहका सम्बन्ध नहीं रखता, न वेश्यावाटोंकी सैर ही करता है। मुकदमा वगैरह लड़ाकर किसीका द्रव्य या जायदाद हड़प करनेकी कोशिश नहीं करता। शिकार खेलना तो दूर रहा, चित्र वगैरहमें अंकित जीव जन्तुओंका भी छेदन भेदन नहीं करता। परस्त्रीसे रमण करना तो दूर रहा, कन्याके माता पिताकी आज्ञाके बिना किसी कन्यासे विवाह भी नहीं करता। जिस कामको बुरा समझ कर स्वयं छोड़ देता है, दूसरोंसे भी उसे नहीं कराता। संकल्पी हिंसाका त्याग कर देता है। और उतना ही आरम्भ-कृषि वगैरह करता है जितना स्वयं कर सकता है। क्योंकि दूसरोंसे करानेसे व्यवहारमें वह अहिंसकपना नहीं रह सकता, जिसका उसने व्रत लिया है। अपनी पत्नीसे भी उतना ही भोग करता है, जितना करना शरीर और मनके संतापकी शान्तिके लिये आवश्यक है, तथा उसका उद्देश्य केवल सन्तानोत्पादन ही होता है। सन्तान होने पर उसे योग्य और सदाचारी बनानेका पूरा प्रयत्न करता है, क्योंकि योग्य सन्तानके होने पर ही अपनी वृद्धावस्थामें उस पर घरबारका भार सौंपकर गृहस्थ आत्मोन्नतिके मार्गमें लग सकता है। ये सब दर्शनिक श्रावकके कर्तव्य हैं।

२ व्रतिक—जिसका सम्यग्दर्शन और पहले कहे गये आठमूल गुण परिपूर्ण होते हैं तथा जो मायाचारसे या आगामीकालमें विषय सुखके और भी अधिक प्राप्त होनेकी अभिलाषासे व्रतोंका पालन नहीं करता, बल्कि राग और द्वेषपर विजय पाकर साम्यभाव प्राप्त करनेकी इच्छासे व्रतोंका पालन करता है उसे व्रतिक श्रावक कहते हैं। व्रतिक श्रावक पहले बतलाये पाँच

अणुव्रतोंका निर्दोष पालन करता है और उन्हें बढ़ानेके लिये नीचे लिखे सात शीलोंका भी पालन करता है। वे सात शील इस प्रकार हैं—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग।

१—उसे जीवन भरके लिये अपने आने-जाने और लेन-देन करनेके क्षेत्रकी मर्यादा कर लेनी चाहिये कि इस इस स्थान तकसे ही मैं अपना सम्बन्ध रखूँगा, उसके बाहरसे खूब लाभ होनेपर भी कभी कोई व्यापार नहीं करूँगा। ऐसा नियम कर लेनेसे मनुष्यको तृष्णाका क्षेत्र सीमित हो जाता है और विदेशी व्यापारका नियमन होनेसे देशकी संपत्तिका विदेश जाना भी रुक जाता है।

२—जीवन भरके लिये ली हुई मर्यादाके भीतर भी अपनी आवश्यकता और यातायातको दृष्टिमें रखकर कुछ समयके लिये भी मर्यादा लेते रहना चाहिये, कि मैं इतने समय तक अमुक अमुक स्थान तक ही अपना आना जाना रखूँगा व लेन देन आदि करूँगा।

३—बिना प्रयोजनके दूसरे प्राणियोंको पीड़ा देनेवाला कोई भी काम नहीं करना चाहिये। ऐसे काम संक्षेपमें पाँच भागोंमें बाँटे गये हैं—पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या। जो लोग हिंसा वगैरहसे आजीविका करते हों उन्हें हिंसा वगैरहका उपदेश नहीं देना चाहिये। जैसे, व्याधको यह नहीं बतलाना चाहिये कि अमुक स्थानपर मृग वगैरह बसते हैं। ठग और चोरको यह नहीं बतलाना चाहिये कि अमुक जगह ठगाई और चोरीका अच्छा अवसर है। तथा जहाँ चार जने बैठकर गपशप करते हों वहाँ भी इस तरहकी चर्चा नहीं चलाना चाहिये १। जिन चीजोंसे दूसरोंकी जान ली जा सकती है, ऐसे

विष, अस्त्र, शस्त्र आदि हिंसाके साधन दूसरोंको नहीं देना चाहिये २। जिन पुस्तकों या शास्त्रोंके सुनने या पढ़नेसे मन कलुषित हो, जिन्हें सुनते ही चित्तमें कामवासना जाग्रत हो, दूसरोंको मार डालनेके भाव पैदा हों, घमंड और अहंकारका भाव हृदयमें उत्पन्न हो, ऐसे शास्त्रों और पुस्तकोंको न स्वयं सुनना चाहिये और न दूसरोंको सुनाना चाहिये ३। अमुकका मरण हो जाय, अमुकको जेलखाना हो जाय, अमुकके घर चोरी हो जाये, अमुककी स्त्री हर ली जाये, अमुककी जमीन जायदाद बिक जाये, इत्यादि विचार मनमें नहीं लाना चाहिये ४। बिना जरूरतके पृथ्वीका खोदना, पानीका बहाना, आगका जलाना, हवाका करना तथा वनस्पतिका काटना आदि काम नहीं करना चाहिये ५। इन कामोंके करनेसे अपना कुछ लाभ नहीं होता, बल्कि उल्टी हानि ही होती है और दूसरोंको व्यर्थमें कष्ट उठाना पड़ता है। अश्लील चर्चाएँ करना, शरीरसे कुत्सित चेष्टाएँ करना, व्यर्थकी बकवाद करना, बिना सोचे समझे ऐसे काम कर डालना जिससे अपना कोई लाभ न हो और दूसरोंको व्यर्थमें कष्ट उठाना पड़े, तथा भोग और उपभोगके साधनोंको आवश्यकतासे अधिक संचय कर लेना, ये सब काम एक सद्-गृहस्थको कभी भी नहीं करने चाहियें।

४—प्रातः और सन्ध्याको एकान्त स्थानमें कुछ समयके लिये हिंसा वगैरह समस्त पापोंसे विरत होकर आत्मध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिये। उसमें मन वचन और कायको स्थिर करके आत्मा और उसके अन्तिम लक्ष्य मोक्षके बारेमें चिन्तन करना चाहिये। यद्यपि मन वचन और कायको एकाग्र करना बड़ा कठिन है, किन्तु अभ्याससे सब साध्य है। प्रारम्भमें कुछ कष्ट अनुभव होता है,

शरीर निश्चल रहना नहीं चाहता, मन-विद्रोह करता है और मंत्र पाठको जल्दी जल्दी बोलकर समाप्त कर देना चाहता है, फिर भी इनको रोकना चाहिये। जब ये सध जाते हैं तो मनुष्यको बड़ी आध्यात्मिक शान्ति मिलती है।

५–प्रत्येक अष्टमी और प्रत्येक चतुर्दशीके दिन मन, वचन और कायकी स्थिरताको दृढ़ करनेके लिये चारों प्रकारके आहार-को त्यागकर उपवास करना चाहिये। उस दिन न कुछ खाना चाहिये और न कुछ पीना चाहिये। किन्तु जो ऐसा करनेमें असमर्थ हों वे केवल जल ले सकते हैं। और जो केवल जलपर भी न रह सकते हों, उन्हें केवल एकबार हल्का सात्विक भोजन करना चाहिये। जो व्यक्ति उपवास करना चाहें, उन्हें चाहिये कि वे अष्टमी और चतुर्दशीके पहले दिन दोपहरका भोजन करके उपवासकी प्रतिज्ञा ले लें। और घर-गृहस्थीके काम धामसे अवकाश लेकर एकान्त स्थानमें चले जायें और अपना समय आत्मचिन्तन और स्वाध्यायमें बितावें। सन्ध्याको दैनिक कृत्यसे निबटकर पुनः अपने उसी काममें लग जायें। रात्रिको विश्राम करें और दिनको इसी तरह बितावें। इस तरह अष्टमी और चतुर्दशीका दिन तथा रात बिताकर दूसरे दिन दोपहरको अभ्यागत अतिथियोंको भोजन कराकर एक बार अनासक्त होकर भोजन करें। उपवाससे मतलब केवल पेटके ही उपवाससे नहीं है, किन्तु पाँचों इन्द्रियोंके उपवाससे है। आहार वगैरहका त्याग करके भी यदि मनुष्यका चित्त पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें रमता है, अच्छे अच्छे स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर कामिनी, सुगन्धित द्रव्य और सुन्दर संगीतकी कल्पनामें मस्त रहता है तो वह उपवास निष्फल है।

६—भोग और उपभोगके साधनोंका कुछ समय या याव-

जीवनके लिये परिमाण कर लेना चाहिये कि मैं अमुक वस्तु इतने समय तक इतने परिमाणमें भोगूँगा। ऐसा परिमाण करके उससे अधिक वस्तुकी चाह नहीं करना चाहिये। जो वस्तु एक-बार ही भोगी जा सकती है उसे भोग कहते हैं जैसे फूलोंकी माला या भोजन। और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र। इन दोनों ही प्रकारकी वस्तुओं-का नियम कर लेना चाहिये। नियम कर लेनेसे एक तो गृहस्थकी चित्तवृत्तिका नियमन होता है, दूसरे इससे वस्तुओंका अनावश्यक संचय और अनावश्यक उपयोग रुक जाता है, और वस्तुओंकी यदि कमी हो तो दूसरोंको भी उनकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

जो मनुष्य भोग और उपभोगके साधनोंको कम करके अपनी आवश्यकताओंको घटा लेता है, आवश्यकताओंके घट जानेसे उस मनुष्यका खर्च भी कम हो जाता है। और खर्च कम हो जानेसे उसकी धनकी आवश्यकता भी कम हो जाती है। तथा धनकी आवश्यकता कम हो जानेसे उसे न्याय और अन्यायका विचार किये बिना धन कमानेकी तृष्णा नहीं सताती। इसी लिये लिखा है—

'भोगोपभोगकृशनात् कृशीकृतधनस्पृहः ।
धनाय कोट्टपालादि क्रियाः क्रूराः करोति कः ॥' सागारधर्मा०।

'भोग और उपभोगको कम कर देनेसे जिसकी धनकी तृष्णा कम हो गई है, ऐसा कौन आदमी धनके लिये पुलिस वगैरहकी निर्दयी नौकरी करेगा।'

अतः भोगोपभोगका परिमाण कर लेनेवाला आजीविकाके लिये ऐसा काम नहीं करता है, जिससे दूसरोंको कष्ट पहुँचता हो। उसका खान-पान भी बहुत सात्विक, सादा और शुद्ध होता है। मद्य, मांस और मधु तो वह खाता ही नहीं है, किन्तु

भोजन भी ऐसा करता है जो मादक और देरमें हजम हो सकनेवाला न हो। उसके भोजनमें शरीरपोषक तत्त्व रहते हैं किन्तु स्वास्थ्यको चौपट कर डालनेवाले और इन्द्रियोंकी विषय तृष्णाको भड़कानेवाले उत्तेजक पदार्थ नहीं होते। वह प्रकृति-विरुद्ध और संयोगविरुद्ध आहारसे सदा बचता है। साग-सब्जी खाता है किन्तु शोध बीनकर। जो चीजें जमीनके अन्दर उगती हैं, जैसे आलू, गाजर, मूली वगैरह, उन्हें नहीं खाता। जैन-धर्मकी दृष्टिसे इस प्रकारकी सब्जियोंमें बहुत जीव वास करते हैं। तथा लौकिक दृष्टिसे भी जो साग सब्जी सूर्यके प्रकाशमें नहीं फूलती फलती वह सब तामसिक होती है। बहुतसे रोगोंमें डाक्टर[1] तक ऐसे पदार्थोंके खानेका निषेध कर देते हैं। वर्षा-कालमें पत्तेकी शाक और बिना दला हुआ मूंग, उड़द वगैरह धान्य नहीं खाता है, क्योंकि उस समय उनमें प्रायः कीड़े वगैरह पड़ जाते हैं।

७—प्रतिदिन भोजन करनेसे पहले अपने द्वारपर खड़े होकर संसारसे विरक्त सच्चे साधुओंकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, और यदि कोई ऐसे साधु महात्मा उस ओर से निकलें, तो उन्हें आदर-के साथ रोककर अपने निमित्त बनाये हुए भोजनमें से भक्ति-पूर्वक भोजन कराना चाहिये। पीछे स्वयं भोजन करना चाहिये।

इस तरह श्रावकके ये सात शीलव्रत कहलाते हैं। इनमें से

---

१ इन पंक्तियोंके लेखकको इस बातका स्वयं अनुभव हो चुका है। एक बार खाँसीसे पीड़ित होनेपर मुरादाबादके स्व० डा० बनर्जीने चिकित्सा प्रारम्भ करनेसे पूर्व जमीकन्द खाना छोड़ देनेका आदेश दिया। जब उनसे कहा गया कि इनका खाना तो हमारे धर्ममें ही वर्जित है तो वे बड़े प्रभावित हुए। —ले०

पहले के तीन गुणव्रत कहे जाते हैं, क्योंकि उनके पालन करने से पहले कहे गये पांच अणुव्रतोंमें विशेषता आती है, और पीछे के चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं क्योंकि उनके करने से मुनि धर्म ग्रहण करनेकी शिक्षा मिलती है। शिक्षा अर्थात् अभ्यासके लिये जो व्रत किये जाते हैं वे शिक्षाव्रत कहे जाते हैं।

३ सामायिकी–व्रत प्रतिमाका अभ्यासी जो श्रावक तीनों सन्ध्याओंमें सामायिक करता है और कठिनसे कठिन कष्ट आ पड़नेपर भी अपने ध्यानसे विचलित नहीं होता—मन, वचन और कायकी एकाग्रताको स्थिर रखता है उसे सामायिकी या सामायिक प्रतिमावाला श्रावक कहते हैं। यद्यपि श्रावकके लिये ऐसी एकाग्रता अतिकष्टसाध्य है किन्तु अभ्याससे सब संभव होता है। इसका उद्देश्य आत्माकी शक्तिको केन्द्रीभूत करना है। यद्यपि पहले व्रतोंमें भी सामायिक करना बतलाया है किन्तु वह अभ्यासरूप है और यह व्रतरूप है।

४ प्रोषधोपवासी–पहले प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करनेकी विधि बतलाई है, वही यहाँ भी जानना चाहिये। अन्तर केवल इतना ही है कि वहाँ अभ्यासरूपसे उपवासका विधान है और यहाँ व्रतरूपसे।

५ सचित्तविरत–पहलेकी चार प्रतिमाओंका पालन करनेवाला जो दयालु श्रावक हरे साग, सब्जी, फल-फूल वगैरहको नहीं खाता है उसे सचित्तविरत कहते हैं। असलमें त्यागका उद्देश्य संयमका पालन करना है। और संयमके दो रूप है—एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रिय संयम। प्राणियोंकी रक्षा करनेको प्राणिसंयम कहते हैं और इन्द्रियोंको वशमें करनेको इन्द्रियसंयम कहते हैं। उत्तम तो यही है कि प्रत्येक त्यागमें दोनों संयमोंका

पालन हो, किन्तु यदि दोनोंका पालन न हो सकता हो तो एकका पालन होना भी अच्छा ही है। जैन सिद्धान्तमें हरी वनस्पतिकी दो दशाएँ बतलाई हैं एक सप्रतिष्ठित और दूसरी अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठित दशामें प्रत्येक वनस्पतिमें अगणित जीवोंका वास रहता है और इसलिये उसे अनन्तकाय कहते हैं और अप्रतिष्ठित दशामें उसमें एक ही जीवका वास रहता है। अतः जबतक कोई वनस्पति सप्रतिष्ठित या अनन्तकाय है तबतक उसका भक्षण नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसके भक्षण करनेसे अनन्त जीवोंका घात होता है। किन्तु जब वही वनस्पति अप्रतिष्ठित हो जाती है—अर्थात् उसमें अनन्तकाय जीवोंका वास नहीं रहता तब उसे अचित्त करके खाना चाहिये। सचित्तको अचित्त करनेके कई प्रकार हैं—उसे सुखा लिया जाये, आग पर पका लिया जाये या चाकू वगैरहसे काट लिया जाये। ऐसा करनेसे सचित्त वनस्पति अचित्त हो जाती है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि सचित्तको अचित्त करके खानेसे क्या लाभ है? जीवरक्षा तो उसमें भी नहीं होती? इसका समाधान यह है कि सचित्तको अचित्त करके खानेमें यद्यपि जीवरक्षा नहीं होती और इसलिये प्राणिसंयम नहीं पलता तथापि इन्द्रियसंयम पलता है; क्योंकि सचित्त वनस्पति पौष्टिक अतएव मादक होती है। उसे पका लेने, सुखा लेने या चाकूसे काटनेसे उसका पोषकतत्त्व नष्ट हो जाता है और इसलिये उसकी मादकता चली जाती है। अतः खानेके बाद वह इन्द्रियोंमें विकार पैदा नहीं करती, किन्तु शरीरकी स्थितिको बनाये रखती है। धार्मिक दृष्टिसे जो भोजन शरीरकी स्थितिको बनाये रखकर इन्द्रियोंमें विकार पैदा नहीं करता वही भोजन श्रेष्ठ समझा जाता है। इसी दृष्टिसे पाँचवें दर्जेका जैनश्रावक इन्द्रिय मदकारक सचित्त वनस्पतिके भक्षणका त्याग करता है।

जैनशास्त्रों में सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पतिकी अनेक पहचानें बतलाई हैं। जैसे, जो वनस्पति—चाहे वह जड़ हो, छाल हो, कोंपल हो, शाखा हो, पत्ता हो, फूल हो या फल हो—तोड़नेपर झटसे समानरूपसे दो टुकड़ोंमें टूट जाती है वह सप्रतिष्ठित है और जो तोड़ो कहींसे और टूटती है कहींसे, वह अप्रतिष्ठित है। जिस वनस्पतिको छीलनेपर मोटा छिलका उतरता है वह सप्रतिष्ठित है और जिसका छिलका पतला उतरता है वह अप्रतिष्ठित है। जिस वनस्पतिके ऊपरकी धारियाँ, या शिराएँ स्पष्टरूपसे नहीं निकली हैं, या अन्दर फाकें अलग अलग नहीं हुई हैं वह सप्रतिष्ठित है और जिसमें फांकें अलग अलग पड़ गई हैं या शिरायें और धारियाँ स्पष्ट उभर आई हैं उसे अप्रतिष्ठित कहते हैं।

६ दिवामैथुनविरत—पहलेकी पाँच प्रतिमाओंका पालन करनेवाला श्रावक जब दिनमें मन, वचन और कायसे स्त्रीमात्रके सेवन करनेका त्याग कर देता है तब वह दिवामैथुन विरत कहाता है। पहले पाँचवीं प्रतिमामें इन्द्रिय मदकारक वस्तुओंके खान-पानका त्याग करके इन्द्रियोंको सयत करनेकी चेष्टा की गई है। और छठी प्रतिमामें दिनमें कामभोगका त्याग कराकर मनुष्यको कामभोगकी लालसाको रात्रिके ही लिये सीमित कर दिया गया है। कहा जा सकता है कि दिनमें मैथुन तो बहुत ही कम लोग करते हैं, अतः इसका त्याग करानेमें क्या विशेषता है ? किन्तु मैथुनका मतलब केवल कायिक भोगसे ही नहीं है, परन्तु उस तरहकी बातें करना और मनमें उस तरहके विचारोंका होना भी मैथुनमें सम्मिलित है। तथा दिनमें मनुष्य बहुतसे स्त्री पुरुषोंके दृष्टिसंपर्कमें आता है जिन्हें देखकर उसकी कामवासना जाग्रत होनेकी संभावना रहती है अतः दिनमें इस तरहकी प्रवृत्तियोंके

बचाकर मनुष्यको पूर्ण ब्रह्मचर्यकी ओर ले जाना ही इसका लक्ष्य है।

७ ब्रह्मचारी—ऊपर कहे गये संयमके अभ्यासते अपने मनको वशमें करके जो मन, वचन और कायसे कभी भी किसी स्त्रीका सेवन नहीं करता उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। पहले छठे दर्जेमें दिनमें मैथुनका त्याग कराया है, सातवें दर्जेमें रात्रिमें भी सदाके लिये मैथुनका त्याग करके ब्रह्मचारी बन जाता है। ब्रह्मचर्यके लाभ बतलाना सूर्यको दीपक दिखाना है। आत्मिक शक्तिको केन्द्रित करनेके लिये ब्रह्मचर्य एक अपूर्व वस्तु है। किन्तु होना चाहिये वह ऐच्छिक। बिना इच्छाके जबरदस्ती ब्रह्मचर्य पालनेसे न शारीरिक लाभ होता है और न मानसिक; क्योंकि ब्रह्मचर्यका मतलब केवल शारीरिक कामभोगसे निवृत्ति ही नहीं है, बल्कि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्तिका नाम ही ब्रह्मचर्य है। यदि केवल कामेन्द्रियका ही नियंत्रण किया गया और अन्य इन्द्रियोंको काबूमें न रखा गया तो कामेन्द्रियका नियंत्रण भी टूट जायेगा।

८ आरम्भविरत—पहलेकी सात प्रतिमाओंका पालन करनेवाला श्रावक जब जीविकाके साधन कृषि, नौकरी या व्यापार वगैरहके करने और करानेका त्याग कर देता है तो वह आरम्भविरत कहा जाता है। ब्रह्मचर्य धारण करके अपने कौटुम्बिक जीवनको वह पहले ही मर्यादित कर देता है। और जब देखता है कि अब मेरे लड़के कमाने लायक हो गये हैं तो उनको अपना काम धन्धा सौंपकर आप उससे विरत हो जाता है, किन्तु उन्हें सम्मति वगैरह देता रहता है।

९ परिग्रहविरत—पहलेकी आठ प्रतिमाओंका पालन करने-

वाला श्रावक जब अपनी जमीन जायदाद वगैरहसे अपना स्वत्व छोड़ देता है तो वह परिग्रहविरत कहा जाता है। आठवीं प्रतिमामें वह अपना उद्योग धन्धा पुत्रोंके सुपुर्द कर देता है मगर सम्पत्ति अपने ही अधिकारमें रखता है। जब वह देख लेता है कि लड़केने उद्योग धन्धेको भली भाँति समझ लिया है, अब यदि सम्पत्ति भी उसके सुपुर्द कर दी जाये तो वह उसका रक्षण कर सकता है, तब वह पञ्चोंके सामने अपने पुत्र या दत्तक पुत्रको बुलाकर कहता है कि 'हे पुत्र! आजतक हमने इस गृहस्थाश्रमका पालन किया। अब विरक्त होकर हम इसे छोड़ना चाहते हैं। इसलिये तुम हमारा स्थान स्वीकार करो। अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिये इच्छुक पिताका भार सम्हालकर जो उसकी सहायता करता है वही पुत्र है, और जो ऐसा नहीं करता, वह पुत्र नहीं है, शत्रु है। इसलिये मेरा यह धन, धार्मिक स्थान तथा कुटुम्बीजनका भार सम्हाल कर मुझे इस भारसे मुक्त करो; क्योंकि इससे मुक्त हुए बिना कोई भी कल्याणार्थी अपना कल्याण नहीं कर सकता। मुमुक्षुजनोंके लिये सर्वस्व त्याग ही पथ्य है।'

इस प्रकार सब कुछ पुत्रको सौंपकर वह गार्हस्थिक उत्तरदायित्वसे मुक्त हो जाता है। किन्तु मुक्त होनेपर भी वह सहसा घर नहीं छोड़ता, और उदासीन होकर कुछ काल तक घरमें ही रहता है। लड़का यदि किसी कार्यमें उससे सलाह माँगता है तो उचित सम्मति दे देता है।

१० अनुमतिविरत—पहलेकी नौ प्रतिमाओंमें अभ्यस्त हुआ वह श्रावक जब देख लेता है कि अब लड़का बिना मेरी सलाहके भी सब काम सम्हाल सकता है तो लेन देन, खेती, वनिज और विवाह आदि लौकिक कार्योंमें अनुमति देना बन्द कर देता है,

तब वह अनुमतिविरत कहा जाता है। अब वह घरमें न रहकर मन्दिर वगैरहमें रहने लगता है और अपना समय स्वाध्यायमें बिताता है। तथा मध्याह्नकालकी सामायिक करनेके बाद आमंत्रण मिलनेपर अपने या दूसरोंके घर भोजन कर आता है। भोजनमें वह अपनी कोई रुचि नहीं रखता। अपने व्रत नियमके अनुसार जो मिलता है खा लेता है और यही विचारता है कि शरीरकी स्थितिके लिये भोजनकी आवश्यकता है, और शरीरको बनाये रखना धर्मसेवनके लिये आवश्यक है।

कुछ दिन इसी तरह बिताकर जब वह यह देख लेता है कि अब मैं घर छोड़ सकता हूँ तो अपने गुरुजनों, बन्धु-बाँधवों और पुत्र वगैरहसे पूछकर घर छोड़ देता है।

इसके बाद नैष्ठिक श्रावकोंमें मुख्य वह अनुमतिविरत श्रावक घर छोड़ने तकको समस्त क्रियाको पूरी करके, आत्माका शोधन करनेके लिये, आगेकी ११वीं प्रतिमाको स्वीकार करता है।

११ उद्दिष्टविरत—यह अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक अपने उद्देशसे बनाये गये आहारको ग्रहण नहीं करता, इसलिये इसे उद्दिष्टविरत कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं। पहला भेदवाला उत्कृष्ट श्रावक सफेद लंगोटी लगाता है और एक सफेद चादर मात्र अपने पास रखता है, तथा कैंची या छुरेसे अपने केशोंको बनवाता है। और जब किसी स्थानपर बैठता है या लेटता है तो अत्यन्त कोमल वस्त्र वगैरहसे उस स्थानको साफ कर लेता है, जिससे उसके बैठने या लेटनेसे किसी जन्तुको कोई पीड़ा न पहुँच सके।

इस पहले भेदवाले उत्कृष्ट श्रावकके भी दो विभाग हैं। एक वह जो अनेक घरोंसे भिक्षा लेता है और दूसरा वह जो एक

घरसे ही भिक्षा लेता है। जो अनेक घरोंसे भिक्षा लेता है वह भोजनके समय श्रावकके घर जाकर उसके आँगनमें खड़ा होकर 'धर्मलाभ हो' ऐसा कहकर भिक्षाकी प्रार्थना करता है, अथवा मौनपूर्वक केवल अपनेको दिखाकर चला आता है। यदि श्रावक कुछ देता है तो उसे अपने पात्रमें ले लेता है। किन्तु वहाँ देर नहीं लगाता और वहाँसे निकलकर दूसरे श्रावकके घर जाकर ऐसा ही करता है। यदि कोई श्रावक अपने घर पर ही भोजन करनेकी प्रार्थना करता है तो अन्य घरोंसे जो भोजन मिला है पहले उसे खाकर पीछे आवश्यकताके अनुसार उस श्रावकसे ले लेता है। यदि कोई ऐसी प्रार्थना नहीं करता तो कई घरोंमें जाकर अपने उदर भरने लायक भोजन माँगता है और जहाँ प्रासुक पानी मिलता है वहाँ उसे देख भालकर खा लेता है। खाते समय स्वादपर ध्यान नहीं देता और न गृहस्थके घरसे कुछ मिलने या न मिलने अथवा मिलनेवाले द्रव्यकी सरसता और विरसतापर ही ध्यान देता है। भोजन करनेके पश्चात् अपना जूठा बर्तन स्वय ही माँजता और धोता है। यदि वह मानमें आकर दूसरेसे ऐसा काम कराता है तो यह महान् असंयम समझा जाता है। भोजन करनेके पश्चात् अपने गुरुके पास जाकर दूसरे दिन तकके लिये वह आहार न करनेका नियम ले लेता है और गुरुके पाससे जानेके बादसे लेकर लौटने तक जो कुछ भी वह करता है वह सब सरलतासे गुरुसे निवेदन कर देता है। जो उत्कृष्ट श्रावक एक घरसे ही भिक्षा ग्रहण करता है वह किसी मुनिके पीछे पीछे श्रावकके घर जाकर भोजन कर आता है। और यदि भोजन नहीं मिलता तो उपवास कर लेता है।

यह ११वीं प्रतिमावाला उत्कृष्ट श्रावक सदा मुनियोंके साथ रहता है, उनकी सेवा सुश्रूषा करता है और अन्तरंग और बहि-

रंग तप करता है। उन तपोंमेंसे भी वैयावृत्त्य तप खास तौरसे करता है। मुनिजनोंको कोई कष्ट होनेपर उसका प्रतीकार करनेको वैयावृत्त्य कहते हैं, जैसे रोगियोंकी परिचर्या करना, असमर्थोंकी सहायता करना, वृद्धजनोंके पैर वगैरह दबाना आदि। श्रावकके लिये वैयावृत्य करनेका बड़ा महत्व बतलाया गया है। इससे घृणाका भाव दूर होता है सेवाभावको प्रोत्साहन मिलता है और वात्सल्यभावकी वृद्धि होती है। तथा जिनकी परिचर्या की जाती है वे सनाथता अनुभव करते हैं, उनके चित्तमें यह भाव नहीं होता कि कोई हमारी देखरेख करनेवाला नहीं है।

दूसरे भेदवाले उत्कृष्ट श्रावककी भी सभी क्रियाएँ पहलेके ही समान होती हैं। केवल इतना अन्तर है कि यह सिर और दाढ़ीके बालोंको अपने हाथसे पकड़कर उखाड़ डालता है। इस क्रियाको केशलोंच कहते हैं। केवल लंगोटी लगाता है और मुनियोंके समान हाथमें मोरके पखोंकी एक पीछी रखता है। उसीसे वह अपने बैठने या लेटनेके स्थानको साफ करके जन्तुरहित कर लेता है। तथा गृहस्थके घर जाकर उसके प्रार्थना करने पर, उसीके घरमें अपने हाथमें ही भोजन करता है, पासमें बरतन नहीं रखता। दोनों हाथोंको जोड़कर बाएँ हाथकी कनअंगुलिमें दाहिने हाथकी कन अंगुलिको फँसाकर पात्र सा बना लेता है। गृहस्थ बाएँ हाथकी हथेलीपर भोजन रखता जाता है और यह दाहिने हाथकी शेष चार अंगुलियोंसे उठा उठाकर कौरको मुँहमें रखता जाता है। यह उत्कृष्ट श्रावक उत्तम उत्तम ग्रन्थोंका स्वाध्याय करता है और खाली समयमें संसार, शरीर और उसके साथ अपने सम्बन्धके विषयमें चिन्तन करता है।

इस प्रकार नैष्ठिक श्रावकके ये ११ दर्जे हैं। इनको क्रमवार ही पाला जाता है। ऐसा नहीं है कि कोई आरम्भकी क्रियाएँ

न करके आगेके दर्जेमें पहुँच जाये। यदि कोई ऐसा करता है तो आगे बढ़ जानेपर भी उसे उस दर्जेवाला नहीं कहा जा सकता। जैनधर्ममें शक्तिके अनुसार किये गये कार्यका ही महत्त्व है। 'आगेको दौड़ और पीछेको छोड़' वाली कहावत यहाँ चरितार्थ नहीं होती। जो लोग उत्तरदायित्वसे बचनेके लिये त्यागी बनना चाहते हैं, उनके लिये भी यहाँ स्थान नहीं है। किन्तु जो अपने गार्हस्थिक उत्तरदायित्वका यथोचित प्रबन्ध करके केवल आत्मकल्याणकी भावनासे इस मार्गका अवलम्बन लेते हैं वे ही इस पथके योग्य समझे जाते हैं।

साधक श्रावक

श्रावकका तीसरा भेद साधक है। मरणकाल उपस्थित होनेपर, शरीरसे ममत्व हटाकर, भोजन वगैरहका त्याग करके, प्रेमपूर्वक, ध्यानके द्वारा जो आत्माका शोधन करता है उसे साधक कहते हैं। साधककी इस क्रियाको समाधिमरण व्रत या सल्लेखना व्रत कहते हैं। जब कोई उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग ऐसी हालतमें पहुँच जाये, जिसका प्रतीकार कर सकना शक्य न हो तो धर्मके लिये शरीर छोड़ देना सल्लेखना या समाधिमरण कहाता है। समाधिमरण करनेकी विधि बतलाते हुए लिखा है कि शरीर धर्मका साधन है इसलिये यदि वह धर्मसाधनमें सहायक होता हो तो उसे नष्ट नहीं करना चाहिये और यदि वह विनष्ट होता हो तो उसका शोक नहीं करना चाहिये। तथा धर्मका साधन समझ कर ही शरीरको स्वस्थ रखना चाहिये और यदि कोई रोग हो जाये तो उसका प्रतीकार भी करना चाहिये। किन्तु जब शरीर धर्मका बाधक बन जाये तो शरीरको छोड़कर धर्मकी ही रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि शरीर नष्ट होनेपर पुनः मिल जायेगा किन्तु धर्मकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

कोई कोई भाई समाधिमरण व्रतके स्वरूप और रहस्यको न समझ कर इसे आत्मघात बतलाते हैं। किन्तु धर्मपर आपत्ति आने पर धर्मकी रक्षाके लिये शरीरकी उपेक्षा कर देनेका नाम आत्मघात नहीं है, परन्तु क्रोधमें आकर विष आदिके द्वारा प्राणोंके घात करनेका नाम ही आत्मघात है। धर्मकी रक्षाके लिये अपने जीवनको बलिदान कर देनेवाले वीरोंकी अनेक गाथाएँ भारतके इतिहासमें निबद्ध हैं। जो लोग भौतिक जीवनको ही सब कुछ समझ कर उसीकी रक्षामें लगे रहते हैं, वे सचमुचमें जीना नहीं जानते। इसीलिये कहा गया है—

'जिसे मरना नहीं आया उसे जीना नहीं आया।'

जो मरना नहीं जानता वह जीना भी नहीं जानता। अपने धर्म कर्म और मान-मर्यादाको गँवाकर जीना भी कोई जीना है? जीवन क्षणिक है, लाख प्रयत्न करनेपर भी वह एक दिन अवश्य नष्ट होगा। अतः उसके लिये कर्तव्यसे विमुख होना उचित नहीं है। इसी बातको जैन शास्त्रोंमें एक दृष्टान्तके द्वारा समझाया है। उसमें लिखा है—

'देन लेनकी अनेक वस्तुओंका संचय करनेवाला व्यापारी अपने घरका नाश नहीं चाहता। अगर उसके घरमें आग लग जाती है तो उसके बुझानेकी चेष्टा करता है। किन्तु जब देखता है कि इसका बुझाना कठिन है तो घरकी परवाह न कर संचित धनकी रक्षा करता है। इसी तरह व्रत और शील-रूपी धनका संचय करनेवाला व्रती शरीरका नाश नहीं चाहता। और शरीरनाशके कारण उपस्थित होनेपर 'अपने धर्ममें बाधा न आवे' इस रीतिसे उनको दूर करनेकी चेष्टा करता है।

परन्तु जब यह निश्चित हो जाता है कि शरीरका नाश अवश्य होगा तो वह शरीरकी पर्वाह न करके अपने धर्मकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है। ऐसी स्थितिमें समाधिमरणको आत्मघात कैसे कहा जा सकता है ?'

समाधि मरणका उद्देश है अन्तर्क्रियाको सुधारना। जब मृत्यु सुनिश्चित हो तो राग द्वेष और परिग्रहको छोड़कर, शुद्ध मनसे सबसे क्षमा माँगे और जिसने अपना अपराध किया हो उसे क्षमा कर दे। फिर बिना किसी छलके अपने किये हुए पापोंकी आलोचना करे और मरण पर्यन्तके लिये सम्पूर्ण महाव्रतोंको धारण करे। उस समय समाधिमरणव्रत धारण करानेवाले आचार्य और उनका सब संघ उस साधकको साधनाको सफल बनानेमें तत्पर रहते हैं। आचार्य उससे पूछकर यदि उसकी इच्छा कुछ खानेकी होती है तो खिलाकर आहारका त्याग करा देते हैं और केवल दूध वगैरह उसे देते हैं। फिर दूधका भी त्याग कराकर गर्म जल देते हैं। फिर गर्म जलका भी त्याग करा देते हैं। किन्तु यदि उसे कोई ऐसी बीमारी हो जिसके कारण बार-बार प्यास लगती हो तो गर्म जल देते रहते हैं, और जब मृत्युका समय निकट देखते हैं तो गर्म जलका भी त्याग करा देते हैं।

उसके बाद आचार्य साधकके कानमें अच्छे अच्छे उपदेश सुनाते हैं। और साधक पञ्च नमस्कार मंत्रका जप करता हुआ शान्तिके साथ प्राणविसर्जन करता है।

समाधिमरणव्रतके भी पाँच दोष बतलाये हैं। समाधि-मरण करते हुए साधकको जीनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, न कष्टके भयसे मरनेकी ही इच्छा करनी चाहिये। इच्छा करनेसे

न आयु बढ़ सकती है और न घट सकती है, अतः उसमें मनको लगाना बेकार है। इसी तरह मित्रोंका प्रेम और जीवनमें भोगे हुए सुखोंका भी स्मरण नहीं करना चाहिये। ये सभी चीजें मनुष्यके चित्तको कमजोर बनाती हैं और साधकको उसकी साधनासे च्युत करती हैं। तथा यह भी नहीं सोचना चाहिये कि मैंने इस जन्ममें जो धर्माराधन किया है उसके फलसे दूसरे जन्ममें मैं इन्द्र या चक्रवर्ती या और कुछ होऊँ; क्योंकि ऐसा करनेसे धर्माराधनका मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। धर्मके लिये जो कुछ छोड़ा, धर्म करके उसीको माँगना मूर्खता है। यह धर्मके स्वरूप और उसके उद्देश्यकी अनभिज्ञताको सूचित करता है, अतः इस मँगताईसे बचना ही चाहिये।

इस तरह जैनश्रावक अपने विधि नियमोंके साथ जीवन-निर्वाह करता हुआ अन्तमें शान्ति और निर्भयताके साथ मृत्युका आलिंगन करके अपने मानव जीवनको सफल बनाता है।

६—श्रावकधर्म और विश्वकी समस्याएँ

आज सभी धर्मोंके सामने यह प्रश्न रखा जाता है कि वे वर्तमान विश्वकी समस्याओंको हल करनेमें कहाँतक आगे आते हैं? यह प्रश्न न भी रखा जावे तो भी धर्मोंके सामने यह प्रश्न तो है ही कि केवल व्यक्तिके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके लिये ही धर्मोंकी सृष्टि की गई है या उनसे समाज और राष्ट्रका भी अभ्युदय हो सकता है? यहाँ हम ऊपर बतलाये गये जैन श्रावकके धर्मके प्रकाशमें उक्त प्रश्नोंको सुलझानेका प्रयत्न करते हैं।

यह सत्य है कि धर्मकी सृष्टि व्यक्तिके अभ्युदयके लिये हुई, किन्तु व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्वसे कोई पृथक् वस्तु नहीं

है। व्यक्तियोंका समूह ही समाज, राष्ट्र और विश्वके नामसे पुकारा जाता है। आज जिन्हें विश्वकी समस्याएँ कहा जाता है वस्तुतः वे उस विश्वमें बसनेवाले व्यक्तियोंकी ही समस्याएँ हैं। माना, व्यक्ति एक इकाई है, किन्तु अनेक इकाईयाँ मिलकर ही दहाई, सैकड़ा आदि संख्याएँ बनती हैं, अतः व्यक्तिके अभ्युदयके लिये जन्मा हुआ धर्म जब किसी एक खास व्यक्तिके अभ्युदयका कारण न होकर व्यक्तिमात्रके अभ्युदयका कारण है तो चूँकि व्यक्तिमात्रमें विश्वके सभी व्यक्ति आ जाते हैं अतः वह विश्वके भी अभ्युदयका कारण हो सकता है। किन्तु विश्वको उसे अपनाना चाहिये। अस्तु, पहले हमें यह देखना चाहिये कि आजके युगकी वे कौनसी समस्याएँ हैं, जिन्हें हमें हल करना है, और उनका मूल कारण क्या है ?

पिछले दो सौ वर्षोंमें विज्ञानने बड़ी उन्नति की है। उसने ऐसे ऐसे यंत्र प्रदान किये हैं, जिनसे विश्वका संरक्षण और संहार दोनों ही संभव है। क्योंकि किसी वस्तुका अच्छा उपयोग भी किया जा सकता है और बुरा उपयोग भी किया जा सकता है। उपयोग करना तो मनुष्यके हाथकी बात है, उसमें बेचारी वस्तुका क्या अपराध ? विद्या जैसी उत्तम वस्तु भी दुर्जनके हाथमें पड़कर ज्ञानके स्थानमें विवादको जन्म देती है। धनको पाकर दुर्जनको मद होता है किन्तु सज्जन उससे परोपकार करता है। शक्ति पाकर एक दूसरोंको सताता है तो दूसरा उसे ही पाकर आततायियोंके हाथोंसे पीड़ितोंकी रक्षा करता है। विज्ञानने दूरीका अन्त कर दिया है और विश्वकी विभिन्न जातियों और राष्ट्रोंको इतने निकट ला दिया है कि वे यदि परस्परमें सम्बद्ध होकर रहना चाहें तो एक सूत्रमें बद्ध होकर रह सकते हैं; क्योंकि

विज्ञानने संगठनके अनेक नये साधन प्रस्तुत कर दिये हैं। तथा उत्पादनके भी ऐसे ऐसे साधन दिये हैं जिनसे संसारके सभी स्त्री-पुरुष सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकते हैं। किन्तु उन साधनोंपर आज अमुक वर्गों और राष्ट्रोंका अधिकार है और वे उनका उपयोग दूसरोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और स्थापित किये हुए प्रभुत्वको बनाये रखनेमें करते हैं। जंगलमें शिकारकी खोजमें भटकनेवाला व्याघ्र अपने नुकीले पंजों और पैने दाँतोंका जैसा उपयोग अपने शिकारके साथ करता है, वैज्ञानिक साधनोंसे सम्पन्न राष्ट्र भी दूसरे राष्ट्रोंकी छातीपर आज अपने वैज्ञानिक साधनोंका वैसा ही उपयोग करते दिखलाई देते हैं। फलतः युद्धोंकी सृष्टि होती है और राष्ट्रोंका धन और जन उनकी भेंट चढ़ा दिया जाता है। मानों, उनका इससे अच्छा कोई दूसरा उपयोग हो ही नहीं सकता। एक ओर नये साधनोंके द्वारा खेतोंसे खूब अन्न उपजाया जाता है, मिलें रात दिन कपड़े तैयार करनेमें लगी रहती हैं, दूसरी ओर असंख्य मनुष्य बिना अन्न और वस्त्रके जीवन बिता देते हैं। एक ओर जिन्हें अन्न और वस्त्रकी आवश्यकता है वे दाने दानेके लिये तरसते हैं और दूसरी ओर जिन्हें उनकी आवश्यकता नहीं है वे अनावश्यक संचयके भारसे दबे रहते हैं। शान्ति और सुरक्षाके लिये कानूनोंकी सृष्टि की जाती है और उन्हें जबरदस्ती पलवानेके लिये पुलिस, सेना और जेलखानोंकी सृष्टि की जाती है। अन्यायके लिये न्यायका ढोंग रचा जाता है और सत्यको छिपानेके लिये असत्य प्रोपगैण्डा किया जाता है।

ये समस्याएँ सारे संसारके सामने उपस्थित हैं। युद्धके महा-विनाशने युद्ध लड़नेवालोंको भी भयभीत कर दिया है। सब

चाहते हैं युद्ध न हो, किन्तु युद्धके जो कारण हैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। सर्वत्र राजनीतिक और आर्थिक संघटनोंमें पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसाकी भावना छिपी हुई है। दूसरोंको बेवकूफ बनाकर अपना कार्य साधना ही सबका मूलमंत्र बना हुआ है, फिर शान्ति हो तो कैसे हो और युद्ध रुकें तो कैसे रुकें?

आधुनिक समस्याके इस विहंगावलोकनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न राष्ट्रों और जातियोंके बीचमें हिंसामूलक व्यवहारका प्राधान्य है। स्वार्थपरता, बेईमानी, धोखेबाजी ये सब हिंसाके ही प्रतिरूप हैं। इनके रहते हुए जैसे दो व्यक्तियोंमें प्रीति और मैत्री नहीं हो सकती वैसे ही राष्ट्रों और जातियोंमें भी मैत्री नहीं हो सकती। 'जिओ और जीने दो' का जो सिद्धान्त व्यक्तियोंके लिये है वही जातियों और राष्ट्रोंके लिये भी है। जब तक विभिन्न राष्ट्र और जातियाँ इस सिद्धान्तको नहीं अपनाते तब तक विश्वकी समस्याएँ नहीं सुलझ सकतीं, बल्कि और उलझती ही जायेंगी, जैसा कि प्रत्यक्षमें दिखलाई पड़ता है। अतः विश्वकी समस्याओंको सुलझानेके लिये राष्ट्रोंकी शासनप्रणालीमें आमूल परिवर्तन होना चाहिये और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओंमें संशोधन होना चाहिये। तथा वह परिवर्तन और संशोधन अहिंसाके सिद्धान्तको जीवनपथके रूपमें स्वीकार करके किया जाना चाहिये।

यह नहीं भूल जाना चाहिये कि बलप्रयोगके आधारपर मानवीय सम्बन्धोंकी भित्ति कभी खड़ी नहीं की जा सकती। कौटुम्बिक और सामाजिक जीवनके निर्माणमें बहुत अंशोंमें सहानुभूति, दया, प्रेम, त्याग और सौहार्दका ही स्थान रहता है। एक बात यह भी स्मरण रखनी चाहिये कि व्यक्तिगत आचरणका और सामाजिक वातावरणका निकट सम्बन्ध है। व्यक्तिगत

आचरणोंसे सामाजिक वातावरण बनता है और सामाजिक वातावरणसे व्यक्तित्वका निर्माण होता है। किसी समाजके अन्तर्गत व्यक्तियोंका आचरण यदि दूषित हो तो सामाजिक वातावरण कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता, और सामाजिक वातावरणके शुद्ध हुए बिना व्यक्तियोंके आचरणमें सुधार होना शक्य नहीं। इसलिये व्यक्तिगत आचरणके सुधारके साथ साथ सामाजिक वातावरणको भी स्वच्छ बनानेकी चेष्टा होनी चाहिये। इसीसे जैनधर्म प्रत्येक व्यक्तिके आचरण निर्माणपर जोर देते हुए उसके जीवनसे हिंसामूलक व्यवहारको निकालकर पारस्परिक व्यवहारमें मैत्री, प्रमोद और कारुण्यकी भावनासे बरतनेको सलाह देता है। इतना ही नहीं, बल्कि वह तो यह भी चाहता है कि राजा भी ऐसा ही धार्मिक हो; क्योंकि राजनीतिमें अधार्मिकताके घुस जानेसे राष्ट्रभरका नैतिक जीवन गिर जाता है और फिर व्यक्ति यदि अनैतिकतासे बचना भी चाहे तो बच नहीं पाता, अनेक बाहिरी प्रलोभनों और आवश्यकताओंसे दबकर वह भी अनर्थ करनेके लिये तत्पर हो जाता है, जिसका उदाहरण युद्धकालमें प्रचलित चोरबाजार है। अतः राजनीति, समाजनीति और व्यक्तिगत जीवनका आधार यदि अहिंसाको बनाया जाये तो राजा और प्रजा दोनों सुख शान्तिसे रह सकते हैं।

आज जिन देशोंमें प्रजातंत्र है, उन देशोंमें यद्यपि अपनी अपनी जनताके सुख दुःखका ध्यान पूरा पूरा रखा जाता है; किन्तु दूसरे देशोंकी जनताके साथ वैसा ही व्यवहार नहीं किया जाता। बातें अच्छी अच्छी कही जाती हैं किन्तु व्यवहार उनसे बिल्कुल विपरीत किया जाता है। दूसरे देशोंपर अपना स्वत्व बनाये रखनेके लिये राजनैतिक गुटबन्दियाँ की जाती हैं। उनके विरुद्ध झूठा प्रचार करनेके लिये लाखों रुपया व्यय किया जाता

है और यह कहा जाता है कि हम उनकी भलाईके लिये ही उनपर शासन कर रहे हैं। शासनतन्त्रके द्वारा अपना अधिकार जमाकर उन देशोंके धन और जनका मनमाना उपयोग किया जाता है। यह सब अहिंसा, असत्य और चोरी नहीं है तो क्या है? यदि राष्ट्रोंका निर्माण अहिंसाके आधारपर किया जावे और असत्य व्यवहारको स्थान न दिया जावे तो राष्ट्रोंमें पारस्परिक अविश्वास और प्रतिहिंसाकी भावना देखनेको भी न मिले। समस्त राष्ट्रोंका एक विश्वसंघ हो, जिसमें सब राष्ट्र समान भ्रातृभावके आधारपर एक कुटुम्बके रूपमें सम्मिलित हों, न कोई किसीका शासक हो न शास्य हो। सब सबके दुःख और संकटका ध्यान रखें। सबके साथ सबका मैत्री-भाव हो। यदि सब राष्ट्र अपनी अपनी नियतोंकी सफाई करके इस तरहसे एक सूत्रमें बँधें तो न तो युद्ध हों और न युद्धके अभिशापोंसे जनताको असीम कष्ट ही भोगना पड़े।

आज उत्पादनके ऊपर एक राष्ट्र या जातिका एकाधिकार होनेसे उसे अपने लिये दूर दूरसे कच्चा माल मंगाना पड़ता है और तैयार हुए मालको खपानेके लिये बाजारोंकी भी खोज करनी पड़ती है और उनपर अपना काबू रखना पड़ता है। फिर भले ही वे बाजार दुनियाके किसी भी भागमें क्यों न हों। आज इसी पद्धतिके कारण दुनिया कराह रही है। दुनियाको इससे मुक्त करनेके लिये भी हमें अहिंसाका ही मार्ग अपनाना होगा। राष्ट्रों और जातियोंकी भलाईका स्थान लोगोंको भलाईको देना होगा। हमारा जीवन भौतिक दुनियाकी आवश्यकताओंके अनुसार नहीं चलाया जा सकता। हमें बनावटी तौरपर पहले अपनी जरूरतोंको बढ़ाने और फिर उनको पूरा करनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये। जीवनका आनन्द इसपर निर्भर

नहीं करता कि हमारे पास कितनी ज्यादा चीजें हैं ? जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र जीवनकी बनावटी आवश्यकताओंको बढ़ाकर उसीकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करता रहता है और बिना जरूरतके चीजोंका संग्रह करता है, वह दुःखों और पापोंका संग्रह करता है। इसीसे जैनधर्मने परिग्रहको पाप बतलाया है और प्रत्येक गृहस्थके लिये यह नियम रखा है कि वह अपनी इच्छाओंको सीमित करके अपनी आवश्यकताके अनुसार सभी आवश्यक वस्तुओंकी एक सीमा निर्धारित कर ले और उससे अधिकका त्याग कर दे। आज उत्पादन और वितरणके प्रश्नने दुनियामें विराट् रूप धारण कर लिया है, जिसके कारण दुनियाकी आर्थिक विषमताका संतुलन करना कठिन हो रहा है। जैनधर्मके प्रवर्तक श्रीऋषभदेवने युगके आदिमें मनुष्योंको इसी संचयवृत्तिको लक्ष्य-कर प्रत्येक गृहस्थके लिये परिग्रह परिमाण व्रतका निर्देश किया था। इस व्यवस्थामें भोग विलास जीवनका ध्येय न था। भोग-पर जोर देनेसे ही व्यवस्थाका आधार मौज, मजा और अधिकार हो गया है। जिसका आखिरी नतीजा संघर्ष और युद्धोंका अंत है। इसके विरुद्ध यदि हम अनावश्यक इच्छाओंके नियमनपर जोर दें तो जीवनपर नियंत्रण कायम होता है और हमारी जरूरतें सीमित हो जाती हैं। जरूरतोंको सीमित किये बिना यदि कानूनोंके आधारपर उत्पादन और वितरणका प्रबन्ध किया भी गया तो उसमें सफलता नहीं मिल सकती। यह स्मरण रखना चाहिये कि कानूनकी भाषा और उसका पालन करानेके आधार इतने ऊपर होते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धिके उपयोगके द्वारा कानूनोंको भङ्ग करके भी बचा रहता है।

वास्तवमें नैतिक आचरणका पालन बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। वह भीतरकी प्रेरणासे ही हो सकता है। अतः

कानूनसे अधिक शक्तिशाली और लाभदायक मार्ग आत्मसंयम है। जब मनुष्य अपना और समाजका लाभ समझ कर उसका अनुसरण करने लगता है तो वह स्वयं संयमी बननेकी कोशिश करने लगता है। इस तरह जब संयमी पुरुष ऊँचे स्तरपर पहुँच जाता है तो वह स्वयं उदाहरण बनकर दूसरोंको भी संयमी बननेकी सतत प्रेरणा देता है और इस तरह समाजके नैतिक जीवनको उन्नत बनानेमें निरन्तर योगदान करता रहता है।

इसी संयमकी शिक्षाका परिणाम ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहव्रत हैं। यदि मनुष्यसमाजकी वासनाओं और लालसाओंका नियंत्रण न किया जायेगा तो उसका शारीरिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य नष्ट हो जायेगा और उसका विकास रुक जायेगा।

इस विवेचनसे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि जैनधर्ममें प्रत्येक गृहस्थके लिये जिन पाँच अणुव्रतोंका पालन करना आवश्यक बतलाया है, यदि उन्हें सामाजिक और राजनैतिक जीवनका भी आधार बनाकर चला जाये तो विश्वकी अनेक मौलिक समस्याएँ सरलता से सुलझ सकती हैं।

अब रह जाता है मद्य, मांस और मधुका त्याग तथा गृहस्थके अन्य व्रत नियम। सबसे यह आशा नहीं की जा सकती कि सब उनका पालन करेंगे। फिर भी जो उनका पालन करेगा उसे शारीरिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे लाभ ही होगा। मद्य और मांस ऐसी चीजें हैं जिन्हें मनुष्यके आम भोजनमें स्थान देना आवश्यक नहीं है। दोनों ही तामसिक हैं और तामसिक आहार विहारके होते हुए सात्त्विक भावोंका विकास नहीं हो सकता। और सात्विक भावोंका विकास हुए बिना अहिंसक वातावरण नहीं बन सकता। और अहिंसक वातावरण बनाये बिना

दुनियाको सुख शान्ति नसीब नहीं हो सकती। अतः उनकी ओरसे मनुष्योंका मन यदि हट सके तो उससे उन मनुष्योंका तथा संसारका लाभ ही होगा। मनुष्य स्वभाव न तो अच्छा होता है और न बुरा। वह तो कच्ची गीली मिट्टीके समान है। चाहे जिस रूपमें उसका निर्माण किया जा सकता है। जिन घरानोंमें मद्य मांससे परहेज किया जाता है उनमें जन्म लेनेवाले बच्चे उन चीजोंसे परहेज करते हैं और जिन घरानोंमें उनका चलन है उनमें जन्म लेनेवाले बच्चे उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि इस प्रकारकी वस्तुओंसे मनुष्योंको बचाया जा सकता है वह उसका प्राकृतिक आहार नहीं है।

किन्तु जिन देशोंमें अन्नकी कमी या जलवायुके प्रभावके कारण मद्य और मांससे एकदम परहेज करना शक्य नहीं है, उन देशोंमें भी उनपर अमुक प्रकारके प्रतिबन्ध लगाकर कमसे कम यह भाव तो पैदा किया जा सकता है कि वे चीजें मनुष्यके लिये माह्य नहीं हैं किन्तु परिस्थितिवश उन्हें खाना पड़ता है। अपनी शक्ति, परिस्थिति और व्यवसायके अनुसार हिंसाका त्याग करके भी मनुष्य अहिंसकोंकी श्रेणीमें सम्मिलित हो सकता है। उदाहरणके लिये कोई कसाई अपनी आजीविकाका साधन होनेसे यदि पशुहत्याका त्याग नहीं कर सकता तो उसके लिये सप्ताहमें एक दिन उसका त्याग कर देना या अमुक प्रकारके पशुओंकी अमुक संख्यामें ही हत्या करनेका नियम ले लेना भी अहिंसाणुव्रतकी जघन्य श्रेणीमें गिना जाता है। जैन पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। यथा—एक मुनिने एक मांसाहारी भीलसे कौवेका मांस खाना छुड़वा दिया था। इसी प्रकार एक मछुवेको यह नियम दिला दिया था कि उसके जालमें जो पहली मछली आयेगी उसे वह नहीं मारेगा। एक व्याधाको

को, जो फाँसी लगानेका काम करता था, यह नियम दिला दिया था कि वह चतुर्दशीके दिन किसीको फाँसी नहीं देगा। इन छोटी छोटी प्रतिज्ञाओंने ही उन्हें कुछसे कुछ बना दिया।

अतः थोड़ा सा भी प्रतिबन्ध लगाकर यदि मांस और मद्य सेवनपर अंकुश रखा जाये तो उनका सेवन करनेके अभ्यस्त मनुष्य भी उनकी बुराईयोंसे बच सकते हैं। और उससे समाजमें फैलनेवाली बहुत सी बुराईयोंसे समाजका छुटकारा हो सकता है।

जैनधर्मके नियम यद्यपि कड़े दिखाई देते हैं किन्तु सर्वत्र उनके पालनमें मनुष्यकी शक्ति और परिस्थितिका ध्यान रखा जाता है इसलिये उनकी कठोरता खलती नहीं है। उसका तो एक ही ध्येय है कि मनुष्य स्वयं अपनी अनियंत्रित स्वेच्छाचारिता पर 'ब्रेक' लगाना सीखें और बुराईको करते हुए भी कमसे कम इतना तो न भूलें कि हम बुरा करते हैं। यह ऐसी चीज है जिसे हर कोई कर सकता है।

इसी तरह वृद्धावस्थामें अपने सांसारिक उत्तरदायित्वोंसे अवकाश लेकर और उनका भार अपने उत्तराधिकारीको सौंपकर यदि मनुष्य आत्मसाधनाका मार्ग स्वीकार कर लिया करें तो उससे एक ओर तो कार्यक्षेत्रमें आनेके लिये उत्सुक नये व्यक्तियोंको स्थान मिलनेमें सहूलियत होगी, दूसरी ओर कौटुम्बिक कटुता घटेगी। साथ ही साथ आध्यात्मिक विकासका मार्ग भी चालू रहेगा और उससे संसारको बहुत लाभ पहुँचेगा।

७—मुनिका चारित्र

मुनि या साधुके २८ मूलगुण होते हैं। १-५ पाँच महाव्रत—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत

और अपरिग्रह महाव्रत। श्रावक जिन पाँच व्रतोंका एक देशसे पालन करता है, साधु उन्हें ही पूरी तरहसे पालते हैं। अर्थात् वे छहों कायके जीवोंका घात नहीं करते और राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भावोंको उत्पन्न नहीं होने देते। अपने प्राणोंपर संकट आनेपर भी कभी झूठ नहीं बोलते। बिना दी हुई कोई भी वस्तु नहीं लेते। पूर्ण शीलका पालन करते हैं और अन्तरंग तथा बहिरंग, सभी प्रकारकी परिग्रहके त्यागी होते हैं। केवल शौच आदिके लिये पानी आवश्यक होनेसे एक कमंडलु और जीवरक्षाके लिये मोरके स्वयं गिरे हुए पंखोंकी एक पीछी अपने पास रखते हैं।

६-१० पाँच समिति-दिनमें सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित जमीनको अच्छी तरहसे देखकर चलते हैं। जब बोलते हैं तो हित और मित वचन बोलते हैं। दिनमें एक बार श्रावकके घर जाकर, यदि वह श्रद्धा और भक्तिके साथ भोजनके लिये निवेदन करे तो छियालीस दोष टालकर भोजन करते हैं। अपने कमंडलु और पीछी वगैरहको देख-भालकर हाथमें लेते हैं और देख-भालकर रखते हैं। मल मूत्र वगैरह ऐसे स्थानपर करते हैं जहाँ किसीको भी उससे कष्ट पहुँचनेकी सभावना न हो।

११-१५ पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं-जो विषय इन्द्रियोंको अच्छे लगते हैं उनसे राग नहीं करते और जो विषय इन्द्रियोंको बुरे लगते हैं उनसे द्वेष नहीं करते।

१६-२१ छै आवश्यक-प्रतिदिन सामायिक करते हैं, तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, प्रमादसे लगे हुए दोषोंका शोधन करते हैं, भविष्यमें लग सकनेवाले दोषोंसे बचनेके लिये अयोग्य वस्तुओंका मन, वचन और कायसे त्याग करते हैं और लगे हुए दोषोंका शोधन करनेके लिये अथवा अपनी शुद्धिके

लिये, अथवा कर्मोंकी निर्जराके लिये कायोत्सर्ग करते हैं। खड़े होकर, दोनों भुजाओंको नीचेकी ओर लटकाकर, पैरके दोनों पंजोंको एक सीधमें चार अंगुलके अन्तरसे रखकर साधुके निश्चल आत्मध्यानमें लीन होनेको कायोत्सर्ग कहते हैं।

२२-स्नान नहीं करते। गृहस्थके घर जब आहारके लिये जाते हैं तो गृहस्थ ही उनका शरीर पोंछ देते हैं।

२३-दन्तधावन नहीं करते। भोजन करनेके समय गृहस्थके घरपर ही मुखशुद्धि कर लेते हैं।

२४-पृथ्वीपर सोते हैं।

२५-खड़े होकर भोजन करते हैं।

२६-दिनमें एक बार ही भोजन करते हैं।

२७-नग्न रहते हैं।

२८-केशलोंच करते हैं।

इन २८ मूलगुणोंका पालन प्रत्येक जैन साधु करता है। उसके ऊपर यदि कोई कष्ट आता है तो वह उससे विचलित नहीं होता। भूख प्यास की वेदनासे पीड़ित होनेपर भी किसीके आगे हाथ नहीं पसारता और न मुखपर दीनताके भाव ही लाता है। जैसे सरकारसे असहयोग करनेवाले सत्याग्रही देशको आजादीके लिये जेलमें डाल दिये जानेपर भी न किसीसे फर्याद करते हैं और न कष्टोंसे ऊबकर माफी माँगते हैं, किन्तु अपने लक्ष्यकी पूर्तिमें ही तत्पर रहते हैं उसी प्रकार जैन साधु सांसारिक बन्धनोंके कारणोंसे असहयोग करके कष्टोंसे न घबराकर आत्माकी मुक्तिके लिये सदा उद्योगशील रहता है। जो लोग उसे सताते हैं, दुःख देते हैं, अपशब्द कहते हैं, उनपर वह क्रोध नहीं करता। उसे किसीसे लड़ाई झगड़ा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है वह तो अपने कर्तव्य में मस्त रहता है। उसके लिये

शत्रु मित्र, महल स्मशान, कंचन काँच, निन्दा स्तुति, सब समान हैं। यदि कोई उसकी पूजा करता है तो उसे भी वह आशीर्वाद देता है और यदि कोई उसपर तलवारसे वार करता है तो उसकी भी हितकामना करता है। उसे न किसीसे राग होता है और न किसीपर द्वेष। राग और द्वेषको दूर करनेके लिये ही तो वह साधुका आचरण पालता है। जैसा कि लिखा है—

"मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥
रागद्वेषनिवृत्तेः हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥"
—रत्नकर० श्रा०

अर्थात्–'मोहरूपी अन्धकारके दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शन-की प्राप्ति होनेके साथ ही साथ जिसे सच्चा ज्ञान भी प्राप्त हो गया है, वह साधु राग और द्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रका पालन करता है। [इस पर यह शंका होती है कि चारित्र तो हिंसा वगैरह पापोंसे बचनेके लिये पाला जाता है न कि राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिये; क्योंकि जैनधर्ममें अहिंसा ही आराध्य है। तो उसका समाधान करते हैं] राग और द्वेषके दूर हो जानेपर हिंसा वगैरह पाप तो स्वयं ही दूर हो जाते हैं। क्योंकि जिस मनुष्यको आजीविकाकी चिन्ता नहीं है वह राजाओंकी सेवा करने क्यों जायेगा? अतः जिसे किसीसे राग और द्वेष ही नहीं रहा वह हिंसा वगैरहके कार्य करेगा ही क्यों?'

अतः साधु बाहिरी समस्त बातोंसे इतना उदासीन हो जाता है कि वह किसीकी ओर अपेक्षावृत्तिसे ध्यान ही नहीं देता। जैनधर्ममें साधुको अत्यन्त निरीह वृत्तिवाला और अत्यन्त संयत

बतलाया है, तथा इसीलिये उसको आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित रखी गई हैं। साधु होनेके लिये उसे सब वस्त्र उतारकर नग्न होना पड़ता है। इससे एक ओर तो उसकी निर्विकारता स्पष्ट हो जाती है दूसरी ओर उसे अपनी नग्नताको ढाकनेके लिये किसीसे याचना करना नहीं पड़ता। जो निर्विकार नहीं है वह कभी बुद्धिपूर्वक नग्न हो नहीं सकता। विकारको छिपानेके लिये ही मनुष्य लंगोटी लगाता है। और यदि लंगोटी फट जाये या खोई जाये तो उसे चलना फिरना कठिन हो जाता है। किन्तु बचपनमें वही मनुष्य नंगा घूमता है, उसे देखकर किसीको लज्जा नहीं होतो, क्योंकि वह स्वयं निर्विकार है। जब उसमें विकार आने लगता है तभी वह नग्नतासे सकुचाने लगता है और उसे छिपानेके लिये वस्त्रका आवरण लगाता है। प्रकृति तो सबको दिगम्बर ही पैदा करती है पीछेसे मनुष्य कृत्रिमताके आडम्बरमें फँस जाता है। अतः जो साधु होता है वह कृत्रिमताको हटाकर प्राकृतिक स्थितिमें आ जाता है। उसे फिर कृत्रिम उपकरणोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिये सिर और दाढ़ी मूछोंके केशोंको दूसरे, चौथे अथवा छठे महीनेमें वह अपने हाथसे उपाड़ डालता है। साधुत्वकी दीक्षा लेते समय भी उसे केशोंका लुञ्चन करना होता है। ऐसा करनेके कई कारण हैं—प्रथम तो ऐसा करनेमें जो सुखशील व्यक्ति हैं और किसी घरेलू कठिनाई या अन्य किसी कारणसे साधु बनना चाहते हैं वे जल्दी इस ओर अग्रसर नहीं होते और इस तरह पाखण्डियोंसे साधुसंघका बचाव हो जाता है। दूसरे, साधु होनेपर यदि केश रखते हैं तो उनमें जूं वगैरह पड़नेसे वे हिंसाके कारण बन जाते हैं और यदि क्षौरकर्म कराते हैं तो उसके लिये दूसरोंसे पैसा वगैरह माँगना पड़ता है। अतः वैराग्य बढ़ा-

रहकी वृद्धिके लिये यतिजनोंको केशलोच करना आवश्यक बतलाया है।

लिंग चिन्हको कहते हैं। जिन लिंग या चिन्होंसे मुनिकी पहचान होती है वे मुनिके लिंग कहलाते हैं। लिंग दो प्रकारके होते हैं द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्यचिन्ह और भावलिंग अर्थात् आभ्यन्तर चिन्ह। जैनमुनिके ये दोनों चिन्ह इस प्रकार बतलाये हैं—

"जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ ५ ॥
मुच्छारम्भविमुक्कं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥ ६ ॥"

प्रवचन सा० ३।

'मनुष्य जैसा उत्पन्न होता है वैसा ही उसका रूप हो अर्थात् नग्न हो, सिर और दाढ़ी मूछोंके बाल उखाड़े हुए हों, समस्त बुरे कामोंसे बचा हुआ हो, हिंसा आदि पापोंसे रहित हो और अपने शरीरका संस्कार वगैरह न करता हो। यह सब तो जैन साधुके बाह्यचिन्ह हैं। तथा ममत्व और आरम्भसे मुक्त हो, उपयोग और मन वचन कायकी शुद्धिसे युक्त हो, दूसरोंकी रंचमात्र भी अपेक्षा न रखता हो। ये सब आभ्यन्तर चिन्ह हैं जो मोक्षके कारण हैं।'

इस युगमें यह प्रश्न किया जाता है कि बाहिरी चिन्हकी क्या आवश्यकता है? मगर बाहिरी चिन्होंसे ही आभ्यन्तरकी पहचान होती है। आँखोंसे तो बाहिरी चिन्ह ही देखे जाते हैं उन्हींको देखकर लोग उनके अभ्यन्तरको पहचाननेका प्रयत्न करते

हैं। तथा लोकमें भी मुद्राकी ही मान्यता है। राजमुद्राके होनेसे ही जरा सा कागज हजारों रुपयोंमें बिक जाता है। अतः द्रव्यलिंग भी आवश्यक है।

इस तरह जैनधर्ममें साधुको बिल्कुल निरपेक्ष रखनेका ही प्रयत्न किया गया है। फिर भी उसे शरीरको बनाये रखनेके लिये भोजनकी आवश्यकता होती है और उसके लिये उसे गृहस्थोंके घर जाना पड़ता है। वहाँ जाकर भी वह किसीके घरमें नहीं जाता और न किसीसे कुछ माँगता ही है। केवल भोजनके समय वह गृहस्थोंके द्वारपरसे निकल जाता है। गृहस्थोंके लिये यह आवश्यक होता है कि वे भोजन तैयार होने-पर अपने अपने द्वारपर खड़े होकर साधुकी प्रतीक्षा करें। यदि कोई साधु उधरसे निकलता है तो उसे देखते ही वे कहते हैं—'स्वामिन् ठहरिये, ठहरिये, ठहरिये।' यदि साधु ठहर जाते हैं तो वह उन्हें अपने घरमें ले जाकर ऊँचे आसन पर बैठा देता है। फिर उनके पैर धोता है। फिर उनकी पूजा करता है। फिर उन्हें नमस्कार करता है। फिर कहता है—'मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध और अन्न शुद्ध।' इन सब कार्योंको नवधा भक्ति कहते हैं। नवधा भक्तिके करनेपर ही साधु भोजनशालामें पधारते हैं। इस नवधा भक्तिसे एक तो साधुको सद्गृहस्थकी पहचान हो जाती है—वे जान जाते हैं कि यह गृहस्थ प्रमादी है या अप्रमादी? इसके यहाँ भोजन सावधानीसे बनाया गया है या असावधानीसे? दूसरे, इससे गृहस्थके मनमें अवज्ञाका भाव नहीं रहता और इसलिये वह जो कुछ देता है वह भार समझकर नहीं देता किन्तु अपना कर्तव्य समझकर प्रसन्नतासे देता है। जहाँ साधु माँगते हैं और गृहस्थ उन्हें दुरदुराते हैं वहाँ साधु न आत्मकल्याण कर पाता है और न परकल्याण ही कर पाता है।

इसलिये जैन साधु विधिपूर्वक दिये जानेपर ही भोजन ग्रहण करते हैं, अन्यथा लौट आते हैं।

भोजनशालामें जाकर वे खड़े हो जाते हैं और दोनों हाथोंको धोकर बायें हाथको कनिष्ठा अंगुलिमें दायें हाथको कनिष्ठा अँगुलिको फँसा लेते हैं। गृहस्थ उनकी बाएँ हाथकी हथेलीपर ग्रास बना बनाकर रखता जाता है और वे उसे अच्छी तरहसे देख भालकर दायें हाथकी अँगुलियोंसे उठा उठाकर मुँहमें रखते जाते हैं। यदि ग्रासमें कोई जीव जन्तु या बाल दिखाई दे जाता है, तो भोजन छोड़ देते हैं। जब पानी पीना होता है तो दोनों हाथोंकी अंजलि बनाकर पानी पी लेते हैं। यदि भोजन करते समय बायें हाथकी अंगुलि और दायें हाथकी अंगुलिका सम्बन्ध अचानक छूट जाता है, तो भोजन करना बन्द कर देते हैं। भोजनके बहुतसे अन्तराय जैन शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। पहले लिख आये हैं कि भोजन केवल जीवनके लिये किया जाता है और जीवन रक्षणका उद्देश्य केवल धर्मसाधन है। अतः जहाँ थोड़ी सी भी धर्ममें बाधा आती है भोजनको तुरन्त छोड़ देते हैं। हाथमें भोजन करना भी इसीलिये बतलाया है कि यदि अन्तराय हो जाये तो बहुत सा झूठा अन्न छोड़ना न पड़े, क्योंकि थालीमें भोजन करनेसे अन्तराय हो जानेपर भरी हुई थाली भी छोड़नी पड़ सकती है। दूसरे, पात्र हाथमें लेकर भोजनके लिये निकलनेसे दीनता भी मालूम होती है। गृहस्थके पात्रमें खानेसे पात्रको माँजने धोनेका झगड़ा रहता है, तथा पात्रमें खानेसे बैठकर खाना होगा, जो साधुके लिये उचित नहीं है, क्योंकि बैठकर खानेसे साधु आरामसे अमर्यादित आहार कर सकता है तथा सुखशील बन सकता है। अतः खड़े होकर आहार करना ही इसके लिये विधेय रखा गया है।

साधुको अपना अधिकांश समय स्वाध्यायमें ही बिताना होता है। स्वाध्यायके चार काल बतलाये हैं—प्रातः दो घड़ी दिन बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और मध्याह्न होनेसे दो घड़ी पहले समाप्त कर देना चाहिये। फिर मध्याह्नके बाद दो घड़ी बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और जब दिन अस्त होनेमें दो घड़ी काल बाकी रहे तो समाप्त कर देना चाहिये। फिर दो घड़ी रात बीत जानेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये। और आधी रात होनेसे दो घड़ी पहले समाप्त कर देना चाहिये। फिर आधी रात होनेके दो घड़ी बादसे स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और रातका अन्त होनेमें दो घड़ी बाकी रहनेपर समाप्त कर देना चाहिये।

साधुकी दिनचर्या

साधुको चाहिये कि मध्य रात्रिमें ४ घड़ीतक निद्रा लेकर, थकान दूर करके, स्वाध्याय प्रारम्भ करे और जब रात बीतनेमें दो घड़ी काल शेष रह जाये तो स्वाध्याय समाप्त करके प्रतिक्रमण करे। खूब अभ्यस्त योगी भी क्षणभरके प्रमादसे समाधिच्युत हो जाता है अतः साधुको सदा अप्रमादी रहना चाहिये। तीनों संध्याओं में जिन देवकी वन्दना करनी चाहिये और चित्तको स्थिर करनेके लिये उनके गुणोंका चिन्तन करना चाहिये। कायोत्सर्ग करते समय हृदयकमलमें प्राणवायुके साथ मनका नियमन करके 'णमो अरहंताणं णमोसिद्धाणं' का ध्यान करना चाहिये। फिर धीरे धीरे वायुको निकाल देना चाहिये। फिर प्राणवायुको अन्दर ले जाकर 'णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं' का ध्यान करना चाहिये और वायुको धीरे धीरे बाहर निकाल देना चाहिये। फिर प्राणवायुको अन्दर ले जाकर 'णमो

लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान करना चाहिये और वायुको धीरे धीरे बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार नौ बार करनेसे चिरसंचित पाप नष्ट होते हैं। जो साधु प्राणवायुको नियमन कर सकनेमें असमर्थ हों वे वचनके द्वारा ही ऊपर लिखे गये पाँच नमस्कार मंत्रोंका जप कर सकते हैं। यह पञ्च नमस्कार मंत्र समस्त विघ्नोंको नष्ट करनेवाला और सब मङ्गलोंमें मुख्य मंगल माना गया है। कायोत्सर्गके पश्चात् स्तुति वन्दना आदि करके आत्माका ध्यान करना चाहिये, क्योंकि आत्मध्यानके बिना मुमुक्षु साधुकी कोई भी क्रिया मोक्षसाधक नहीं होती।

इस प्रकार प्रातःकालीन देववन्दनाको करके फिर सिद्धोंकी शास्त्रकी और अपने गुरु आचार्य वगैरहको भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार प्रभातमें दो घड़ीतक प्रातःकालीन कृत्य करके फिर साधुको स्वाध्याय करना चाहिये। उसके बाद भोजन करनेकी इच्छा होनेपर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन ग्रहण करना चाहिये। और भोजन समाप्त होनेपर अगले दिनतकके लिये भोजनका त्याग कर देना चाहिये। फिर लगे हुए दोषोंका शोधन करके मध्याह्नके बाद दो घड़ी बीतनेपर स्वाध्याय करना चाहिये। जब दिन दो घड़ी बाकी रहे तो स्वाध्याय समाप्त करके और दिन भरके दोषोंका परिमार्जन करके आचार्यकी वन्दना करनी चाहिये। फिर देववन्दना करके दो घड़ी रात जानेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिये और आधी रात होनेमें दो घड़ी बाकी रह जानेपर समाप्त कर देना चाहिये। फिर चार घड़ीतक भूमिमें एक करवटसे शयन करना चाहिये। यह साधुका नित्य कृत्य है। नैमित्तिक कृत्य मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है।

साधुके सम्बन्धमें और जो बातें जैन शास्त्रोंमें लिखी हैं उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

साधु जब धूपसे छायामें या छायासे धूपमें जाते हैं तो मोर-पंखकी पीछीसे अपने शरीरको साफ करके जाते हैं। इसी तरह जब बैठते हैं तो उस स्थानको पीछीसे साफ करके बैठते हैं जिससे कोई जीव जन्तु उनके नीचे दबकर मर न जाये। जिस घरमें पशु बँधे हों या कोई बुरा कार्य होता हो उस घरमें साधुको भोजनके लिये नहीं जाना चाहिये तथा घरके अन्दर जाकर बार बार दाताकी ओर नहीं देखना चाहिये। यदि संघमें कोई साधु बीमार हो जाये तो उसकी कभी भी उपेक्षा नहीं करना चाहिये। अकेले साधुको कहीं नहीं जाना चाहिये, जब कहीं जाये तो दूसरे साधुके साथ ही जाना चाहिये। गुरुको देखते ही उठ खड़े होना चाहिये और उन्हें नमस्कार करना चाहिये। गुरु जो वस्तु दें उसे अत्यन्त आदरके साथ दोनों हाथोंसे लेना चाहिये और लेकर पुनः नमस्कार करना चाहिये। जिन्होंने दीक्षा दी हो, जो पढ़ाते हों, प्रायश्चित्त देते हों और समाधि मरण कराते हों वे सब गुरु होते हैं।

प्राण चले जानेपर भी साधुको दीनता नहीं दिखलाना चाहिये। भूखसे शरीरका कृश और मलिन होना साधुके लिये भूषण है, पवित्र मनवाला साधु उससे लजाता नहीं है। जिसका मन शुद्ध है उसे ही शुद्ध कहा जाता है। मन शुद्धिके बिना स्नान करनेपर भी शुद्धि नहीं होती। साधुको चित्रमें अंकित भी स्त्रीका स्पर्श नहीं करना चाहिये। जिनका स्मरण भी खतरनाक है उनको स्पर्श करना तो दूरकी बात है। साधुको रात्रिमें ऐसे स्थान पर नहीं सोना चाहिये जहाँ स्त्रियाँ रहती हों। न साध्वीयोंके साथ मार्ग में चलना ही चाहिये। तथा एकाकी साधुको किसी

एकाकी स्त्रीके साथ न गपशप करनी चाहिये, न भोजन करना चाहिये और न बैठना ही चाहिये। जहाँ वास करनेसे साधुका मन चंचल हो उस देशको छोड़ देना चाहिये। जो पाँचों प्रकारके वस्त्रसे रहित हैं वे ही निर्ग्रन्थ कहलाते हैं, अन्यथा सोना-चाँदी वगैरह कौन साधु रखता है?

परिग्रहकी बुराइयाँ बतलाते हुए एक जैनाचार्यने ठीक ही लिखा है—

"परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृती।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥४२॥"
पात्रके० स्तो०।

'परिग्रहवालोंको चोर आदिका भय अवश्य सताता है। चोरी हो जानेपर गुस्सा और मार डालनेके भाव होते हैं, कठोर और असत्य वचन बोलता है। ममत्व होनेसे मन भ्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें कलुषित आत्मावाले साधुओंको उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान कैसे हो सकता है।'

अतः साधुको बिल्कुल अपरिग्रही होना चाहिये।

ऊपर साधुकी जो चर्या बतलाई है उससे स्पष्ट है कि जैन-धर्ममें साधु जीवन बड़ा कठोर है। जो संसार, शरीर और भोगोंकी असारताको हृदयंगम कर चुके हैं, वे ही उसे अपना सकते हैं। सुखशील मनुष्योंकी गुजर उसमें नहीं हो सकती। जैन साधुका जीवन बिताना सचमुच 'तलवारकी धारपै धावनो' है। आजकलके सुखशील लोगोंको साधु जीवनकी यह कठोरता सम्भवतः सह्य न हो और वे इसे व्यर्थ समझें। किन्तु उन्हें यह

न भूल जाना चाहिये कि आज़ादी प्राप्त करना कितना कठिन है ? जिस देशपर विदेशी शक्ति प्रभुता जमा बैठती है, वहाँसे उसे निकालना कितना कठिन होता है यह हम भुक्तभोगी भारतीयोंसे छिपा नहीं। फिर अगणित भवोंसे जो कर्मबन्धन आत्मासे बँधे हुए हैं उनसे मुक्ति सरलतासे कैसे हो सकती है ? शरीर और इन्द्रियाँ आत्माके साथी नहीं हैं किन्तु उसको परतंत्र बनाये रखनेवाले कर्मोंके साथी हैं। जो उन्हें अपना समझकर उनके लालन-पालनकी चिन्ता करता है वह कर्मोंकी जंजीरोंको और दृढ़ करता है। इनकी उपमा अँग्रेजी शासनके उन प्रबन्धकोंसे की जा सकती है जिन्हें जनताकी जान-माळका रक्षक कहा जाता है किन्तु जो अवसर मिलते ही आँखें बदलकर भक्षक बन जाते हैं। अतः अपना काम निकालने भरके लिये ही इनकी अपेक्षा करनी चाहिये और काम निकल जानेपर उन्हें मुंह नहीं लगाना चाहिये। यही दृष्टिकोण साधुकी चर्यामें रखा गया है। जैन सिद्धान्तका यह भी आशय नहीं है कि दुःख उठानेसे ही मुक्ति मिलती है। गुस्सेमें आकर स्वयं कष्ट उठाना या दूसरोंको कष्ट देना बुरा है। किन्तु संसारकी वास्तविक स्थितिको जानकर उससे अपनेको मुक्त करनेके लिये मुक्तिके मार्गमें पैर रखनेपर दुःखोंकी परवाह नहीं की जाती। जैसा कि लिखा है—

'न दुःखं न सुखं यद्वद् हेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥
न दुःखं न सुखं तद्वद् हेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥'

अर्थात्—'जैसे रोगसे छुटकारा पानेके लिये न दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है, किन्तु चिकित्सामें लगनेपर दुःख हो अथवा सुख हो। उसी तरह मोक्षका साधन करनेमें न

दुःख ही कारण है और न सुख ही कारण है। किन्तु मुक्तिका उपाय करनेपर चाहे दुःख हो या सुख हो, उसकी परवाह नहीं की जाती।'

अतः साधुकी चर्याकी कठोरता साधुको जान बूझकर दुःखी करनेके उद्देश्यसे निर्धारित नहीं की गई है किन्तु उसे सावधान, कष्टसहिष्णु और सदा जागरूक रखनेके लिये की गई है।

कुछ लोग साधुके स्नान और दन्तधावन न करनेको बुरी निगाहसे देखते हैं, किन्तु उनके न करनेपर भी जैन साधुकी शारीरिक स्वच्छता दर्शनीय होती है। कुछ लोग कहते हैं कि जैन साधुओंके दाँतोंपर मल जमा रहता है और उसपर यदि पैसा चिपक जाये तो उसे उत्कृष्ट साधु कहा जाता है। किन्तु यह सब दन्तकथा मात्र है, दाँतोंपर मैल तभी जमता है जब आँतोंमें मल भरा रहता है। जैन साधु एक बारमें परिमित और हल्का आहार लेते हैं अतः न आँतोंमें मल रहता है और न दाँतोंपर वह जमता है। एकबार किसीने लिखा था कि जैन साधु अपने पास एक झाड़ू रखते हैं उससे वे चलते समय आगे झाड़कर चलते हैं। यह भी कोरी गप्प ही है। मोर पंखकी पीछी शरीर और बैठनेका स्थान वगैरह शोधनेमें काम आती है, वह झाड़ू नहीं है। ये सब द्वषी अथवा नासमझ लोगोंकी कल्पनाएँ हैं। जैन साधुका शरीर अस्वच्छ हो सकता है, किन्तु उसकी आत्मा अतिस्वच्छ होती है।

८–गुणस्थान

जैन सिद्धान्तमें संसारके सब जीवोंको चौदह स्थानोंमें विभाजित किया है। उन स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं। गुण या स्वभाव पाँच प्रकारके होते हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक,

क्षायोपशमिक और पारिणामिक। जो गुण कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक कहते हैं। जो गुण कर्मोंके उपशम-अनुदयसे होता है उसे औपशमिक कहते हैं। जो गुण कर्मोंके क्षय-विनाशसे प्रकट होता है उसे क्षायिक कहते हैं। जो गुण कर्मोंके क्षय और उपशमसे होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं और जो गुण कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना स्वभावसे ही होता है उसे पारिणामिक कहते हैं। चूँकि जीव इन गुणवाला होता है इसलिये आत्माको भी गुणनामसे कहा जाता है और उसके स्थान गुणस्थान कहे जाते हैं, जो चौदह हैं- मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोग-केवली। चूँकि ये गुणस्थान आत्माके गुणोंके विकासको लेकर माने गये हैं इसलिये एकदृष्टिसे ये आध्यात्मिक उत्थान और पतनके चार्टर जैसे हैं। इन्हें हम आत्माकी भूमिकाएँ भी कह सकते हैं।

पहले कहे गये आठ कर्मोंमें से सबसे प्रबल मोहनीयकर्म है। यह कर्म ही आत्माकी समस्त शक्तियोंको विकृत करके न तो उसे सच्चे मार्गका-आत्मस्वरूपका भान होने देता है और न उस मार्गपर चलने देता है। किन्तु ज्यों ही आत्माके ऊपरसे मोह-का पर्दा हटने लगता है त्यों ही उसके गुण विकसित होने लगते हैं। अतः इन गुणस्थानोंकी रचनामें मोहके चढ़ाव और उतारका ही ज्यादा हाथ है। इनका स्वरूप संक्षेपमें क्रमशः इस प्रकार है—

१ मिथ्यादृष्टि—मोहनीय कर्मके एक भेद मिथ्यात्वके उदयसे जो जीव अपने हिताहितका विचार नहीं कर सकते, अथवा

विचार कर सकनेपर भी ठीक विचार नहीं कर सकते वे जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। जैसे ज्वरवालेको मधुर रस भी अच्छा मालूम नहीं होता वैसे ही उन्हें भी धर्म अच्छा नहीं मालूम होता। संसारके अधिकतर जीव इसी श्रेणीके होते हैं।

२ सासादनसम्यग्दृष्टि—जो जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयको हटाकर सम्यग्दृष्टि हो जाता है वह जब सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्वमें जाता है तो दोनोंके बीचका यह दर्जा होता है। जैसे पहाड़की चोटीसे यदि कोई आदमी लुढ़के तो जब तक वह जमीनमें नहीं आ जाता तबतक उसे न पहाड़की चोटीपर ही कहा जा सकता है और न जमीनपर ही, वैसे ही इसे भी जानना। सम्यक्त्व चोटीके समान है, मिथ्यात्व जमीनके समान है और यह गुणस्थान बीचके ढालु मार्गके समान है। अतः जब कोई जीव आगे कहे जानेवाले चौथे गुणस्थानसे गिरता है तभी यह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थानमें आनेके बाद जीव नियमसे पहले गुणस्थानमें पहुँच जाता है।

३ सम्यक्मिथ्यादृष्टि—जैसे दही और गुड़को मिला देने पर दोनोंका मिला हुआ स्वाद होता है उसी प्रकार एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोंको सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

४ असंयतसम्यग्दृष्टि—जिस जीवकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। और जो जीव सम्यग्दृष्टि तो होता है किन्तु संयम नहीं पालता वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कहा भी है—

'णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा वि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥'

'जो न तो इन्द्रियोंके विषयों से विरक्त है और न त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसाका ही त्यागी है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये मार्गका श्रद्धान करता है–उसे उस पर दृढ़ आस्था है, वह जीव असंयत सम्यग्दृष्टि है।'

आगेके सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं।

५ संयतासंयत–जो संयत भी हो और असंयत भी हो उसे संयतासंयत कहते हैं। अर्थात् जो त्रस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है और यथाशक्ति अपनी इन्द्रियोंपर भी नियंत्रण रखता है उसे संयतासंयत कहते हैं। पहले जो गृहस्थका चारित्र बतलाया है वह सब संयतासंयतका ही चारित्र है। व्रती गृहस्थोंको ही संयतासंयत कहते हैं। इस गुणस्थानसे आगेके जितने गुणस्थान हैं वे सब संयमकी ही मुख्यतासे होते हैं।

६ प्रमत्त संयत–जो पूर्ण संयमको पालते हुए भी प्रमादके कारण उसमें कभी कभी कुछ असावधान हो जाते हैं उन मुनियोंको प्रमत्त संयत कहते हैं।

७ अप्रमत्त संयत–जो प्रमादके न होनेसे अस्खलित संयमका पालन करते हैं, ध्यानमें मग्न उन मुनियोंको अप्रमत्त संयत कहते हैं।

सातवें गुणस्थानसे आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं एक उपशम श्रेणि और दूसरी क्षपकश्रेणि। श्रेणिका मतलब है पंक्ति या कतार। जिस श्रेणिपर यह जीव कर्मोंका उपशम करता हुआ–उन्हें दबाता हुआ चढ़ता है उसे उपशम श्रेणि कहते हैं और जिस श्रेणिपर कर्मोंको नष्ट करता हुआ चढ़ता है उसे क्षपक श्रेणि कहते हैं। प्रत्येक श्रेणीमें चार चार गुणस्थान होते हैं। आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान उपशम श्रेणिमें भी शामिल है और

क्षपक श्रेणिमें भी शामिल है। ग्यारहवाँ गुणस्थान केवल उपशम श्रेणिका ही है और बारहवाँ गुणस्थान केवल क्षपक श्रेणिका ही है। ये सभी गुणस्थान क्रमशः होते हैं और ध्यानमें मग्न मुनियोंके ही होते हैं।

८ अपूर्व करण—करण शब्दका अर्थ परिणाम है। और जो पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। ध्यानमें मग्न जिन मुनियोंके प्रत्येक समयमें अपूर्व अपूर्व परिणाम यानी भाव होते हैं उन्हें अपूर्वकरण गुणस्थानवाला कहा जाता है। इस गुणस्थानमें न तो किसी कर्मका उपशम होता है और न क्षय होता है। किन्तु उसके लिये तैयारी होती है, जीवके भाव प्रति समय उन्नत उन्नत होते चले जाते हैं।

९ अनिवृत्ति बादर साम्पराय—समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें कोई भेद न होनेको अनिवृत्ति कहते हैं। अपूर्वकरणकी तरह यद्यपि यहाँ भी प्रति समय अपूर्व अपूर्व परिणाम ही होते हैं किन्तु अपूर्वकरणमें तो एक समयमें अनेक परिणाम होनेसे समान समयवर्ती जीवोंके परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं। परन्तु इस गुणस्थानमें एक समयमें एक ही परिणाम होनेके कारण समान समयमें रहनेवाले सभी जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं। उन परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। और बादर साम्परायका अर्थ 'स्थूलकषाय' होता है। इस अनिवृत्तिकरणके होनेपर ध्यानस्थमुनि या तो कर्मोंको दबा देता है या उन्हें नष्ट कर डालता है। यहाँ तकके सब गुणस्थानोंमें स्थूल कषाय पाई जाती है, यह बतलानेके लिये इस गुणस्थानके नामके साथ 'बादर साम्पराय' पद जोड़ा गया है। कहा भी है—

'होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा ।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा ॥'

'वे जीव अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहलाते हैं, जिनके प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है, और जो अत्यन्त निर्मल ध्यानरूपी अग्निकी शिखाओंसे कर्मरूपी वनको जला डालते हैं।'

१० सूक्ष्म साम्पराय–उक्त प्रकारके परिणामोंके द्वारा जो ध्यानस्थ मुनि कषायको सूक्ष्म कर डालते हैं उन्हें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानवाला कहा जाता है।

११ उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ–उपशम श्रेणिपर चढ़नेवाले ध्यानस्थ मुनि जब उस सूक्ष्मकषायको भी दबा देते हैं तो उन्हें उपशान्तकषाय कहते हैं। पहले लिख आए हैं कि आगे बढ़नेवाले ध्यानी-मुनि आठवें गुणस्थानसे दो श्रेणियोंमें बँट जाते हैं। उनमेंसे उपशम श्रेणिवाले मोहको धीरे धीरे सर्वथा दबा देते हैं पर उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अतः जैसे किसी बर्तनमें भरी हुई भाप अपने वेगसे ढक्कनको नीचे गिरा देती है, वैसे ही इस गुणस्थानमें आनेपर दबा हुआ मोह उपशम श्रेणिवाली आत्माओंको अपने वेगसे नीचेकी ओर गिरा देता है। इसमें कषायको बिल्कुल दबा दिया जाता है। अतएव कषायका उदय न होनेसे इसका नाम उपशान्तकषाय वीतराग है। किन्तु इसके पूर्ण ज्ञान और दर्शनको रोकनेवाले कर्म मौजूद रहते हैं इसलिये इसे छद्मस्थ भी कहते हैं।

१२ क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ–क्षपक श्रेणिपर चढ़नेवाले मुनि मोहको धीरे धीरे नष्ट करते करते जब सर्वथा निर्मूल कर डालते हैं तो उन्हें क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं।

इस प्रकार सातवें गुणस्थानसे आगे बढ़नेवाले ध्यानी साधु

चाहे पहली श्रेणिपर चढ़ें, चाहे दूसरी श्रेणिपर चढ़ें वे सब आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणि चढ़नेवालोंमें इतना ही अन्तर होता है कि प्रथम श्रेणिवालोंसे दूसरी श्रेणिवालोंमें आत्मविशुद्धि और आत्मबल विशिष्ट प्रकारका होता है। जिसके कारण पहली श्रेणिवाले मुनि तो दसवेंसे ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँच कर दबे हुए मोहके उद्भूत हो जानेसे नीचे गिर जाते हैं। और दूसरी श्रेणिवाले मोहको सर्वथा नष्ट करके दसवेंसे बारहवें गुणस्थानमें पहुँच जाते हैं। यह सब जीवके भावोंका खेल है। उसीके कारण ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचनेवाले साधुका अवश्य पतन होता है और बारहवें गुणस्थानमें पहुँच जानेवाला कभी नहीं गिरता बल्कि ऊपरको ही चढ़ता है।

१३ सयोगकेवली—समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर बारहवाँ गुणस्थान होता है। मोहनीय कर्मके चले जानेसे शेष कर्मोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है अतः बारहवेंके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घाति कर्मोंका नाश करके क्षीणकषाय मुनि सयोगकेवली हो जाता है। ज्ञानावरण कर्मके नष्ट हो जानेसे उसके केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है। वह ज्ञान पदार्थोंको जाननेमें इन्द्रिय प्रकाश और मन वगैरहकी सहायता नहीं लेता इसीलिये उसे केवलज्ञान कहते हैं और उसके होनेके कारण इस गुणस्थानवाले केवली कहलाते हैं। ये केवली आत्माके शत्रु घाति कर्मोंको जीत लेनेके कारण जिन, परमात्मा, जीवन्मुक्त, अरहंत आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं। जैन तीर्थंकर इसी अवस्थाको प्राप्त करके जैन धर्मका प्रवर्तन करते हैं—जगह जगह घूम कर प्राणिमात्रको उसके हितका मार्ग सझाते हैं और इसी कार्यमें अपने जीवनके शेष दिन

बिताते हैं। जब आयु अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्तसे कम रह जाती है तो सब व्यापार बन्द करके ध्यानस्थ हो जाते हैं। जब तक केवलीके मन, वचन और कायका व्यापार रहता है तब तक वे सयोगकेवली कहलाते हैं।

१४ अयोगकेवली—जब केवली ध्यानस्थ होकर मन, वचन और कायका सब व्यापार बन्द कर देते हैं तब उन्हें अयोग-केवली कहते हैं। ये अयोगकेवली बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मोंको भी ध्यानरूपी अग्निके द्वारा भस्म करके समस्त कर्म और शरीरके बन्धनसे छूटकर मोक्ष लाभ करते हैं।

इस तरह संसारके सब जीव अपने अपने आत्मिक विकासके तारतम्यके कारण चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं। इनमेंसे शुरूके चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सभीके होते हैं। पाँचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु पक्षियों और मनुष्योंके होता है। पाँचवेंसे आगेके सब गुणस्थान साधुजनोंके ही होते हैं। उनमें भी सातवेंसे बारहवें तकके गुणस्थान आत्म-ध्यानमें लीन साधुके ही होते हैं। और उनमेंसे प्रत्येक गुण-स्थानका काल अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्तसे कम होता है।

९—मोक्ष या सिद्धि

मुक्ति या मोक्ष शब्दका अर्थ छुटकारा होता है। अतः आत्माके समस्त कर्मबन्धनोंसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। मोक्षका दूसरा नाम सिद्धि भी है। सिद्धि शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' होता है। जैसे धातुको गलाने तपाने वगैरहसे उसमेंसे मल आदि दूर होकर शुद्ध सोना प्राप्त हो जाता है वैसे ही आत्माके गुणोंको कलुषित करनेवाले दोषोंको दूर करके शुद्ध आत्माकी प्राप्तिको सिद्धि या मोक्ष कहते हैं। कर्ममलसे छुटकारा हुए

बिना आत्मा शुद्ध नहीं होता अतः मुक्ति और सिद्धि ये दोनों एक ही अवस्थाके दो नाम हैं जो दो बातोंको सूचित करते हैं। मुक्ति नाम कर्मबन्धनसे छुटकारेको बतलाता है और सिद्धि नाम उस छुटकारेके होनेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्तिको बतलाता है। अतः जैनधर्ममें न तो आत्माके अभावको ही मोक्ष कहा जाता है जैसा बौद्ध लोग मानते हैं और न आत्माके गुणोंके विनाशको ही मोक्ष कहा जाता है जैसा वैशेषिक दर्शन मानता है। जैन-धर्ममें आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है जो ज्ञाता और दृष्टा है, किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बंधा हुआ होनेके कारण अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगता रहता है। जब वह उस कर्मबन्धनका क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है।

मुक्त अवस्थामें उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जाते हैं। जैसे स्वर्णमेंसे मलके निकल जानेपर उसके स्वाभाविक गुण पीतता वगैरह ज्यादा विकसित हो जाते हैं इसीसे शुद्ध सोना ज्यादा चमकदार और पीला होता है, वैसे ही आत्मामेंसे कर्म-मलके निकल जानेसे आत्माके स्वाभाविक गुण निखर उठते हैं।

मुक्त होनेके बाद यह जीव ऊपरको जाता है। चूँकि जीवका स्वभाव ऊपरको जानेका है जैसा कि आगकी लपटें स्वभावसे ऊपरको ही जाती हैं। अतः अपने उस स्वभावके कारण ही मुक्त जीव ऊपरको जाता है। लोकके ऊपर अग्रभागमें मोक्ष स्थान है जिसे जैन सिद्धांतमें सिद्धशिला भी कहते हैं। सब मुक्त जीव मुक्त होनेके बाद ऊर्ध्वगमन करके इस मोक्ष स्थानमें विराजमान हो जाते हैं। जैन सिद्धान्तमें मोक्षस्थानकी मान्यता भी अन्य सब दर्शनोंसे निराली है। इसका कारण यह है कि

वैदिक दर्शनोंमें आत्माको व्यापक माना गया है अतः उन्हें मोक्ष-स्थानके सम्बन्धमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं थी। बौद्ध-दर्शनमें आत्मा कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, अतः उनके लिये मोक्षस्थानकी चिन्ता ही व्यर्थ थी। किन्तु जैनदर्शन आत्माको एक स्वतंत्र तत्त्व माननेके साथ ही साथ व्यापक न मानकर प्राप्त शरीरके बराबर मानता है। इसलिये उसे मोक्षस्थानके सम्बन्धमें विचार करना पड़ा। वह कहता है कि मुक्त जीव बन्धनसे छूटकर ऊर्ध्वगमन करता है और लोकके अग्रभागमें पहुँचकर स्थिर हो जाता है, फिर वहाँसे लौटकर नहीं आता।

जैन शास्त्रोंमें एक मण्डली मतका उल्लेख पाया जाता है, जो मुक्त जीवोंका ऊर्ध्वगमन मानता है। किन्तु उसने मोक्षस्थानके सम्बन्धमें कोई विचार प्रकट नहीं किया। वह कहता है कि मुक्त जीव अनन्त काल तक ऊपरको चला जाता है, उसका कभी भी अवस्थान नहीं होता। ऊर्ध्वगमन माननेपर भी क्या मण्डलीको मोक्षस्थानकी चिन्ता न हुई होगी? किन्तु जब उसके तार्किक मस्तिष्कमें यह तर्क उत्पन्न हुआ होगा कि मुक्त जीव ऊपरको जाकरके भी एक निश्चित स्थानपर ही क्यों रुक जाता है, आगे क्यों नहीं जाता? तो सम्भवतः उसे इसका कोई समुचित उत्तर न सूझा होगा और फलतः उसने सदा ऊर्ध्वगमन मान लिया होगा। किन्तु जैनधर्ममें गति और स्थितिमें सहायक धर्म और अधर्म नामके द्रव्योंको स्वीकार करके इस शंकाका ही मूलोच्छेद कर दिया गया। यह दोनों द्रव्य समस्त लोकमें व्याप्त हैं और लोकके ऊपर उसके अग्र भागमें ही मोक्ष स्थान है। गतिमें सहायक धर्मद्रव्य वहीं तक व्याप्त है, आगे नहीं। अतः मुक्त जीव वहींपर रुक जाता है, आगे नहीं जाता।

मुक्त अवस्थामें बिना शरीरके केवल शुद्ध आत्मा मात्र

रहती है, उसका आकार उसी शरीरके समान होता है जिससे आत्माने मुक्तिलाभ किया है। जैसे धूपमें खड़े होनेपर शरीरकी छाया पड़ जाती है वैसे ही शरीरकी आकृति मात्र आत्मा मुक्तावस्थामें होता है जो अमूर्त होनेके कारण दिखाई नहीं देता। मुक्त हो जानेके बाद यह आत्मा जीना, मरना, बुढ़ापा, रोग, शोक, दुःख, भय वगैरहसे रहित हो जाता है; क्योंकि ये चीजें शरीरके साथ सम्बन्ध रखती हैं और शरीर वहाँ होता नहीं है। तथा मुक्तपना आत्माकी शुद्ध अवस्थाका ही नामान्तर है, अतः जबतक आत्मा शुद्ध है तबतक वहाँसे च्युत नहीं हो सकता। और पुनः अशुद्ध होनेका कोई कारण वहाँ मौजूद नहीं रहता अतः वहाँसे कभी नहीं गिरता, सदा निराकुलतारूप आत्म-सुखमें मग्न रहता है।

१०—क्या जैनधर्म नास्तिक है ?

जो धर्म ईश्वरको सृष्टिका कर्ता और वेदोंको प्रमाण मानते हैं, वे जैनधर्मकी गणना नास्तिक धर्मोंमें करते हैं; क्योंकि जैन-धर्म न तो ईश्वरको सृष्टिका कर्ता मानता है और न वेदोंके प्रामाण्यको ही स्वीकार करता है। किन्तु 'जो ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानता और न वेदोंको प्रमाण मानता है वह नास्तिक है' नास्तिक शब्दका यह अर्थ किसी भी विचारशील शास्त्रज्ञने नहीं किया। बल्कि जो परलोक नहीं मानता, पुण्य पाप नहीं मानता, नरक स्वर्ग नहीं मानता, परमात्माको नहीं मानता वह नास्तिक है यही अर्थ नास्तिक शब्दका पाया जाता है। इस अर्थकी दृष्टिसे जैनधर्म घोर आस्तिक ही ठहरता है, क्योंकि वह परलोक मानता है, आत्माको स्वतन्त्र द्रव्य मानता है, पुण्य पाप और नरक स्वर्ग मानता है, तथा प्रत्येक आत्मामें परमात्मा

होनेकी शक्ति मानता है। इन सब बातोंका विवेचन पहले किया गया है। इन सब मान्यताओंके होते हुए जैनधर्मको नास्तिक नहीं कहा जा सकता। जो वैदिक धर्मवाले जैनधर्मको नास्तिक कहते हैं वे वैदिक धर्मको न माननेके कारण ही ऐसा कहते है। किन्तु ऐसी स्थितिमें तो सभी धर्म परस्परमें एक दूसरेको दृष्टिसे नास्तिक ठहरेंगे। अतः शास्त्रीय दृष्टिसे जैनधर्म परम आस्तिक ठहरता है।

४. जैन साहित्य

जैन साहित्य बड़ा विशाल है, भारतीय साहित्यमें उसका एक विशिष्ट स्थान है। लोकोपकारी अनेक जैनाचार्योंने अपने जीवनका बहुभाग उसकी रचनामें व्यतीत किया है। जैनधर्ममें बड़े बड़े प्रकाण्ड जैनाचार्य हो गये हैं जो प्रबल तार्किक, वैयाकरण, कवि और दार्शनिक थे। उन्होंने जैनधर्मके साथ साथ भारतीय साहित्यके इतर क्षेत्रोंमें भी अपनी लेखनीके जौहर दिखलाये हैं। दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, कथा, शिल्प, मंत्र तंत्र, वास्तु, वैद्यक आदि अनेक विषयोंपर प्रचुर जैनसाहित्य आज उपलब्ध है और बहुत सा धार्मिक द्वेष, लापरवाही तथा अज्ञानताके कारण नष्ट हो चुका।

भारतकी अनेक भाषाओंमें जैनसाहित्य लिखा हुआ है, जिनमें प्राकृत संस्कृत और द्रवेडियन भाषाओंका नाम उल्लेखनीय है। जैनधर्मने प्रारम्भसे ही अपने प्रचारके लिये लोक भाषाओंको अपनाया है अतः अपने अपने समयकी लोकभाषामें भी जैन साहित्य की रचनाएँ पाई जाती हैं।

आज जो जैन साहित्य उपलब्ध है वह सब भगवान् महावीर की उपदेश परम्परासे सम्बद्ध है। भगवान महावीरके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति थे। उन्होंने भगवान महावीरके उपदेशोंको अवधारण करके बारह अंग और चौदह पूर्वके रूपमें निबद्ध किया। जो इन अंगों और पूर्वोंका पारगामी होता था उसे श्रुतकेवली कहा जाता था। जैन परम्परामें ज्ञानियोंमें दो ही पद सबसे महान गिने जाते हैं-प्रत्यक्ष ज्ञानियोंमें केवल ज्ञानीका और परोक्ष ज्ञानियोंमें श्रुतकेवलीका। जैसे केवल-

ज्ञानी समस्त चराचर जगतको प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं वैसे ही श्रुतकेवली शास्त्रमें वर्णित प्रत्येक विषयको स्पष्ट जानते हैं।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् तीन केवलज्ञानी हुए और उनके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए। जिनमेंसे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके समयमें मगधमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब ये अपने संघके साथ दक्षिणकी ओर चले गये और फिर लौट कर नहीं आये। अतः दुर्भिक्षके पश्चात् पाटलीपुत्रमें भद्रबाहु स्वामीकी अनुपस्थितिमें जो अंग साहित्य संकलित किया गया वह एकपक्षीय कहलाया, दूसरे पक्षने उसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दुर्भिक्षके समय जो साधु मगधमें ही रह गये थे, सामयिक कठिनाइयोंके कारण वे अपने आचारमें शिथिल हो गये थे। यहींसे जैनसंघ दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बँट गया और उसका साहित्य भी जुदा जुदा हो गया।

दिगम्बर साहित्य

श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ। चौदह पूर्वोंमेंसे ४ पूर्व उनके साथ ही लुप्त हो गये। उनके पश्चात् ११ आचार्य ग्यारह अंग और दस पूर्वोंके ज्ञाता हुए। फिर पाँच आचार्य ग्यारह अंगके ज्ञाता हुए। पूर्वोका ज्ञान एक तरहसे नष्ट ही हो गया और छुटपुट ज्ञान बाकी रह गया। फिर चार आचार्य केवल प्रथम आचारांगके ही ज्ञाता हुए और अंग ज्ञान भी नष्ट भ्रष्ट हो गया। इस तरह कालक्रमसे विच्छिन्न होते होते वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष बीतने पर जब अंगों और पूर्वोंके बचे खुचे ज्ञानके भी लुप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हुआ तब गिरिनार पर्वत पर स्थित आचार्य धरसेनने भूतबलि और पुष्पदन्त नामके दो सर्वोत्तम साधुओंको अपना शिष्य बनाकर उन्हें श्रुताभ्यास

कराया। इन दोनोंने श्रुतका अभ्यास करके षट्खण्डागम नामके सूत्र ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें की। इसी समयके लगभग गुणधर नामके आचार्य हुए। उन्होंने २३३ गाथाओंमें कसाय पाहुड या कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना की। यह कषायप्राभृत आचार्य परम्परासे आर्यमंक्षु और नागहस्ति नामके आचार्योंको प्राप्त हुआ। उनसे सीखकर यतिवृषभ नामके आचार्यने उनपर वृत्तिसूत्र रचे, जो प्राकृतमें हैं और ६००० श्लोक प्रमाण हैं। इन दोनों महान ग्रन्थोंपर अनेक आचार्योंने अनेक टीकाएँ रचीं जो आज उपलब्ध नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए। ये बड़े समर्थ विद्वान् थे। इन्होंने षट्खण्डागमपर अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवला शक सं० ७३८ में पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है। दूसरे महान ग्रन्थ कषायपाहुडपर भी इन्होंने टीका लिखी। किन्तु वे उसे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर ही स्वर्गवासी हो गये। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिखकर शक सं० ७५९ में उसे पूरा किया। इस टीकाका नाम जयधवला है और वह ६० हजार श्लोक प्रमाण है। इन दोनों टीकाओंकी रचना संस्कृत और प्राकृतके सम्मिश्रणसे की गई है। बहुभाग प्राकृतमें है। बीच बीचमें संस्कृत भी आ जाती है, जैसा कि टीकाकारने स्वयं लिखा है—

> "प्रायः प्राकृतभारत्या क्वचित् संस्कृतमिश्रया।
> मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थविस्तरः ॥"

षट्खण्डागमका ही अन्तिम खण्ड महाबंध है जिसकी रचना भूतबलि आचार्यने की थी। यह भी प्राकृतमें है और इसका प्रमाण ४० हजार है। इन सभी ग्रन्थोंमें जैन कर्मसिद्धान्तका बहुत सूक्ष्म और गहन वर्णन है।

चिरकालसे ये तीनों महान ग्रन्थ मूडबिद्री (दक्षिण कनारा) के जैन भण्डारमें ताड़पत्रपर सुरक्षित थे। वहाँके भट्टारक महोदय तथा पंचोंकी उदात्त भावनाके फलस्वरूप अब इन तीनोंका प्रकाशन हिन्दी टीकाके साथ हो रहा है।

ईसाकी दसवीं शताब्दीमें दक्षिणमें नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नामके एक जैनाचार्य हुए। वे उक्त तीनों आगम ग्रन्थोंके महान विद्वान थे। उन्होंने उनसे संकलन करके गोमट्टसार तथा लब्धिसार क्षपणासार नामक दो सग्रह ग्रन्थ रचे, जो प्राकृत गाथाबद्ध महान ग्रन्थ हैं। उनमें भी जीव, कर्म और कर्मोंके क्षपण यानी विनाशका सुन्दर किन्तु गहन वर्णन है। दोनों ग्रन्थोंपर संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध हैं और जयपुरके स्व० प० टोडरमलजीकी जयपुरी भाषामें रची हुई भाषाटीका भी उपलब्ध है इन टीकाओंके साथ यह महान ग्रन्थ कई खण्डोंमें छपकर प्रकाशित हो चुका है।

ईसाकी प्रथम शताब्दीमें कुन्दकुन्द नामके एक महान आचार्य हो गये हैं। इनके तीन ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय अतिप्रसिद्ध हैं जो कुन्दकुन्दत्रयीके नामसे भी ख्यात हैं। तीनों प्राकृतमें हैं। समयसारमें विविध दृष्टियोंसे आत्मतत्त्वका सुन्दर विवेचन है, जैन अध्यात्मका यह अपूर्व ग्रन्थ है। नवीं शतीके अध्यात्म प्रेमी आचार्य अमृतचन्द्र सूरिने इस ग्रन्थपर संस्कृतमें कलशकी रचना की है जो बड़ी हृदयहारिणी है। सतरहवीं शताब्दीके कविवर बनारसीदासने इन कलशोंका हिन्दीमें अत्यन्त रोचक पद्यानुवाद किया है।

प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायमें जैनाभिमत तत्त्वोंका युक्तिपूर्ण विवेचन है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्दने बहुतसे प्राभृतोंकी रचना की थी, किन्तु उनमेंसे आज केवल आठ प्राभृत

उपलब्ध हैं। तमिल भाषाके तिरुकुरल काव्यके रचयिता भी इन्हीं को कहा जाता है। इनके शिष्य उमास्वामि या उमास्वाति नामके जैनाचार्य थे, जिन्होंने सर्वप्रथम जैनवाङ्मयको संस्कृतसूत्रोंमें निबद्ध करके तत्त्वार्थसूत्र नामके सूत्रग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थके दस अध्यायोंमें जीव आदि सात तत्त्वोंका सुन्दर विवेचन किया गया है। अपने अपने धर्मोंमें गीता, कुरान और बाइबिल-को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैनधर्ममें इस ग्रन्थको प्राप्त है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय इसे मानते हैं। दोनों ही परम्पराओंके आचार्योंने उसके ऊपर अनेक टीकाएँ रची हैं, जिनमें अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थ राजवार्तिक और विद्यानन्दिका तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक उल्लेखनीय हैं। दोनों ही वार्तिकग्रन्थ बड़े ही प्रौढ़शैलीमें रचे गये हैं और जैनदर्शनके अपूर्व ग्रन्थ हैं।

दर्शन और न्यायशास्त्रमें स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकरकी रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। स्वामी समन्तभद्रने आप्त-मीमांसा नामका एक प्रकरण ग्रन्थ रचा है, जिसमें स्याद्वादका सुन्दर विवेचन करते हुए इतर दर्शनोंकी विचारपूर्ण आलोचना की गई है। इस आप्तमीमांसापर स्वामी अकलंकदेवने 'अष्टशती' नामका प्रकरण रचा है और अष्टशतीपर स्वामी विद्यानन्दिने अष्टसहस्री नामकी टीका रची है। यह अष्टसहस्री इतनी गहन है कि इसके समझनेमें कष्टसहस्रीका अनुभव होता है। इन्हीं विद्यानन्दिकी आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा भी भाषा, विषय और विवेचनकी दृष्टिसे द्रष्टव्य हैं।

अकलंकदेवको जैनन्यायका सर्जक कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इन्होंने टीका ग्रन्थोंके सिवा सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि अनेक प्रकरणग्रन्थ रचे हैं जो बहुत ही क्लिष्ट और गहन हैं। इन प्रकरणोंपर आचार्य

अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र नामके प्रख्यात जैन नैयायिकोंने विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ रचे हैं जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। माणिक्यनन्दि आचार्यका परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ जैन-न्यायके अभ्यासियोंके लिये बड़े ही कामका है। इसपर आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड नामका महान व्याख्या ग्रन्थ रचा है। उसे अति संक्षिप्त करके अनन्तवीर्य नामके आचार्यने प्रमेय-रत्नमाला नामकी टीका बनाई है। पात्रकेसरीका त्रिलक्षण कदर्थन, श्रीदत्तका जल्पनिर्णय आदि कुछ ऐसे भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जो आज अनुपलब्ध हैं किन्तु अन्य ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख मिलता है।

पुराण साहित्यमें हरिवंशपुराण, महापुराण, पद्मचरित आदि ग्रन्थोंका नाम उल्लेखनीय है। जैन पुराणोंका मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ शलाका पुरुषोंके चरित्र हैं। इनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव हैं। जिनमें पुराण पुरुषोंका पुण्यचरित वर्णन किया गया हो उसे पुराण कहते हैं। हरिवंश पुराणमें कौरव और पाण्डवोंका वर्णन है और पद्म-चरितमें श्रीरामचन्द्रका वर्णन है। इस तरहसे ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः जैन महाभारत और जैन रामायण कहे जा सकते हैं। इनके सिवा चरितग्रन्थोंका तो जैनसाहित्यमें भण्डार भरा है। सकलकीर्ति आदि आचार्योंने अनेक चरित ग्रन्थ रचे हैं। आचार्य जटासिंह नन्दिका वरांगचरित एक सुन्दर पौराणिक काव्य है। काव्यसाहित्य भी कम नहीं है। वीरनन्दिका चन्द्रप्रभचरित, हरिचन्द्रका धर्मशर्माभ्युदय, धनंजयका द्विसन्धान और वाग्भट्टका नेमिनिर्वाण काव्य उच्चकोटिके महाकाव्य हैं।

अपभ्रंश भाषामें तो इन पुराण और चरित ग्रन्थोंका संस्कृतसे भी अधिक बाहुल्य है। अपभ्रंश भाषामें जैनकवियोंने खूब

रचनाएँ की हैं। स्वयंभु, पुष्पदन्त, कनकामर रइधु आदि अनेक कवियोंने अपभ्रंश भाषाके साहित्यको समृद्ध बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा।

कथा साहित्य भी विशाल है। आचार्य हरिषेणका कथाकोश बहुत प्राचीन (ई० सं० ६३२) है। आराधना कथाकोश, पुण्याश्रव कथाकोश आदि अन्य भी बहुतसे कथाकोश हैं जिनमें कथाओंके द्वारा धर्माचरणका शुभ फल और अधर्माचरणका अशुभ फल दिखलाया गया है। चम्पू काव्य भी जैनसाहित्यमें बहुत हैं। सोमदेवका यशस्तिलक चम्पू, हरिचन्द्रका जीवन्धर चम्पू और अर्हद्दासका पुरुदेव चम्पू उत्कृष्ट चम्पूकाव्य हैं। गद्य-ग्रन्थोंमें वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणि उल्लेखनीय है। नाटकोंमें हस्तिमल्लके विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, अंजना पवनंजय आदि दर्शनीय हैं। स्तोत्र साहित्य भी कम नहीं है, महाकवि धनंजयका विषापहार, कुमुदचन्द्रका कल्याण मन्दिर आदि स्तोत्र साहित्यकी दृष्टिसे भी उत्कृष्ट हैं। स्वामी समन्तभद्रके स्वयंभू स्तोत्रमें तो जैनदर्शनके उच्चकोटिके सिद्धान्तोंको कूट कूटकर भर दिया गया है। वह एक दार्शनिक स्तवन है। नीति ग्रन्थोंकी भी कमी नहीं है। वादीभसिंहका क्षत्र चूड़ामणि काव्य एक नीति-पूर्ण काव्य ग्रन्थ है। आचार्य अमितगतिका सुभाषितरत्नसंदोह, पद्मनन्दि आचार्यकी पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका और महाराज अमोघ-वर्षकी प्रश्नोत्तर रत्नमाला भी सुन्दर नीतिग्रन्थ हैं।

इसके सिवा ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, छन्द, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयोंपर भी जैनाचार्योंकी अनेक रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। ज्योतिष और आयुर्वेद विषयक साहित्य अभी प्रकाशमें कम आया है। व्याकरणमें पूज्यपाद देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण और शाकटायनका शाकटायन

व्याकरण उल्लेखनीय हैं। कोषमें धनंजय नाममाला और विश्वलोचनकोश, अलंकारमें अलंकार चिन्तामणि, गणितमें महावीर गणितसार संग्रह और राजनीतिमें सोमदेवका नीतिवाक्यामृत स्मरणीय हैं।

यह तो हुआ संस्कृत और प्राकृत साहित्यका विहंगावलोकन।

द्रवेडियन भाषाओंमें भी जैनाचार्योंने खूब रचनाएँ की हैं। उन्हींके कारण एक तरहसे उन भाषाओंको महत्त्व मिला है। कनड़ी भाषामें रचना करनेवाले अति प्राचीन कवि जैन थे। कन्नड़ साहित्यको उन्नत, प्रौढ़ और परिपूर्ण बनानेका श्रेय जैनाचार्यों और जैन कवियोंको ही प्राप्त है। तेरहवीं शताब्दी तक कन्नड़ भाषाके जितने प्रौढ़ ग्रन्थकार हुए वे सब जैन ही थे। 'पंप भारत' सदृश महाप्रबन्ध और 'शब्दमणिदर्पण' सदृश शास्त्रीय ग्रन्थोंको देखकर जैन कवियोंके प्रति किसे आदर बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। कर्नाटक गद्य ग्रन्थों में प्राचीन 'चामुण्डराय-पुराण' के लेखक वीर मार्तण्ड चामुण्डराय जैन ही थे। आदि पंप, कविचक्रवर्ती रन्न, अभिनव पंप, कत्तिदेवी आदि कवि जैन ही थे।

'कर्नाटक कवि चरिते' के मूललेखक आर. नरसिंहाचार्यने जैनकवियोंके सम्बन्धमें अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा है—"जैनी ही कन्नड़ भाषाके आदि कवि हैं। आज तक उपलब्ध सभी प्राचीन और उत्तम कृतियाँ जैन कवियोंकी ही हैं। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड़ भाषाके सौन्दर्य एवं कान्तिके विशेषतया कारण हैं। पंप, रन्न और पोन्नको कवियोंमें रत्न मानना उचित है। अन्य कवियोंने भी १४वीं शताब्दीके अन्त तक सर्वश्लाघ्य चम्पू-काव्योंकी रचना की है। कन्नड़ भाषाके सहायक छन्द, अलंकार,

व्याकरण, कोष आदि ग्रन्थ अधिकतया जैनियोंके द्वारा ही रचित हैं।"

यहाँ यह बतला देना अनुचित न होगा कि दक्षिण और कर्नाटकका जितना जैन साहित्य है वह सब ही दिगम्बर जैन सम्प्रदायके विद्वानोंकी रचना है। तथा दिगम्बर सम्प्रदायके जितने प्रधान-प्रधान आचार्य हैं वे प्रायः सब ही कर्णाटक देशके निवासी थे, और न केवल संस्कृत और प्राकृतके ही ग्रन्थकर्ता थे, किन्तु कनड़ीके भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे।

तमिल भाषाका साहित्य भी प्रारम्भकालसे ही जैनधर्म और जैनसंस्कृतिसे प्रभावित है। 'कुरल' और 'नालदियार' नामके दो महान् ग्रन्थ उन जैनाचार्योंकी कृति हैं जो तामिलदेशमें बस गये थे। इन ग्रन्थोंके अवतरण उत्तरवर्ती साहित्यमें बहुतायतसे पाये जाते हैं। तामिलका नीतिविषयक साहित्य काव्यसाहित्यकी अपेक्षा प्राचीन है और उसपर जैनाचार्योंका विशेष प्रभाव है। 'पलमोलि' के रचयिता भी जैन थे। इसमें बहुमूल्य पुरातन सूक्तियाँ हैं। कुरल और नालदियारके बाद इसका तीसरा नम्बर है। 'तिने माले नूरैम्बतु' के लेखक भी जैन थे। यह ग्रन्थ शृङ्गार तथा युद्धके सिद्धान्तोंका वर्णन करता है। पश्चात्वर्ती टीकाकारोंके द्वारा इस ग्रन्थके अवतरण खूब लिये गये हैं। इसी समुदायका एक ग्रन्थ 'नान् मणिक्कडिगै' है जो वेणवा छन्दमें है।

तमिल भाषाके पाँच महाकाव्योंमेंसे चिंतामणि, सिलप्पदिकारम और वलैयापति जैनलेखकोंकी कृति हैं। सिलप्पडिकारम् अत्यन्त महत्वपूर्ण तमिल ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ साहित्यिक रीतियोंके विषयमें प्रमाणभूत गिना जाता है। इसके तीन महाखंड हैं और कुछ अध्याय तीस हैं।

पाँच लघु काव्य हैं—यशोधरकाव्य, चूड़ामणि, उदयन कथै,

नागकुमार काव्य और नीलकेशी। इन पाँचों काव्योंके कर्ता जैन आचार्य थे। जैन लेखकोंने तमिल भाषाका व्याकरण भी रचा है। 'नन्नोल' तमिल भाषाका बहु प्रचलित व्याकरण है। यह स्कूलों और कालिजोंमें पढ़ाया जाता है। निघण्टु ग्रन्थोंमें दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और गुणभद्र निघण्टुका नाम उल्लेखनीय है। जैनोंने गणित और ज्योतिषके सम्बन्धमें भी रचनाएँ की हैं। इस तरह तमिल भाषा जैन-साहित्यसे भरपूर है।

गुजराती भाषामें भी दि० जैनकवियोंने अनेक रचनाएँ की हैं, जिनका विवरण 'जैनगुर्जर कविओ' से प्राप्त होता है। ब्रह्म जिनदासने अनेक रासोंकी रचना की है। ब्र० ज्ञानसागरने अनेक छोटी छोटी व्रत कथाएँ रची हैं। उत्तरकालीन अन्य भी अनेक ग्रन्थकारोंने गुजरातीमें रचनाएँ की हैं।

दिगम्बर साहित्यमें हिन्दी ग्रन्थोंकी संख्या भी बहुत है। इधर ३०० वर्षोंमें अधिकांश ग्रन्थ हिन्दीमें ही रचे गये हैं। जैन श्रावकके लिये प्रति दिन स्वाध्याय करना आवश्यक है। अतः जन साधारणकी भाषामें जिनवाणीको निबद्ध करनेकी चेष्टा प्रारम्भसे ही होती आई है। इसीसे हिन्दी जैन साहित्यमें गद्य ग्रन्थ बहुतायतसे पाये जाते हैं। लगभग सोलहवीं शताब्दीसे लेकर हिन्दी गद्य ग्रन्थ जैन साहित्यमें उपलब्ध हैं और इसलिये हिन्दी भाषाके क्रमिक विकासका अध्ययन करनेवालोंके लिये वे बड़े कामके हैं। सैद्धान्तिक ग्रन्थोंमें ऊपर गिनाये गये तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमट्टसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, समयसार, षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी हिन्दी टीकाएँ मौजूद हैं। न्याय ग्रन्थोंमें भी परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, प्रमेयरत्नमाला, न्यायदीपिका और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान ग्रन्थोंकी हिन्दी टीकाएँ

उपलब्ध हैं। इन टीका ग्रन्थोंका अध्ययन केवल हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तोंमें ही प्रचलित नहीं है किन्तु गुजरात, महाराष्ट्र और सुदूर दक्षिण प्रान्तके जैनी भी उनसे लाभ उठाते हैं। इस तरह जैनधर्मका साहित्य हिन्दी भाषाके प्रचारमें भी सहायक हो रहा है। प्रायः सभी पुराण ग्रन्थों और अनेक कथा ग्रन्थोंका अनुवाद हिन्दी भाषामें हो चुका है। अनुवादका यह कार्य सर्वप्रथम जयपुरके विद्वानोंके द्वारा दुढारी भाषामें प्रारम्भ किया गया था। आज भी उनके अनुवाद उसी रूपमें पाये जाते हैं।

यह तो हुई अनुवादित साहित्यकी चर्चा। स्वतंत्ररूपसे भी हिन्दी गद्य और हिन्दी पद्य दोनोंमें जैनसिद्धान्तको निबद्ध किया गया है। गद्य-साहित्यमें पं० टोडरमलजीका मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ और पद्य-साहित्यमें पं० दौलतरामजीका छहढाला जैन-सिद्धान्तके अमूल्य रत्न हैं। पं० टोडरमलजी, पं० दौलतराम, पं० सदासुख, पं० बुधजन, प० द्यानतराय, भैया भगवतीदास, पं० जयचन्दजी आदि अनेक विद्वानोंने अपने समयकी हिन्दी भाषामें गद्य अथवा पद्य अथवा दोनोंमें अपनी रचनाएँ की हैं। वीनती, पूजापाठ, धार्मिक भजन, आदि भी पर्याप्त हैं। पद्य साहित्यमें भी अनेक पुराण और चरित रचे गये हैं।

हिन्दी जैन साहित्यकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें शान्त रसकी सरिता ही सर्वत्र प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत और प्राकृतके जैन ग्रन्थकारोंके समान हिन्दी जैन ग्रन्थकारोंका भी एक ही लक्ष्य रहा है कि मनुष्य किसी तरह सांसारिक विषयोंके फन्देसे निकलकर अपनेको पहचाने और अपने उत्थानका प्रयत्न करे। इसी लक्ष्यको सामने रखकर सबने अपनी अपनी रचनाएँ की हैं। हिन्दी जैन साहित्यमें ही नहीं, अपितु हिन्दी साहित्यमें कविवर बनारसीदासजीकी

आत्मकथा तो एक अपूर्व ही वस्तु है। उनका नाटक समयसार भी अध्यात्मका एक अपूर्व ग्रन्थ है।

श्वेताम्बर-साहित्य

पाटलीपुत्रमें जो अंग संकलित किये गये थे, कालक्रमसे वे भी अव्यवस्थित हो गये। तब महावीर निर्वाणकी छठी शताब्दीमें आर्य स्कन्दिलकी अध्यक्षतामें मथुरामें फिर एक सभा हुई और उसमें फिरसे शेष बचे अंग साहित्यको सुव्यवस्थित किया गया। इसे माथुरी वाचना कहते हैं। इसके बाद महावीर निर्वाणकी दसवीं शतीमें वल्लभी नगरी (काठियावाड़) में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणके सभापतित्वमें फिर एक सभा हुई। इसमें फिरसे ग्यारह अंगोंका संकलन हुआ। बारहवाँ अंग तो पहले ही लुप्त हो चुका था। अबतक स्मृतिके आधारपर ही अंग साहित्यका पठन-पाठन चलता था, किन्तु अब वीर नि० सं० ९८० (ई० स० ४५३) के लगभग उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। विद्यमान जैन आगमोंकी व्यवस्था मुख्यरूपसे उसके सम्पादक देवर्द्धिगणिकी आभारी है। उन्होंने उन्हें अध्यायोंमें विभक्त किया। जो भाग त्रुटित हो गये थे उन्हें अपनी बुद्धिके अनुसार सम्बद्ध[१] किया।

---

१ समय सुन्दरगणिने अपने सामाचारी शतकमें लिखा है—

"श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिक नवशत- (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशात् बहुतरसाधु व्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां × × × भव्य लोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य

डा० जेकोबीके कथनानुसार देवर्द्धिगणिके पश्चात् भी जैन आगमोंमें बहुत फेरफार हुआ है।

श्वेताम्बरोंका सम्पूर्ण जैनागम छै भागोंमें विभक्त है, १ ग्यारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्न-व्याकरण और विपाकसूत्र। २ बारह उपांग—औपपातिक, राज-प्रश्न, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति, निरयावली, कल्पावतंस, पुष्पिक, पुष्पचूलिक और वह्निदशा। ३ दस प्रकीर्णक—चतुःशरण, आतुर प्रत्याख्यान, भक्त, संस्तार, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेधक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव। ४ छः छेदसूत्र—निशीथ, महा-निशीथ, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, पञ्चकल्प। ५ दो सूत्र—नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार। ६ चार मूलसूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और पिण्डनिर्युक्ति।

पुस्तकारूढाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संक-लनान्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणक्षमाश्रमण एव जातः।"

'अर्थात्—श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने वीर नि० सं० ९८० में—बारह वर्षके दुर्भिक्षके कारण बहुतसे साधुओंके मर जानेसे बहुतसे श्रुतके नष्ट हो जानेपर, भव्यजीवोंके उपकारके लिये शास्त्रकी भक्तिसे प्रेरित होकर, संघके आग्रहसे बाकी बचे सब साधुओंको वलभी नगरीमें बुलाकर, उनके मुखसे बाकी बचे, कमती, बढ़ती, त्रुटित, अत्रुटित आगमके वाक्योंका अपनी बुद्धिके अनुसार संकलन करके उन्हें पुस्तकमें लिखवाया। इसलिये मूलमें गणधर प्रतिपादित होनेपर संकलन करनेके कारण सभी आगमोंके कर्ता श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण कहलाये।'

ये पैंतालीस ग्रन्थ आगम कहे जाते हैं। इनकी भाषा आर्षप्राकृत कहलाती है। इनमें आचार, व्रत जैनतत्त्व, ज्योतिष, भूगोल आदि विविध विषयोंका वर्णन है। दिगम्बर सम्प्रदायके साहित्यमें अंग और अंगबाह्य ग्रन्थोंके नामों तथा उनमें वर्णित विषयोंका उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमें उपांग आदि भेद नहीं हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिको उपांग माना है किन्तु दिगम्बर साहित्यमें इनकी गणना दृष्टिवादके एकभेद परिकर्ममें की है। इसी तरह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामके ग्रन्थोंको अंगबाह्य बतलाया है। दिगम्बर सम्प्रदायमें अंगोंके अतिरिक्त जो भी साहित्य है वह सब अंगबाह्य माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परामें देवर्द्धिगणिके पश्चात् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामके एक विशिष्ट आचार्य हुए। इनका विशेषावश्यक भाष्य एक उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें तर्कपूर्ण शैलीसे ज्ञानकी सुन्दर चर्चा की गई है। जिस तत्त्वार्थसूत्रका उल्लेख हम दिगम्बर साहित्यमें कर आये हैं, उसपर एक भाष्य भी है, जिसे कुछ विद्वान् स्वोपज्ञ मानते हैं। इसपर आचार्य सिद्धसेनगणिका तत्त्वार्थ भाष्य एक विस्तृत टीका है। आगमिक साहित्यके ऊपर भी अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं। नवांग वृत्तिकार श्रीअभयदेवसूरिने नौ आगमोंपर संस्कृत भाषामें सुन्दर टीकाएँ रची हैं। इस दृष्टिसे मलधारी हेमचन्द्रका नाम भी उल्लेखनीय है, इन्होंने भी आगमिक साहित्यपर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। विशेषावश्यक भाष्यपर रची इनकी टीका बहुत ही सुन्दर है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कर्मविषयक साहित्य भी पर्याप्त है जिसमें कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन और नवीन कर्मग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। १३वीं शतीमें श्रीदेवेन्द्रसूरिने नवीन कर्मग्रन्थोंकी रचना

स्वोपज्ञ टीकाके साथ की थी। इनकी टीकाओंमें कर्मसाहित्यकी विपुल सामग्री संकलित है। न्यायविषयक साहित्य में सिद्धसेन दिवाकरका न्यायावतार जैनन्यायका आद्यग्रन्थ माना जाता है। इनका सन्मति तर्क प्रकरण भी बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसमें आगमिक मान्यताओंको भी तर्ककी कसौटीपर कसनेका प्रयत्न किया गया है। इस प्रकरण ग्रन्थपर अभयदेव सूरिकी महत्त्वपूर्ण टीका है। इस सम्प्रदायमें हरिभद्रसूरि नामके एक प्रख्यात विद्वान हो गये हैं। किंवदन्ती है कि इन्होंने १४०० प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। इनके उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्त जयपताका तथा शास्त्रवार्ता समुच्चयका नाम उल्लेखनीय है। तत्त्वार्थ सूत्रपर भी इन्होंने एक टीका लिखी है। वादिदेवसूरिका प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार तथा उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति स्याद्वाद रत्नाकर व आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा मल्लिषेणसूरिकी स्याद्वादमंजरी भी न्यायशास्त्रके सुन्दर ग्रन्थरत्न हैं। सतरहवीं शतीमें आचार्य यशोविजय भी एक कुशल नैयायिक हुए हैं, इन्होंने विद्यानन्दिकी अष्टसहस्रीपर एक टिप्पण रचा है तथा नयोपदेश, नयामृत तरंगिणी, तर्कपरिभाषा आदि अनेक ग्रन्थ रचे हैं। जैनधर्मके दार्शनिक सिद्धान्तोंपर इन्होंने नये दृष्टिकोणसे विचार किया है तथा नव्यन्यायकी शैलीमें भी ग्रन्थ रचे हैं।

पुराण साहित्यमें विमलसूरिका पउमचरिय (पद्मचरित) एक प्राकृतकाव्य है। यह प्राचीन समझा जाता है। इसमें रामचन्द्रकी कथा है। वसुदेव हिन्डी भी प्राकृत भाषाका पुराण है इसमें महाभारतकी कथा है। यह भी प्राचीन है। आचार्य हेमचन्द्रका त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित भी उल्लेखनीय है। अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं।

काव्योंमें हेमचन्द्रका द्याश्रय महाकाव्य, अभयदेवका जयन्त-

विजय, मुनिचन्द्रका शान्तिनाथचरित अच्छे काव्य समझे जाते हैं। गद्य काव्यमें धनपाल कविकी तिलकमंजरी एक सुन्दर आख्यायिका ग्रन्थ है। नाटकोंमें रामचन्द्र सूरिका नल-विलास, सत्य हरिश्चन्द्र, राघवाभ्युदय, निर्भयव्यायोग आदिका नाम उल्लेखनीय है। जयसिंहका हम्मीरमदमर्दन एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें चौलुक्यराज वीरधवलके द्वारा हम्मीर नामके यवनराजको भगानेका वर्णन है।

लाक्षणिक ग्रन्थोंमें आचार्य हेमचन्द्रका काव्यानुशासन द्रष्टव्य है। कथा साहित्यका तो यहाँ भण्डार भरा है। उसमें उद्योतन सूरिकी कुवलयमाला, हरिभद्रकी समराइच्चकहा और पादलिप्तकी तरंगवती कहा अतिप्रसिद्ध है। कुवलयमाला तो प्राकृत साहित्यका एक अमूल्य रत्न है। प्राकृत भाषाके अभ्यासियोंके लिये बहुत उपयोगी है। इसी तरह आचार्य सिद्धर्षिकी उपमितिभव प्रपञ्चकथा भारतीय साहित्यका प्रथम रूपक ग्रन्थ माना जाता है।

व्याकरणमें आचार्य हेमचन्द्रका सिद्ध हेम व्याकरण अतिप्रसिद्ध है। इसीका आठवाँ अध्याय प्राकृत व्याकरण है, जिससे अच्छा दूसरा प्राकृत व्याकरण आज उपलब्ध नहीं है। कोषोंमें भी हेमचन्द्रका अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, देशी नाममाला, निघंट शेष, अभिधान राजेन्द्र तथा 'पाइअसद्दमहण्णव' अपूर्व कोषग्रन्थ हैं।

प्रबन्धोंमें चन्द्रप्रभ सूरिका प्रभावक चरित, मेरुतुंगका प्रबन्ध चिन्तामणि, राजशेखरका प्रबन्धकोश तथा जिनप्रभसूरिका विविध तीर्थकल्प महत्वपूर्ण हैं। अन्य भी अनेक विषयोंपर साहित्य पाया जाता है। अपभ्रंश भाषाका साहित्य भी पर्याप्त

है, जिसमें धनपालकी 'भविसयत्त कहा' अतिप्रसिद्ध है। स्तोत्र साहित्य भी विपुल है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायका अधिकतर आवास गुजरात प्रान्तमें है। अतः गुजराती भाषामें भी काफी साहित्य मिलता है, जिसका परिचय 'जैन गुर्जर कविओ' नामक ग्रन्थसे प्राप्त हो सकता है।

विदेशी भाषाओंमें भी जैन साहित्य पाया जाने लगा है। जर्मन विद्वान् स्व० हर्मन याकोबीने कई ग्रन्थोंका सम्पादन किया था। उनमें उनकी कल्पसूत्रकी प्रस्तावना तथा 'Sacred Books of the East' नामकी ग्रन्थमालामें प्रकाशित जैनसूत्रोंकी प्रस्तावना पढ़ने योग्य है। जर्मन विद्वान प्रो० ग्लेजनप्का 'जैनिज्म' भी अच्छा ग्रन्थ है। स्व० वीरचन्द्र राघवचन्द्र गांधीने अमेरिकाके शिकागो नगरमें हुए सर्वधर्म सम्मेलनमें जो भाषण जैनधर्मके सम्बन्धमें दिये थे, वे 'कर्म फिलोसोफी'के नामसे छप चुके हैं। न्यायावतार, सम्मतितर्क वगैरहका अँग्रजी अनुवाद भी हो चुका है। और भी अनेक ग्रन्थ हैं। दिगम्बर-साहित्य भी अंग्रेजीमें पर्याप्त है।

उपसंहार

जैन साहित्य अब बहुत प्रकाशमें आ रहा है और नई शैलीसे उसका सम्पादन भी होने लगा है। उसके अभ्यासियोंके लिये अब उतनी कठिनाई नहीं जायेगी, जितनी पहले जाती रही है। अतः जैनधर्मके जो मुद्दे इस पुस्तकमें दिये गये हैं, उनका विशेष और विस्तृत परिचय प्राप्त करनेके इच्छुक पाठकोंको उसका अध्ययन करना चाहिये। अन्वेषकोंके लिये उसमें पर्याप्त सामग्री है।

५–विविध

१–जैनसंघ

मुनि आर्यिका और श्रावक श्राविका इनके समुदायको जैन-संघ कहते हैं। मुनि और आर्यिका गृह त्यागी वर्ग है और श्रावक श्राविका गृही वर्ग है। जैनसंघमें ये दोनों वर्ग बराबर रहते हैं। जब ये वर्ग नहीं रहेंगे तो जैनसंघ भी नहीं रहेगा, और जब जैनसंघ नहीं रहेगा तब जैनधर्म भी न रहेगा।

यद्यपि ये दोनों वर्ग जुदे-जुदे हैं, फिर भी परस्परमें इन दोनोंका ऐसा गठबन्धन बनाये रखनेका प्रयत्न किया गया है कि दोनों एक दूसरेसे जुदे नहीं हो सकते और दोनोंका परस्परमें एक दूसरेपर कुछ नियंत्रण या प्रभाव जैसा कुछ बना रहता है। हिन्दूधर्मके साधु सन्तोंपर जैसे उनके गृहस्थोंका कुछ भी अंकुश नहीं रहता, वैसी बात जैनसंघमें नहीं है। यहाँ शीलभ्रष्ट और कदाचारी साधुओंपर बराबर निगाह रखी जाती है और किसी-की स्वच्छन्दता अधिक दिनोंतक नहीं चल पाती। आज तो संघव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई है और साधुओंमें भी नियमनका अभाव हो गया है, किन्तु पहले यह बात नहीं थी। पहले आचार्यकी स्वीकृति और अनुज्ञाके बिना कोई साधु अकेला विहार नहीं कर सकता था। और अकेले विहार करनेकी आज्ञा उसे ही दी जाती थी जिसे चिरकालके सहवाससे परख लिया जाता था। मुनि दीक्षा भी हरेकको नहीं दी जाती थी। पहले उसे संघमें रखकर परखा जाता था और यह जाननेका प्रयत्न

किया जाता था कि वह किसी गार्हस्थिक, राजकीय या अन्य किसी कारणसे घर छोड़कर भागा तो नहीं है। यदि उसके चित्तमें वस्तुतः वैराग्यभावना प्रबल होती थी तो उसे सर्वसंघके समक्ष जिनदीक्षा दी जाती थी। साधुसंघमें एक प्रधान आचार्य होते थे और कुछ अवान्तर आचार्य होते थे। वे सब मिलकर संघका नियमन करते थे। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानकी ओर साधुवर्गका खास तौरसे ध्यान दिलाया जाता था। प्रत्येक साधुके लिये यह आवश्यक था कि वह अपने अपराधों-की आलोचना आचार्यके सन्मुख करे और आचार्य जो प्रायश्चित्त दें उसे सादर स्वीकार करे। प्रतिदिन प्रत्येक साधु प्रातःकाल उठकर अपनेसे बड़ोंको नमस्कार करता था और जो रोगी या असमर्थ साधु होते थे उनकी सेवा-शुश्रूषा करता था। इस सेवा-शुश्रूषा या वैयावृत्यका जैनशास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व बतलाया है और इसे आभ्यन्तर तप कहा है। इसी प्रकार आर्यिकाओंकी भी व्यवस्था थी। दोनोंका रहना वगैरह बिल्कुल जुदा होता था। किसी साधुको आर्यिकासे या आर्यिकाको साधुसे एकान्तमें बात-चीत करनेकी सख्त मनाई थी, और अमुक दूरीपर बैठनेका आदेश था।

साधुवर्ग राजकाजसे कोई सरोकार नहीं रख सकता था। साधुके जो दस कल्प—अवश्य करने योग्य आचार बतलाये हैं उनमें साधुके लिये राजपिण्ड—राजाका भोजन ग्रहण न करना भी एक आचार है। राजपिण्ड ग्रहण करनेमें अनेक दोष बतलाये हैं।

हिन्दू धर्ममें धार्मिक क्रियाकाण्ड और धार्मिक शास्त्रोंके अध्ययन अध्यापनके लिये एक वर्ग ही जुदा होनेसे हिन्दू धर्मके अनुयायी गृहस्थ अपने धर्मके ज्ञानसे तो एक तरहसे शून्यसे ही

हो गये और आचारमें भी केवल ऊपरी बातोंतक ही रह गये। किन्तु जैनधर्ममें ऐसा कोई वर्ग न होनेसे और शास्त्र स्वाध्याय तथा व्यक्तिगत सदाचरणपर जोर होनेसे सब श्रावक और श्राविकाएँ जैनधर्मके ज्ञान और आचरणसे वंचित नहीं हो सके। फलतः साधु और आर्यिकाओंके आचारमें कुछ भी त्रुटि होनेपर वे उसको झट आँक लेते थे। ऐसा लगता है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भट्टारकयुगमें मुनियोंमें शिथिलाचार कुछ बढ़ चला था और लोगोंमें मुनियोंकी ओरसे यहाँतक अरुचि सी हो चली थी कि श्रावक उन्हें भोजन भी नहीं देते थे। अतः उस समयके सोमदेव सूरि और पं० आशाधरजीको अपने अपने श्रावकाचारमें गृहस्थोंको इस कड़ाईका विरोध करना पड़ा था।

सोमदेवसूरि लिखते हैं—

"भुक्तिमात्र प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुध्यति॥"

यशस्तिलक०।

अर्थात्—"आहारमात्र देनेमें मुनियोंकी क्या परीक्षा करते हो, चाहे वे सज्जन हों या असज्जन हों। गृहस्थ दान देनेसे ही शुद्ध होता है।"

पं० आशाधरजी लिखते हैं—

"विन्यस्यैदं युगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम्॥६४॥"

सागारधर्मा०।

अर्थात्—"जैसे प्रतिमाओंमें तीर्थङ्करोंकी स्थापना करके उन्हें पूजते हैं वैसे ही इस युगके साधुओंमें प्राचीन मुनियोंकी स्थापना करके भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करना चाहिये। जो लोग ज्यादा क्षोदक्षेम करते हैं उनका कल्याण कैसे हो सकता है?"

गृहस्थोंकी इस जागरूकताके फलस्वरूप ही जैनधर्ममें अनाचारकी वृद्धि नहीं हो सकी और न उसे प्रोत्साहन ही मिल सका। जैन गृहस्थोंमें सदासे शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान होते आये हैं। जिन विद्वानोंने बड़े बड़े ग्रन्थोंकी हिन्दी टीकाएँ की हैं वे सभी जैन गृहस्थ थे। उन्होंने अपने सम्प्रदायमें फैलनेवाले शिथिलाचारका भी डटकर विरोध किया था, जिसके फलस्वरूप एक नया सम्प्रदाय बन गया और शिथिलाचारके सर्जकोंका लोप ही हो गया।

जैनसंघमें स्त्रियोंको भी आदरणीय स्थान प्राप्त था। दिगम्बर सम्प्रदाय यद्यपि स्त्रीमुक्ति नहीं मानता फिर भी आर्यिका और श्राविकाओंका बराबर सम्मान करता है और उन्हें बहुत ही आदर और श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है। जैनसंघमें विधवाको जो अधिकार प्राप्त हैं वे हिन्दूधर्ममें नहीं हैं। जैन सिद्धान्तके अनुसार पुत्ररहित विधवा स्त्री अपने पतिकी तरफसे प्राप्त सम्पत्तिकी मालकिन हो सकती है, अपने मृत पति तथा उसके उत्तराधिकारियोंकी सम्मतिके बिना दत्तक ले सकती है।

जैनसंघमें चारों वर्णके लोग सम्मिलित हो सकते थे। शूद्रको भी धर्मसेवनका अधिकार था। जैसा कि लिखा है—

'शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुशुद्धयाऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥२२॥'

सागारधर्मा०।

अर्थात्—'उपकरण, आचार और शरीरकी शुद्धि होनेसे शूद्र भी जैनधर्मका अधिकारी हो सकता है; क्योंकि काललब्धि आदिके मिलनेपर जातिसे हीन आत्मा भी धर्मका अधिकारी होता है।'

किन्तु जिनदीक्षाके योग्य तीन ही वर्ण माने गये हैं। किसी

किसी आचार्यने तीनों वर्णोंको परस्परमें विवाह और खानपान करनेकी भी अनुज्ञा दी है। यह बात जैनसघकी विशेषताको बतलाती है कि अहिंसा अणुव्रतका पालन करनेवालोंमें जैन-शास्त्रोंमें यमपाल चण्डालका नाम बड़े आदरसे लिया गया है। स्वामी समन्तभद्रने तो यहाँतक लिखा है—

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥"

रत्नकरंड श्रा० ।

अर्थात्—सम्यग्दर्शनसे युक्त चाण्डालको भी जिनेन्द्रदेव राखसे ढके हुए अङ्गारके समान (अन्तरंगमें दीप्तिसे युक्त) देव मानते हैं।

जैनसंघकी एक दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्रत्येक जैनको अपने साधर्मी भाईके प्रति वैसा ही स्नेह रखनेकी हिदायत है जैसा स्नेह गौ अपने बच्चेसे रखती है। तथा यदि कोई साधर्मी किसी कारण धर्मसे च्युत होता था तो जिस उपायसे भी बने उस उपायसे उसे च्युत न होने देनेका प्रयत्न किया जाता था और यह सम्यक्त्वके आठ अंगोंमेंसे था। साथ ही साथ किसी भी साधर्मीका अपमान न करनेकी सख्त आज्ञा थी, जैसा कि लिखा है—

"स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥"

रत्नकरंड श्रा० ।

'जो व्यक्ति घमंडमें आकर अन्य धर्मात्माओंका अपमान करता है वह अपने धर्मका अपमान करता है, क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्म नहीं रहता।'

इस तरह जैनसंघकी विशालता, उदारता और उसकी संगठनशक्तिने किसी समय उसे बड़ा बल दिया था और उसीका यह फल है कि बौद्धधर्मके अपने देशसे लुप्त हो जानेपर भी जैनधर्म बना रहा और अबतक कायम है। किन्तु अब वे बातें नहीं रहीं। लोगोंमें साधर्मीवात्सल्य लुप्त होता जाता है। अहंकार बढ़ता जाता है। और किसीपर किसीका नियंत्रण नहीं रहा है। इसीलिये वह संगठन भी अब शिथिल होता जाता है।

२—संघभेद

जैन तीर्थङ्करोंने धर्मका उपदेश किसी सम्प्रदायविशेषकी दृष्टिसे नहीं किया था। उन्होंने तो जिस मार्गपर चलकर स्वयं स्थायी सुख प्राप्त किया, जनताके कल्याणके लिये ही उसका प्रतिपादन किया। उनके उपदेशके सम्बन्धमें लिखा है—

"अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥"

रत्नकरंड श्रा०।

अर्थात्—'तीर्थङ्कर विना किसी रागके दूसरोंके हितका उपदेश देते हैं। शिल्पीके हाथके स्पर्शसे शब्द करनेवाला मृदङ्ग क्या कुछ अपेक्षा करता है।'

अर्थात् जैसे शिल्पीका हाथ पड़ते ही मृदङ्गसे ध्वनि निकलती है वैसे ही श्रोताओंकी हितकामनासे प्रेरित होकर वीतरागके द्वारा हितोपदेश दिया जाता है। इसीलिये उनका उपदेश किसी वर्गविशेष या जातिविशेषके लिये न होकर प्राणिमात्रके लिये होता है। उसे सुननेके लिये मनुष्य देव, स्त्री पुरुष, पशु-पक्षी सभी आते हैं। और अपनी अपनी रुचि, श्रद्धा और शक्तिके अनुसार हितकी बात लेकर चले जाते हैं। किन्तु जो लोग

उनकी बातोंको स्वीकार करते हैं और जो स्वीकार नहीं करते वे दोनों परस्परमें बँट जाते हैं और इस तरहसे सम्प्रदाय कायम हो जाता है।

भगवान् महावीरसे ढाई सौ वर्ष पहले भगवान पार्श्वनाथ हो चुके थे। भगवान् महावीरके समयमें भी उनके अनुयायी मौजूद थे। उन्हींमेंसे भगवान् महावीरके माता-पिता भी थे। भगवान् महावीरने भी उसी मार्गपर चलकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त किया और उसी मार्गका उपदेश किया। इस तरहसे उनके समयमें समस्त जैनसंघ अभिन्न था। और आगे भी अभिन्न रहा। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें मगधमें जो भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, उसने संघभेदको जन्म दिया।

दिगम्बरोंकी मान्यताके अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्तके समयमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय जैन साधुओंकी संख्या बहुत ज्यादा थी। सबको भिक्षा नहीं मिल सकती थी। इस कारण बहुतसे निष्ठावान् दृढ़व्रती साधु श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ दक्षिण भारतको चले गये और शेष स्थूलभद्रके साथ वहीं रह गये। स्थूलभद्रके आधिपत्यमें रहनेवाले साधुओंने सामयिक परिस्थितियोंसे पीड़ित होकर वस्त्र, पात्र, दण्ड वगैरह उपाधियों-को स्वीकार कर लिया। जब दक्षिणको गया साधुसंघ लौटकर आया और उसने वहाँके साधुओंको वस्त्रपात्र वगैरहके साथ पाया तो उन्होंने उनको समझाया। मगर वे माने नहीं, फलतः संघभेद हो गया। नग्नताके पोषक साधु दिगम्बर कहलाये और वस्त्रपात्रके पोषक साधु श्वेताम्बर कहलाये।

श्वेताम्बरोंकी मान्यताके अनुसार मगधमें दुर्भिक्ष पड़नेपर भद्रबाहु स्वामी नेपालकी ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष हटा और पाटलीपुत्रमें बारह अंगोंका संकलन करनेका आयोजन

किया गया तो भद्रबाहु उसमें सम्मिलित नहीं हो सके। फलतः भद्रबाहु और संघके साथ कुछ खींचातानी भी हो गई जिसका वर्णन आचार्य हेमचन्द्रने अपने परिशिष्ट पर्वमें किया है। इसी घटनाको लक्ष्यमें रखकर डा० हर्मन जेकोबीने जैन सूत्रोंकी अपनी प्रस्तावनामें लिखा है—

'पाटलीपुत्रमें भद्रबाहुकी अनुपस्थितिमें ग्यारह अंग एकत्र किये थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही भद्रबाहुको अपना आचार्य मानते हैं। ऐसा होनेपर भी श्वेताम्बर अपने स्थविरोंकी पट्टावली भद्रबाहुके नामसे आगे नहीं चलाते किन्तु उनके समकालीन स्थविर सम्भूतिविजयके नामसे आगे चलाते हैं। इससे यह फलित होता है कि पाटलीपुत्रमें एकत्र किये गये अंग केवल श्वेताम्बरोंके ही माने गये, समस्त जैनसंघके नहीं।"

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि संघभेदका बीजारोपण उक्त समयमें ही हो गया था।

श्वेताम्बर साहित्यके अनुसार प्रथम जिन श्रीऋषभदेवने और अन्तिम जिन श्रीमहावीरने तो अचेलक धर्मका ही उपदेश दिया किन्तु बीचके बाईस तीर्थङ्करोंने सचेल और अचेल दोनों धर्मोंका उपदेश दिया। जैसा कि पञ्चाशकमें लिखा है—

'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं होइ सचेलो अचेलो य ॥१२॥'

और इसका कारण यह बतलाया है कि प्रथम और अन्तिम जिनके समयके साधु वक्रजड़ होते हैं—जिस तिस बहानेसे त्याज्य वस्तुओंका भी सेवन कर लेते हैं अतः उन्होंने स्पष्टरूपसे

अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित धर्मका उपदेश दिया। इसके अनुसार पार्श्वनाथके समयके साधु सवस्त्र रहते थे और उनके महावीरके संघमें मिल जानेपर आगे चलकर शिथिलाचारको प्रोत्साहन मिला और श्वेताम्बर सम्प्रदायकी सृष्टि हुई। ऐसा कुछ विद्वानों-का मत है। श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदासजीने लिखा है–

'श्रीपार्श्वनाथ और श्रीवर्धमानके शिष्योंके २५० वर्षके दरम्यान किसी भी समय पार्श्वनाथके सन्तानीयोंपर उस समयके आचारहीन ब्राह्मण गुरुओंका असर पड़ा हो और इसी कारण उन्होंने अपने आचारोंमेंसे कठिनता निकालकर विशेष नरम और सुकर आचार बना दिये हों यह विशेष संभावित है। ××× पार्श्वनाथके बाद दीर्घ तपस्वी वर्धमान हुए। उन्होंने अपना आचरण इतना कठिन और दुस्सह रक्खा कि जहांतक मेरा ख्याल है इस तरहका कठिन आचरण अन्य किसी धर्माचार्यने आचरित किया हो ऐसा उल्लेख आजतकके इति-हासमें नहीं मिलता। ××× वर्धमानका निर्वाण होनेसे परमत्याग मार्गके चक्रवर्तीका तिरोधान हो गया और ऐसा होनेसे उनके त्यागी निर्ग्रन्थ निर्नायकसे हो गये। तथापि मैं मानता हूँ कि वर्धमानके प्रतापसे उनके बादकी दो पीढ़ियोंतक श्रीवर्धमानका वह कठिन त्याग मार्ग ठीकरूपसे चलता रहा था। यद्यपि जिन सुखशीलियोंने उस त्यागमार्गको स्वीकारा था उनके लिये कुछ छूट रखी गई थी और उन्हें ऋजुप्राज्ञके सम्बोधनसे प्रसन्न रखा गया था तथापि मेरी धारणा मुजब वे

उस कठिनताको सहन करनेमें असमर्थ निकले। और श्रीवर्धमान, सुधर्मा और जम्बू जैसे समर्थत्यागीकी छायामें वे ऐसे दब गये थे कि किसी भी प्रकारकी चीं पटाक किये बिना यथा तथा थोड़ी सी छूट लेकर भी वर्धमानके मार्गका अनुसरण करते थे। परन्तु इस समय वर्धमान सुधर्मा या जम्बू कोई भी प्रतापी पुरुष विद्यमान न होनेसे उन्होंने शीघ्र ही यह कह डाला कि जिनेश्वरका आचार जिनेश्वरके निर्वाणके साथ ही निर्वाणको प्राप्त हो गया। × × × मेरी मान्यतानुसार इस संक्रान्तिकालमें ही श्वेताम्बरता और दिगम्बरताका बीजारोपण हुआ है और जम्बू स्वामीके निर्वाणके बाद इसका खूब पोषण होता रहा है। यह विशेष संभवित है। यह हकीकत मेरी निरी कल्पनामात्र नहीं है किन्तु वर्तमान ग्रन्थ भी इसे प्रमाणित करनेके सबल प्रमाण दे रहे हैं। विद्यमान सूत्र ग्रन्थों एवं कितनेक ग्रन्थोंमें प्रसङ्गोपात्त यही बतलाया गया है कि 'जम्बू स्वामीके निर्वाणके बाद निम्नलिखित दस बातें विच्छेद हो गईं हैं—मनःपर्ययज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणि, उपशमश्रेणि, जिनकल्प, तीन संयम, केवल ज्ञान और दसवां सिद्धिगमन।' इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जम्बू स्वामीके बाद जिनकल्पका लोप हुआ बतलाकर अबसे जिनकल्पके आचरणको बन्द करना और उस प्रकारका आचरण करनेवालोंका उत्साह या वैराग्य भंग करना, इसके सिवा इस

उल्लेखमें अन्य कोई उद्देश मुझे मालूम नहीं देता। × × जम्बू स्वामीके निर्वाणके बाद जो जिनकल्प विच्छेद होनेका वज्रलेप किया गया है और उसकी आचरणा करनेवालेको जिनाज्ञा बाहर समझनेकी जो स्वार्थी एवं एकतरफी दम्भी धमकीका ढिंढौरा पीटा गया है बस इसीमें श्वेताम्बरता और दिगम्बरताके विषवृक्षको जड़ समाई हुई है।"

यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय यह नहीं मानता कि बीचके २२ तीर्थङ्करोंने सचेल और अचेल धर्मका निरूपण किया था। वह तो सब तीर्थङ्करोंके द्वारा अचेल मार्गका ही प्रतिपादन होना मानता है। फिर भी पं० बेचरदासजीके उक्त विवेचनसे संघभेद-के मूलकारणपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

श्वेताम्बर साहित्यमें दिगम्बरोंकी उत्पत्तिके विषयमें एक कथा मिलती है जिसका आशय इस प्रकार है—"रथवीरपुरमें शिवभूति नामका एक क्षत्रिय रहता था। उसने अपने राजाके लिये अनेक युद्ध जीते थे इसलिये राजा उसका खूब सन्मान करता था। इससे वह बड़ा घमण्डी हो गया था। एक बार शिवभूति बहुत रात गये घर लौटा। माँने फटकारा और द्वार नहीं खोला। तब वह एक मठमें पहुँचा और साधु हो गया। जब राजाको इस बातकी खबर मिली तो उसने उसे एक बहुमूल्य वस्त्र भेंट किया। आचार्यने उस वस्त्रको लौटा देनेकी आज्ञा दी। किन्तु शिवभूतिने नहीं लौटाया। तब आचार्यने उस वस्त्रके टुकड़े करके उनके आसन बना डाले। इसपर शिवभूति खूब क्रोधित हुआ और उसने प्रकट किया कि महावीरकी तरह मैं

(१) जैनसाहित्यमें विकार पृ० ८७–१०५।

भी वस्त्र नहीं पहरूँगा। ऐसा कह उसने सब वस्त्रोंका त्याग कर दिया। उसकी बहिनने भी उसका अनुकरण किया। तब स्त्रियोंको नग्न न रहना चाहिये ऐसा मत शिवभूतिने जाहिर किया। और यह भी जाहिर किया कि स्त्री मोक्ष नहीं जा सकती। इस तरह महावीर निर्वाणके ६०९ वर्ष बाद बोटिकोंकी उत्पत्ति हुई और उनमेंसे दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ।"

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार भी श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति विक्रम राजाकी मृत्युके १३६ वें वर्षमें हुई है। दोनोंमें सिर्फ ३ वर्षका अन्तर होनेसे दोनोंकी उत्पत्तिका काल तो लगभग एक ही ठहरता है। रह जाती है कथाकी बात। सो महावीरके द्वारा प्रतिपादित और आचरित दिगम्बरधर्म उनके बाद एक दम लुप्त हो जाये और फिर एक क्रुद्ध साधुके नंगे हो जाने मात्रसे चल पड़े और इतने विस्तृत और स्थायी रूपमें फैल जाये। यह सब कल्पनाकी वस्तु हो सकती है। किन्तु वास्तविकता इससे दूर है। जो श्वेताम्बर विद्वान इस कथाको ठीक समझते हैं वे भी इस बातको मानते हैं कि पहले साधु नग्न रहते थे फिर धीरे-धीरे परिग्रह बढ़ी।

उदाहरणके लिये श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजयजीके शब्द ही हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"आर्यरक्षितके स्वर्गवासके बाद धीरे धीरे साधुओंका निवास बस्तियोंमें होने लगा और इसके साथ ही नग्नताका भी अन्त होता गया। पहले बस्तीमें जाते समय बहुधा कटिबन्धका उपयोग होता था वह वस्तीमें बसनेके बाद निरन्तर होने लगा धीरे धीरे कटि वस्त्रका भी आकार प्रकार बदलता गया। पहले

मात्र शरीरका गुह्य अंग ही ढकनेका विशेष ख्याल रहता था पर बादमें सम्पूर्ण नग्नता ढाँक लेनेकी जरूरत समझी गई और इसके लिये वस्त्रका आकार प्रकार भी बदलना पड़ा।"

उपधियोंकी संख्यामें जिस क्रमसे वृद्धि हुई उसे भी मुनि-कल्याण विजयजीके ही शब्दोंमें पढ़ें—

"पहले प्रतिव्यक्ति एक ही पात्र रखा जाता था। पर आर्यरक्षित सूरिने वर्षाकालमें एक मात्रक नामक अन्य पात्र रखनेकी जो आज्ञा दे दी थी उसके फलस्वरूप आगे जाकर मात्रक भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोलीमें भिक्षा लानेका रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणोंकी वृद्धि हुई। परिणाम स्वरूप स्थविरोंके कुल १४ उपकरणोंकी वृद्धि हुई जो इस प्रकार है—१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्र स्थापन, ४ पात्र प्रमार्जनिका, ५ पटल, ६ रजस्राण, ७ गुच्छक, ८, ९ दो चादरें, १० ऊनी वस्त्र (कम्बल) ११ रजोहरण, १२ मुखपट्टी, १३ मात्रक और १४ चोलपट्टक। यह उपधि औघिक अर्थात् सामान्य मानी गई और आगे जाकर इसमें जो कुछ उपकरण बढ़ाये गये वे औपग्रहिक कहलाये। औपग्रहिक उपधिमें संस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासन और दंड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजकलके श्वेताम्बर जैनमुनि रखते हैं[1]।"

(१) श्रमण भगवान महावीर।

एक ओर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस तरह साधुओंकी उपधिमें वृद्धि होती गई, दूसरी ओर आचारांगमें जो अचेलकताके प्रतिपादक उल्लेख थे उन्हें जिनकल्पीका आचार करार दे दिया गया और जिनकल्पका विच्छेद होनेकी घोषणा करके महावीरके अचेलक मार्गको उठा देनेका ही प्रयास किया गया। तथा उत्तरकालमें साधूके वस्त्र पात्रका समर्थन बड़े जोरसे किया गया, यहाँतक कि नग्न विचरण करनेवाले महावीरके शरीरपर इन्द्रद्वारा देवदूष्य डलवाया गया। जैसा कि पं० बेचरदासजीने भी लिखा है—

'इस समाजके कुल गुरुओंमें अपने पसन्द पड़े वस्त्रपात्र वादके समर्थनके लिये पूर्वके महापुरुषोंको भी चीवरधारी बना दिया है और श्रीवर्द्धमान महाश्रमणकी नग्नता न देख पड़े इस प्रकारका प्रयत्न भी किया है। इस विषयके अनेक ग्रन्थ लिखकर वस्त्र पात्रवादको ही मजबूत बनानेकी वे आजतक कोशिश कर रहे हैं। उनके लिये आपवादिक माना हुआ वस्त्र पात्रवादका मार्ग औत्सर्गिक मार्गके समान हो गया है। वे इस विषयमें यहाँतक दौड़े हैं कि चाहे जैसे अगम्य जंगलमें, भीषण गुफामें या चाहे जैसे पर्वतके दुर्गम शिखरपर भावना भाते हुए केवलज्ञान प्राप्त हुए पुरुष या स्त्रीको जैनी दीक्षाके लिये शासनदेव कपड़े पहनाता है और वस्त्रके बिना केवल ज्ञानीको अमहाव्रती तथा अचारित्री कहते तक भी नहीं हिचकिचाये।

(१) इसके लिये पाठकोंको लेखकका लिखा हुआ 'भगवान महावीरका अचेलक धर्म' नामक ट्रैक्ट देखना चाहिये।

कोई मुनि वस्त्ररहित रहें ये बात उन्हें नहीं रुचती। इनके मन वस्त्र पात्रके बिना किसीकी गति ही नहीं होती।"

दूसरी ओर दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट घोषणा कर दी थी—

'ण[1] वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥'

अर्थात्—'जिनशासनमें तीर्थङ्कर हो क्यों न हो यदि वह वस्त्रधारी है तो सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। नग्नता ही मोक्षका मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।' साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा—

[2]"नग्गो पावइ दुक्खं नग्गो संसारसायरे भमइ।
नग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥"

अर्थात्—'जिन भावनासे रहित नग्न दुःख पाता है, संसार-रूपी सागरमें भटकता है और उसे ज्ञानलाभ नहीं होता।'

इस तरह एक ओरके शिथिलाचार और दूसरी ओरकी दृढ़ताके कारण संघभेदके बीजोंमें अंकुर फूटते गये और धीरे धीरे उन्होंने वृक्ष और महावृक्षका रूप धारण कर लिया। प्रारम्भमें श्वेताम्बरता और दिगम्बरताका यह झगड़ा सिर्फ मुनियों तक ही था, क्योंकि उन्हींकी नग्नता और सवस्त्रताको लेकर यह उत्पन्न हुआ था। किन्तु आगे श्रावकोंकी भी क्रिया-पद्धतिमें उसे सम्मिलित करके श्रावकोंमें भी झगड़ेके बीज बो दिये गये जो आज तीर्थक्षेत्रोंके झगड़ेके रूपमें अपने विषफल दे रहे हैं। इस बातके प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन कालमें

(१) षट् प्राभृ० पृ० ६७।
(२) षट् प्राभृत० पृ० २११।

दिगम्बरी और श्वेताम्बरी प्रतिमाओंका भेद नहीं था। दोनों ही नग्न प्रतिमाओंको पूजते थे। मुनि जिन विजयजीने (जैन हितैषी भाग १३, अंक ६ में) लिखा है—

"मथुराके कंकाली टीलामें जो लगभग दो हजार वर्षकी प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं, वे नग्न हैं और उनपर जो लेख हैं वे श्वेताम्बर कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार हैं।"

इसके सिवा १७वीं शताब्दीके श्वेताम्बर विद्वान पं० धर्मसागर उपाध्यायने अपने प्रवचनपरीक्षा नामक ग्रन्थमें लिखा है—

"गिरनार और शत्रुंजयपर एक समय दोनों सम्प्रदायोंमें झगड़ा हुआ और उसमें शासन देवताकी कृपासे दिगम्बरोंका पराजय हुआ। जब इन दोनों तीर्थोंपर श्वेताम्बर सम्प्रदायका अधिकार सिद्ध हो गया, तब आगे किसी प्रकारका झगड़ा न हो सके इसके लिये श्वेताम्बरसंघने यह निश्चय किया कि अबसे जो नई प्रतिमाएँ बनवाई जांय, उनके पादमूलमें वस्त्रका चिह्न बना दिया जाय। यह सुनकर दिगम्बरियोंको क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी प्रतिमाओंको स्पष्ट नग्न बनाना शुरू कर दिया। यही कारण है कि सम्प्रति राजा आदिकी बनवाई हुई प्रतिमाओंपर वस्त्रलांछन नहीं है और स्पष्ट नग्नत्व भी नहीं है[1]।"

---

(१) इस तरहके अन्य भी प्रमाणोंके लिये 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० २४१ से आगे देखें।

इससे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पहले दोनोंको प्रतिमाओंमें भेद नहीं था। परन्तु अब तो दोनोंकी प्रतिमाओंमें इतना अन्तर पड़ गया है कि उसे देखनेसे आश्चर्य होता है। पं० बेचरदासजीने लिखा है—

"यह सम्प्रदाय (श्वे० सम्प्रदाय) कटोराकटि सूत्रवाली मूर्तिको ही पसन्द करता है उसे ही मुक्तिका साधन समझता है। वीतराग सन्यासी फकीरकी प्रतिमाको जैसे किसी बालकको गहनोंसे लाद दिया जाता है उसी प्रकार आभूषणोंसे शृङ्गारित कर उसकी शोभामें वृद्धि की समझता है। और परमयोगी वर्द्धमान या इतर किसी वीतरागकी मूर्तिको विदेशी पोशाक जाकिट, कालर, घड़ी वगैरहसे सुसज्जित कर उसका खिलौने जितना भी सौन्दर्य नष्ट करके अपने मानवजन्मकी सफलता समझता[1] है।"

इस तरह परस्परकी खींचातानीके कारण जैनसंघमें जो भेद पड़ा वह भेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और उसीके कारण आगे जाकर दोनों सम्प्रदायोंमें भी अवान्तर अनेक पन्थ उत्पन्न होते गये।

३—सम्प्रदाय और पन्थ

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके उपलब्ध साहित्यके आधारसे यह पता चलता है कि विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें विशाल जैनसंघ स्पष्टरूपसे दो भागोंमें विभाजित

(१) 'जैन साहित्यमें विकार'।

हो गया। और इस विभागका मूल कारण साधुओंका वस्त्र परिधान था। जो पक्ष साधुओंकी नग्नताका पक्षपाती था और उसे ही महावीरका मूल आचार मानता था वह दिगम्बर कहलाया, इसको मूलसंघ भी कहते हैं। और जो पक्ष वस्त्र-पात्रका समर्थन करता था वह श्वेताम्बर कहलाया। दिगम्बर शब्दका अर्थ है–दिशा ही जिसका वस्त्र हैं, अर्थात् नग्न। और श्वेताम्बर शब्दका अर्थ है–सफेद वस्त्रवाला। इस तरह प्रारम्भमें यद्यपि साधुओंके वस्त्रपरिधानको लेकर ही संघभेद हुआ किन्तु बादको उसमें भेदकी अन्य भी सामग्री जुटती गई और धीरे धीरे दोनों सम्प्रदायोंमें भी अनेक अवान्तर पन्थ पैदा हो गये। किन्तु भेदके कारणोंपर दृष्टिपात करनेसे पता चलता है कि जैनधर्मके विभिन्न सम्प्रदायोंमें तात्त्विक दृष्टिसे भेद नहीं है, बल्कि जो कुछ भेद है वह अधिकांशमें व्यावहारिक दृष्टिसे ही है। सभी जैन सम्प्रदाय और पन्थ अहिंसा और अनेकान्तवादके अनुयायी हैं, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, संसार आदिके स्वरूपके विषयमें उनमें कोई भेद नहीं है। सातों तत्त्वोंका स्वरूप सभी एकसा मानते हैं, कुछ परिभाषाओं वगैरहको छोड़कर कर्मसिद्धान्तमें भी कोई मार्मिक भेद नहीं है। फिर भी जो भेद है वह ऐसा है जो मिटाया नहीं जा सकता। किन्तु उस भेदके कारण जो दिलोंमें भेदकी दीवार खड़ी हो चुकी है वह अवश्य गिराई जा सकती है। अस्तु, प्रत्येक सम्प्रदाय और उसके अवान्तर पन्थोंका परिचय निम्न प्रकार है—

१ दिगम्बर सम्प्रदाय

दिगम्बर सम्प्रदायके साधु नग्न रहते हैं। वे जीव जन्तुको दूर करने के लिये मोरपंखकी एक पीछी रखते हैं और मलमूत्र

इन नामोंके विषयमें कुछ मतभेद भी है, जिसका उल्लेख भी आचार्य इन्द्रनन्दिने किया है। कुछके मतसे जो गुहाओंसे आये थे उन्हें 'नन्दि', जो अशोकवनसे आये थे उन्हें 'देव', जो पञ्चस्तूपोंसे आये थे उन्हें 'सेन', जो शाल्मलि वृक्षके मूलसे आये थे उन्हें 'वीर', और जो खण्डकेसर वृक्षोंके मूलसे आये थे उन्हें 'भद्र' नाम दिया गया। कुछके मतसे गुहावासी 'नन्दि', अशोकवनसे आनेवाले 'देव', पञ्चस्तूपवासी 'सेन', शाल्मलि वृक्षवाले 'वीर' और खण्डकेसरवाले 'भद्र' और 'सिंह' कहलाये।

इन मतभेदोंसे मालूम होता है कि आचार्य इन्द्रनन्दिको भी इस संघभेदका स्पष्ट ज्ञान नहीं था, इसीलिये इस बातका भी पता नहीं चलता कि अमुकको अमुक संज्ञा ही क्यों दी गई। इन सब संज्ञाओंमें नन्दि, सेन, देव और सिंह नाम ही विशेष परिचित हैं। भट्टारक[1] इन्द्रनन्दि आदिने अर्हद्बलि आचार्यके

"आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्
देवश्चान्योऽपराजित इति यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥९६॥"

१ "तदैव यतिराजोऽपि सर्वनैमित्तिकाग्रणी।
अर्हद्बलिगुरुश्चक्रे संघसंघट्टनं परम् ॥ ६ ॥
सिंहसंघो नन्दिसंघः सेनसंघो महाप्रभः।
देवसंघ इति स्पष्टं स्थानस्थितिविशेषतः ॥ ७ ॥
गणगच्छादयस्तेभ्यो जाताः स्वपरसौख्यदाः।
न तत्र भेदः कोऽप्यस्ति प्रव्रज्यादिषु कर्मसु ॥ ८ ॥"

—नीतिसार।

द्वारा इन्हीं चार संघोंकी स्थापना किये जानेका उल्लेख किया है।

इन चार संघोंके भी आगे अनेक भेद-प्रभेद हो गये। साधारणतः संघोंके भेदोंको गण और प्रभेदों या उपभेदोंको गच्छ कहनेकी परम्परा मिलती है। कहीं कहीं संघोंको गण भी कहा है, जैसे नन्दिगण, सेनगण आदि। कहीं कहीं संघोंको 'अन्वय' भी कहा है, जैसे 'सेनान्वय'। गणोंमें बलात्कारगण, देशीयगण और काणूरगण इन तीन गणोंके और गच्छोंमें पुस्तकगच्छ, सरस्वतीगच्छ, वक्रगच्छ और तगरिलगच्छके उल्लेख पाये जाते हैं। इन संघ, गण और गच्छोंकी प्रव्रज्या आदि क्रियाओंमें कोई भेद नहीं है।

किन्तु दर्शनसारमें कुछ ऐसे भी संघोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया है, जिन्हें उसमें जैनाभास बतलाया गया है। वे संघ हैं—श्वेताम्बर, यापनीय, द्राविड़, माथुर और काष्ठा। इनमेंसे पहले दो संघोंका वर्णन आगे किया गया है, क्योंकि उनसे आचारके अतिरिक्त दिगम्बरोंका सिद्धान्तभेद भी है। शेष तीन जैनसंघ दिगम्बर सम्प्रदायके ही अवान्तर संघ हैं तथा उनके साथ कोई महत्त्वका सिद्धान्तभेद भी नहीं है। दर्शनसार[1] के अनुसार वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरामें द्राविड़ संघकी उत्पत्ति हुई। इसका संस्थापक आचार्य पूज्यपादका शिष्य वज्रनन्दि था। इसकी मान्यता है कि बीजमें जीव नहीं रहता, कोई वस्तु प्रासुक नहीं

---

(१) 'सिरि पुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो ॥२४॥
बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥२६॥
कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं समज्जेदि ॥२७॥

है। इसने ठंडे पानीसे स्नान करके और खेती वाणिज्यसे जीवन निर्वाह करके प्रचुर पापका संचय किया।

वि० सं० ७५३ में काष्ठासंघकी उत्पत्ति हुई। इसका संस्थापक कुमारसेन मुनि था। इसने मयूरपिच्छको छोड़कर गायके बालोंकी पिच्छी धारण की थी, और समस्त वागड़देशमें उन्मार्गका प्रसार किया था। वह स्त्रियोंको जिनदीक्षा देता था, क्षुल्लकोंकी वीर-चर्याका विधान करता था, जटा धारण करता था और एक छठा गुणव्रत (अणुव्रत) बतलाता था। इसने पुराने शास्त्रोंको अन्यथा रचकर मूढ लोकोंमें मिथ्यात्वका प्रचार किया था। इससे उसे श्रमणसंघसे निकाल दिया गया था। तब उसने काष्ठा[1] संघकी स्थापना की थी।

काष्ठासंघकी स्थापनाके दो सौ वर्ष बाद मथुरामें माथुर[2]-संघकी स्थापना रामसेनने की थी। इस संघके साधु पीछी नहीं रखते थे इसलिये यह संघ 'निष्पिच्छ' कहा जाता था।

यद्यपि इन तीनों संघोंको देवसेन आचार्यने जैनाभास कहा

---

(१) "आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खियओ।
सण्णासभंजणेण य अगहिय पुण दिक्खओ जादो ॥३३॥
परिवज्जिऊण पिच्छं चमरं घित्तूण मोहकलिदेण।
उम्मग्गं संकलियं बागणविसएसु सव्वेसु ॥३४॥
इत्थीणं पुण दिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं णाम ॥३५॥
सो समणसंघवज्झो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघं परूवेदि ॥३७॥" दर्शन०

(२) "तत्तो दुसयतीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥४०॥" दर्शन०

है किन्तु इनका बहुतसा साहित्य उपलब्ध है और उसका पठन-पाठन भी दिगम्बर सम्प्रदायमें होता है। हरिवंश पुराणके रचयिताने आचार्य देवनन्दिके पश्चात् वज्रसूरिका स्मरण किया है और उनकी उक्तियोंको धर्मशास्त्रके प्रवक्ता गणधरदेवकी तरह प्रमाण कहा है। यह वज्रसूरि वही जान पड़ते हैं जिन्हें द्राविड़ संघका संस्थापक कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होता है कि दर्शनसारके रचयिताने इन्हें जैनाभास क्यों कहा? क्योंकि दर्शनसारकी रचना हरिवंश पुराणके पश्चात् वि० सं० ६६० में हुई है। इसका समाधान यह हो सकता है कि देवसेन सूरिने दर्शनसारमें जो गाथाएँ दी हैं, उन्हें वे स्वयं पूर्वाचार्यकृत बतलाते हैं। पूर्वाचार्योंकी दृष्टिमें द्राविड़ आदि संघोंके साधु जैनाभास ही रहे होंगे। इसीलिये दर्शनसारके रचयिताने भी उन्हें जैनाभास बतलाया है, अन्यथा जिस शिथिलाचारके कारण उन्होंने उक्त संघोंको जैनाभास कहा है, वह शिथिलाचार मूलसंघी मुनियोंमें भी किसी न किसी रूपमें प्रविष्ट हो गया था। वे भी मन्दिरोंकी मरम्मत आदिके लिये गाँव जमीन आदिका दान लेने लगे थे। उपलब्ध शिलालेखोंसे यह स्पष्ट है कि मुनियोंके अधिकारमें भी गाँव बगीचे रहते थे। वे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराते थे, दानशालाएँ बनवाते थे। एक तरहसे उनका रूप मठाधीशोंके जैसा हो चला था। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि उस समयमें शुद्धाचारी तपस्वी दिगम्बर मुनियोंका सर्वथा अभाव हो गया था अथवा सब उन्हींके अनुयायी बन गये थे। शास्त्रोक्त शुद्ध मार्गके पालनेवाले और उनको माननेवाले भी थे तथा उसके विपरीत आचरण करनेवाले मठपतियोंकी आलोचना करनेवाले भी थे। पं० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें इन मठपति साधुओंकी आलोचना करते हुए लिखा है—'द्रव्य

जिन लिंगके धारी मठपति म्लेच्छोंके समान लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करते हैं। इनके साथ मन, वचन और कायसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये।

ये मठाधीश साधु भी नग्न हो रहते थे, इनका बाह्यरूप दिगम्बर मुनियोंके जैसा ही होता था। इन्हींका विकसितरूप भट्टारक पद है।

तेरहपन्थ और बीसपन्थ

भट्टारकी युगके शिथिलाचारके विरुद्ध दिगम्बर सम्प्रदायमें एक पन्थका उदय हुआ, जो तेरहपन्थ कहलाया। कहा जाता है कि इस पन्थका उदय विक्रमकी सत्रहवीं सदीमें पं० बनारसीदासजीके द्वारा आगरेमें हुआ था। जब यह पन्थ तेरह पन्थके नामसे प्रचलित हो गया तो भट्टारकोंका पुराना पन्थ बीस पन्थ कहलाने लगा। किन्तु ये नाम कैसे पड़े यह अभी तक भी एक समस्या ही है। इसके सम्बन्धमें अनेक उपपत्तियाँ सुनो जाती हैं किन्तु उनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता।

श्वेताम्बराचार्य मेघविजयने वि० सं० १७५७ के लगभग आगरेमें युक्ति प्रबोध नामका एक ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ पं० बनारसीदासजीके मतका खण्डन करनेके लिये रचा गया है। इसमें वाणारसी मतका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

"तम्हा दिगंबराणं एए भट्टारगा वि णो पुजा।
तिलतुसमेत्तो जेसि परिग्गहो णेव ते गुरुणो ॥१९॥
जिणपडिमाणं भूसणमल्लारुहणाइ अंगपरियरणं।
वाणारसिओ वारइ दिगंबरस्सागमाणाए ॥२०॥"

अर्थात्—'दिगम्बरोंके भट्टारक भी पूज्य नहीं हैं। जिनके तिलतुष मात्र भी परिग्रह है वे गुरु नहीं हैं। वाणारसी मतवाले

जिन प्रतिमाओंको भूषण माला पहनानेका तथा अंग रचना करनेका भी निषेध दिगम्बर आगमोंकी आज्ञासे करते हैं।'

आजकल जो तेरह पन्थ प्रचलित है वह भट्टारकों या परिग्रहधारी मुनियोंको अपना गुरु नहीं मानता और प्रतिमाओंको पुष्पमालाएँ पहिनाने और केसर लगानेका भी निषेध करता है, तथा भगवानकी पूजन सामग्रीमें हरे पुष्प और फल नहीं चढ़ाता। उत्तर भारतमें इस पन्थका उदय हुआ और धीरे धीरे यह समस्त देशव्यापी हो गया। इसके प्रभावसे भट्टारकी युगका एक तरहसे लोप ही हो गया।

किन्तु इस पन्थभेदसे दिगम्बर सम्प्रदायमें फूट या वैमनस्यका बीजारोपण नहीं हो सका। आज भी दोनों पन्थोंके अनुयायी वर्तमान हैं, किन्तु उनमें परस्परमें कोई वैमनस्य नहीं पाया जाता। चूँकि आज दोनों पन्थोंका अस्तित्व कुछ मन्दिरोंमें ही देखनेमें आता है, अतः जब कभी किन्हीं दुराग्रहियोंमें भले ही खटपट हो जाती हो, किन्तु साधारणतः दोनों ही पन्थ वाले अपनी अपनी विधिसे प्रेमपूर्वक पूजा करते हुए पाये जाते हैं। एक दो स्थानोंमें तो २० और १३ को मिलाकर उसका आधा करके साढ़े सोलह पन्थ भी चल पड़ा है। आजकलके अनेक निष्पक्ष समझदार व्यक्ति पन्थ पूछा जानेपर अपनेको साढ़े सोलह पन्थी कह देते हैं। यह सब दोनोंके ऐक्य और प्रेमका ही सूचक है।

तारणपन्थ

परवार जातिके एक व्यक्तिने जो बादको तारणतरण स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुए, ईसाकी पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें इस पन्थको जन्म दिया था। सन् १५१५ में ग्वालियर स्टेटके मल्हार-

गढ़ नामक स्थानमें इनका स्वर्गवास हुआ। उस स्थान पर उनकी समाधि बनी है और उसे नशियाँजी कहते हैं। यह तारण पंथियोंका तीर्थस्थान माना जाता है। यह पन्थ मूर्तिपूजाका विरोधी है। इनके भी चैत्यालय होते हैं, किन्तु उनमें शास्त्र विराजमान रहते हैं और उन्हींको पूजा की जाती है किन्तु द्रव्य नहीं चढ़ाया जाता। तारण स्वामीने कुछ ग्रन्थ भी बनाये थे। इनके सिवा दिगम्बर आचार्योंके बनाये हुए ग्रन्थोंको भी तारण पन्थी मानते हैं। इस पन्थमें अच्छे धनिक और प्रतिष्ठित व्यक्ति मौजूद हैं। इस पन्थके अनुयायियोंकी संख्या दस हजारके लग-भग बतलाई जाती है, और वे मध्यप्रान्तमें बसते हैं।

२ श्वेताम्बर सम्प्रदाय

यह पहले लिख आये हैं कि साधुओंके वस्त्र परिधानको लेकर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदकी सृष्टि हुई थी। अतः आजके श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। उनके पास चौदह उपकरण होते हैं—१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्र स्थापन, ४ पात्र प्रमार्जनिका, ५ पटल, ६ रजस्त्राण, ७ गुच्छक, ८, ९ दो चादरें, १० ऊनी वस्त्र (कम्बल), ११ रजोहरण, १२ मुखवस्त्र, १३ मात्रक, १४ चोल पट्टक। इनके सिवा वे अपने हाथमें एक लम्बा दण्ड भी लिये रहते हैं। पहले वे भी नग्न ही रहते थे। बादको वस्त्र स्वीकार कर लेनेपर भी विक्रमकी सातवीं आठवीं शताब्दीतक कारण पड़नेपर ही वे वस्त्र धारण करते थे और वह भी केवल कटिवस्त्र। विक्रमकी आठवीं शतीके श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिने अपने संबोधप्रकरणमें अपने समयके साधुओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे बिना कारण भी कटिवस्त्र बाँधते हैं। और उन्हें क्लीब-कायर कहा है। इस प्रकार पहले वे कारण

पड़नेपर ही लंगोटी लगा लेते थे पीछे सफेद वस्त्र पहिनने लगे। फिर जिनमूर्तियोंमें भी लंगोटेका चिह्न बनाया जाने लगा। उसके बाद उन्हें वस्त्र-आभूषणोंसे सजानेकी प्रथा चलाई गई। महावीरके निर्वाणसे लगभग एक हजार वर्षके पश्चात् साधुओंकी स्मृतिके आधारपर ग्यारह अंगोंका संकलन करके उन्हें सुव्यवस्थित किया गया और फिर उन्हें लिपिबद्ध किया गया। इन आगमोंको दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि स्त्रीको भी मोक्ष हो सकता है तथा जीवन्मुक्त केवली भोजन ग्रहण करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय इन दोनों सिद्धान्तोंको भी स्वीकार नहीं करता। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इन्हीं तीनों सिद्धान्तोंको लेकर मुख्य भेद है। संक्षेपमें कुछ उल्लेखनीय भेद निम्न प्रकार हैं—

१. केवलीका कवलाहार।
२. केवलीका नीहार।
३. स्त्री मुक्ति।
४. शूद्र मुक्ति।
५. वस्त्र सहित मुक्ति।
६. गृहस्थवेषमें मुक्ति।
७. अलंकार और कछोटेवाली प्रतिमाका पूजन।
८. मुनियोंके १४ उपकरण।
९. तीर्थंकर मल्लिनाथका स्त्री होना।
१०. ग्यारह अंगोंकी मौजूदगी।
११. भरत चक्रवर्तीको अपने भवनमें केवलज्ञानकी प्राप्ति।
१२. शूद्रके घरसे मुनि आहार ले सके।
१३. महावीरका गर्भहरण।

१४. महावीर स्वामीको तेजोलेश्यासे उपसर्ग।
१५. महावीर विवाह, कन्या जन्म।
१६. तीर्थंकरके कन्धेपर देवदूष्य वस्त्र।
१७. मरुदेवीका हाथीपर चढ़े हुए मुक्तिगमन।
१८. साधुका अनेक घरोंसे भिक्षा ग्रहण करना।

इन बातोंको श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता।

श्वेताम्बर चैत्यवासी

श्वेताम्बर चैत्यवासी सम्प्रदाय का इतिहास इस प्रकार मिलता है—

संघभेद होनेके पश्चात वीर नि० सं० ८५० के लगभग कुछ शिथिलाचारी मुनियोंने उग्र विहार छोड़कर मन्दिरों में रहना प्रारम्भ कर दिया। धीरे धीरे इनकी संख्या बढ़ती गई और आगे जाकर वे बहुत प्रबल हो गये। इन्होंने निगम नामके शास्त्र रचे, जिनमें यह बतलाया गया कि वर्तमान कालमें मुनियों-को चैत्योंमें रहना उचित है और उन्हें पुस्तकादिके लिये आवश्यक द्रव्य भी संग्रह करके रखना चाहिये। ये वनवासियों की निन्दा भी करते थे।

इन चैत्यवासियोंके नियमोंका दिग्दर्शन चैत्यवासके प्रबल विरोधी श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र सूरिने अपने संबोध प्रकरणके गुर्वधिकारमें विस्तारसे कराया है। वे लिखते हैं—

"ये चैत्य और मठोंमें रहते हैं, पूजा और आरती करते हैं, जिनमन्दिर और शालाएँ बनवाते हैं, देवद्रव्यका उपयोग अपने लिये करते हैं, श्रावकोंको शास्त्रकी सूक्ष्म बातें बतानेका निषेध करते

हैं, मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, रंगीले सुगन्धित और धूपसे सुवासित वस्त्र पहिनते हैं, स्त्रियोंके आगे गाते हैं, साध्वियोंके द्वारा लाये गये पदार्थोंका उपयोग करते हैं, धनका संचय करते हैं, केशलोच नहीं करते, मिष्ट आहार, पान, घी, दूध और फल-फूल आदि सचित्त द्रव्योंका उपभोग करते हैं। तेल लगवाते हैं, अपने मृत गुरुओंके दाह संस्कारके स्थानपर स्तूप बनवाते हैं, जिन प्रतिमा बेंचते हैं, आदि।"

वि० सं० ८०२ में अणहिलपुर पट्टणके राजा चावड़ासे उनके गुरु शीलगुण सूरिने, जो चैत्यवासी थे, यह आज्ञा जारी करा दी कि इस नगरमें चैत्यवासी साधुओंको छोड़कर दूसरे वनवासी साधु न आ सकेंगे। इस आज्ञाको रद्द करानेके लिये वि० सं० १०७४ में जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि नामके दो विधि-मार्गी आचार्योंने राजा दुर्लभदेव की सभामें चैत्यवासियोंके साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया तब कहीं विधिमार्गियों-का प्रवेश हो सका। राजाने उन्हें 'खरतर' नाम दिया। इसीपरसे खरतर गच्छकी स्थापना हुई। इसके बादसे चैत्यवासियोंका जोर कम होता गया।

श्वेताम्बरोंमें आज जो जती या श्रीपूज्य कहलाते हैं वे मठ-वासी या चैत्यवासी शाखाके अवशेष हैं और जो 'संवेगी' मुनि कहलाते हैं वे वनवासी शाखाके हैं। संवेगी अपनेको सुविहित मार्गका या विधिमार्गका अनुयायी कहते हैं।

श्वेताम्बरोंमें बहुतसे गच्छ थे। कहा जाता है कि उनकी संख्या ८४ थी। किन्तु आज जो गच्छ हैं उनकी संख्या अधिक नहीं है। मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके गच्छ इस प्रकार हैं—

१ उपकेशगच्छ—इस गच्छकी उत्पत्तिका सम्बन्ध भगवान् पाश्वनाथसे बताया जाता है। उन्हींका एक अनुयायी केशी इस गच्छका नेता था। आजके ओसवाल इसी गच्छके श्रावक कहे जाते हैं।

२ खरतरगच्छ—इस गच्छका प्रथम नेता वर्धमान सूरिको बतलाया जाता है। वर्धमान सूरिके शिष्य जिनेश्वर सूरिने गुजरातके अणहिलपुर पट्टणके राजा दुलभदेवकी सभामें जब चैत्यवासियोंको परास्त किया और राजाने उन्हें 'खरतर' नाम दिया तो उनके नामपरसे यह गच्छ खरतर गच्छ कहलाया। इस गच्छके अनुयायी अधिकतर राजपूताने और बंगालमें पाये जाते हैं। मुंबई प्रान्तमें इसके अनुयायियोंकी संख्या थोड़ी है।

३ तपागच्छ—इस गच्छके संस्थापक श्रीजगच्चन्द्र सूरि थे। सं० १२८५ में उन्होंने उग्र तप किया। इस परसे मेवाड़के राजाने उन्हें 'तपा' उपनाम दिया। तबसे इनका वृद्धगच्छ तपागच्छके नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीजगच्चन्द्र सूरि और उनके शिष्योंका देलवाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंका निर्माता वस्तुपाल बड़ा सन्मान करता था। इससे गुजरातमें आजतक भी तपागच्छका बड़ा प्रभाव चला आता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह गच्छ सबसे महत्त्वका समझा जाता है। इसके अनुयायी बम्बई, पंजाब, राजपूताना और मद्रास प्रान्तमें पाये जाते हैं।

श्रीजगच्चन्द्र सूरिके दो शिष्य थे देवेन्द्र सूरि और विजयचन्द्रसूरि। इन दोनोंमें मतभेद हो गया। विजयचन्द्र सूरिने कठोर आचारके स्थानमें शिथिलाचारको स्थान दिया। उन्होंने घोषणा की कि गीतार्थ मुनि वस्त्रोंकी गठड़ियाँ रख सकते हैं, हमेशा घी दूध खा सकते हैं, कपड़े धो सकते हैं, फल तथा

शाक ले सकते हैं, साध्वी द्वारा लाया हुआ आहार खा सकते हैं, और श्रावकोंको प्रवचन करनेके लिये उनके साथ बैठकर प्रतिक्रमण भी कर सकते हैं।

४ पार्श्वचन्द्र गच्छ—यह तपागच्छकी शाखा है। तपागच्छके आचार्य पार्श्वचन्द्र वि० सं० १५१५ में इस गच्छसे अलग हो गये। कारण यह था कि इन्होंने कर्मके विषयमें नया सिद्धान्त खड़ा किया था और निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और छेद ग्रन्थोंको प्रमाण नहीं मानते थे। इस गच्छके अनुयायी अहमदाबाद जिलेमें पाये जाते हैं।

५ सार्ध पौर्णिमीयक गच्छ—पौर्णमीयक गच्छकी स्थापना चन्द्रप्रभसूरिने की थी। कारण यह था कि प्रचलित क्रियाकाण्डसे उनका मतभेद था तथा वे महानिशीथ सूत्रकी गणना शास्त्र-ग्रन्थोंमें नहीं करते थे। आचार्य हेमचन्द्रकी आज्ञासे राजा कुमारपालने इस गच्छके अनुयायियोंको अपने राज्यमेंसे निकलवा दिया था। इन दोनोंकी मृत्युके बाद एक सुमतिसिंह नामके पौर्णमीयक कुमारपालकी राजधानी अणहिलपुरमें आये और उन्होंने इस गच्छको नवजीवन दिया। तबसे यह गच्छ साध पौर्णमीयक कहलाया। इस गच्छके अनुयायी आज नहीं पाये जाते।

६ अंचल गच्छ—इस गच्छके संस्थापक उपाध्याय नरसिंह थे। पीछे वे आयरक्षित सूरिके नामसे विख्यात हुए। इस गच्छमें मुखपट्टीके बदले अंचलका (वस्त्रके छोरका) उपयोग किया जाता है इससे इसका नाम अचल गच्छ पड़ा है।

७ आगमिक गच्छ—इस गच्छके संस्थापक शीलगुण और देवभद्र थे। पहले ये पौर्णमीयक थे पीछेसे आंचलिक हो गये

थे। ये क्षेत्रपालकी पूजा करनेके विरुद्ध थे। विक्रमकी १६वीं शतीमें इस गच्छकी एक शाखा कटुक नामसे पैदा हुई। इस शाखाके अनुयायी केवल श्रावक ही थे।

इन गच्छोंमेंसे भी आज खरतर, तपा और आंचलिक गच्छ ही वर्तमान हैं। प्रत्येक गच्छको साधु-सामाचारी जुदी जुदी है। श्रावकोंकी सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाविधि भी जुदी जुदी है। फिर भी सबमें जो भेद है वह एक तरहसे निर्जीव सा है। कोई कल्याणक दिन छै मानता है तो कोई पाँच मानता है। कोई पर्युषणका अन्तिम दिन भाद्रपद शुक्ला चौथ और कोई पंचमी मानता है। इसी तरहकी मोटी बातोंको लेकर गच्छ चल पड़े हैं।

स्थानकवासी

विक्रमकी पन्द्रहवीं या सोलहवीं शतीमें अहमदाबादमें लोकाशाह नामका एक व्यक्ति श्वेताम्बर कुलमें पैदा हुआ। मुसलमानी राजमें नौकरी करते हुए लोकाशाहने एक दिन एक मुसलमानको चिड़ियाका शिकार करते हुए देखा। दयार्द्र होकर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और शास्त्र लिखकर उदर पोषण करने लगे। एक दिन एक श्वेताम्बर जैन धर्मात्माने दशवैकालिक सूत्र उन्हें प्रतिलिपि करनेके लिए दिया। वह उन्हें बहुत पसन्द आया और उसकी उन्होंने दो प्रतिलिपि तैयार की, जिनमेंसे एक अपने लिये रख ली। इस तरह अन्य ग्रन्थोंका सं ह करके लोकाशाहने उनका अभ्यास किया। उन्हें लगा कि आज मन्दिरोंमें जो मूर्तिपूजा प्रचलित है वह तो इन ग्रन्थोंमें नहीं है, इसके सिवा जो आचार आज जैनधर्ममें पाले जाते हैं उनमेंसे अनेक इन ग्रन्थोंकी दृष्टिसे धर्मसम्मत नहीं है। अतः उन्होंने जैनधर्ममें सुधार करनेका बीड़ा उठाया। लोका-

शाहने अनेक लोगोंसे बातचीत की किन्तु कोई भी उनके विचारोंसे सहमत नहीं हुआ। एक बार एक यात्रीदल अहमदाबादमें आया। उसे इन्होंने अपने विचारोंसे प्रभावित किया। किन्तु आचार्य हो सकने योग्य किसी साधुके मिले बिना नये सम्प्रदायकी स्थापना शक्य नहीं थी। अतः भाणजी नामका एक श्रावक इस सम्प्रदायका साधु बन गया।

लोंकाके धर्मको सब दयाधर्मके नामसे पुकारते थे और गृहस्थ होते हुए भी लोग उन्हें दयाधर्म मुनि कहते थे। लोंकाशाह गृहस्थ ही रहे यद्यपि अनेक मुनि भी उनके शिष्य हुए और ऋषि कहलाये।

पीछेसे लोंकामतमें भी भेद-प्रभेद हो गये। सूरतके एक जैन साधुने लोंकामतमें सुधारकर एक नये सम्प्रदायकी स्थापना की जो ढूंढिया सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुआ। पीछेसे लोंकाके सभी अनुयायी ढूँढिया कहे जाने लगे। इन्हें स्थानकवासी भी कहते हैं, क्योंकि ये अपना सब धार्मिक व्यवहार मन्दिरमें न करके स्थानक यानी उपाश्रयमें करते हैं। इस सम्प्रदायके माननेवाले गुजरात, काठियावाड़, मारवाड़, मालवा, पंजाब तथा भारतके अन्य भागोंमें रहते हैं। इनकी संख्या मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके जितनी ही है। अतः इस सम्प्रदायको जैनधर्मका तीसरा सम्प्रदाय कहा जा सकता है। किन्तु ये अपनेको श्वेताम्बर ही मानते हैं; क्योंकि कुछ मतभेदोंको यदि छोड़ दिया जाये तो श्वेताम्बरोंसे ही इनका मेल अधिक खाता है।

यह सम्प्रदाय श्वेताम्बरोंके ही ४५ आगमोंमेंसे ३२ आगमोंको मानता है। लोंकाने तो ३१ आगम ही माने थे—व्यवहारसूत्रको वह प्रमाण नहीं मानता था। किन्तु पीछेके स्थानकवासियोंने उसे प्रमाण मान लिया। धर्माचरणमें स्थानक-

वाली श्वेताम्बरोंसे भिन्न पड़ते हैं। वे मूर्तिपूजा नहीं मानते, मन्दिर नहीं रखते और न तीर्थयात्रामें ही विशेष श्रद्धा रखते हैं। इस सम्प्रदायके साधु सफेद वस्त्र धारण करते हैं तथा मुखपर पट्टी बाँधते हैं। इन अमूर्तिपूजक श्वेताम्बर साधुओंसे भेद दिखानेके लिये सत्यविजय पंन्यासने अठारहवीं सदीमें मूर्तिपूजक श्वेताम्बर साधुओंको पीला वस्त्र धारण करनेका रिवाज चालू किया, जो अब भी देखनेमें आता है। इसी सदीके अन्तमें भट्टारकोंकी गद्दियाँ हुईं और यति तथा यतिनियाँ हुईं। खूब विरोध होनेपर भी उनके अवशेष आज भी मौजूद हैं।

मूर्तिपूजा विरोधी तेरापन्थ

मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदायमें भी अनेक पन्थ प्रचलित हुए, जिनमेंसे उल्लेखनीय एक तेरापन्थ है। इस पन्थकी स्थापना मारवाड़में भिखमऋषिने की थी। यह पन्थ मूर्तिपूजाका सख्त विरोधी है तथा अक्षरशः शास्त्रोंके अनुकूल आचार पालनेका आग्रह करता है। सुना गया है कि इस पन्थके विहार करते हुए यति शास्त्रानुकूल पानी न मिल सकनेके कारण मरणको प्राप्त हुए। मरते हुए जीवको बचाना इस पन्थके अनुसार धर्म नहीं है; क्योंकि जीवोंको अपना अपना कर्मफल भोगने देना चाहिये। इस पन्थमें साधुसंघके अधिपति पूज्यजी महाराज होते हैं। सब साधुओंको उनकी आज्ञा माननी पड़ती है और प्रतिदिन विधिपूर्वक उनका सन्मान करना होता है। इस पन्थका प्रचार पश्चिम भारतमें अधिक है, कलकत्ता जैसे नगरोंमें भी इस पन्थके श्रावक रहते हैं।

यापनीय संघ

जैनधर्मके दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंसे तो साधा-

रणतः सभी परिचित हैं। किन्तु इस बातका पता जैनोंमेंसे भी कम ही को है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसे यापनीय या गोप्यसंघ कहते थे।

यह सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन है। दर्शनसारके[१] कर्ता श्रीदेवसेन सूरिके कथनानुसार वि० सं० २०५ में श्रीकलश नामके श्वेताम्बर साधुने इस सम्प्रदायकी स्थापना की थी। यह समय दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदकी उत्पत्तिसे लगभग ७० वर्ष बाद पड़ता है।

किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आस पास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदम्ब, राष्ट्रकूट और दूसरे वंशोंके राजाओंने इसे और इसके आचार्योंको अनेक दान दिये थे।

यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे, मोरके पंखोंकी पिच्छी रखते थे और हाथमें ही भोजन करते थे। ये नग्न मूर्तियोंको पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकोंको 'धर्मलाभ' देते थे। ये सब बातें तो इनमें दिगम्बरों जैसी ही थीं, किन्तु साथ ही साथ वे मानते थे कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं। वैयाकरण शाकटायन (पाल्यकीर्ति) यापनीय थे। इनकी रची अमोघवृत्तिके कुछ उदाहरणोंसे मालूम होता है कि यापनीय संघमें आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, और दशवैकालिक आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन होता था, अर्थात् इन बातोंमें वे श्वेताम्बरोंके समान थे। श्वेताम्बरमान्य जो आगमग्रन्थ हैं यापनीय संघ संभवतः उन सभीको मानता था, किन्तु उनके आगमोंकी वाचना श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मानी

(१) "कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंच उत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ॥२९॥"

जानेवाली वलभी वाचनासे शायद कुछ भिन्न थी। उनपर उसकी टीकाएँ भी हो सकती हैं जैसी कि अपराजित सूरिकी दशवैकालिक सूत्रपर टीका थी।

आज इस सम्प्रदायका एक भी अनुयायी नहीं है। इसका लोप कब और किन किन कारणोंसे हुआ, यह बतला सकना कठिन है, फिर भी विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस सम्प्रदायके जीवित रहनेके प्रमाण मिलते हैं। क्योंकि कागवाड़ेके श० सं० १३१६ (वि० सं० १४५७) के शिलालेखमें यापनीय-संघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधि लेखोंका उल्लेख है।

अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

श्रीरत्ननन्दि आचार्यने अपने भद्रबाहु चरित्रमें अर्द्धस्फालक सम्प्रदायका उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि यह अद्भुत अर्द्धस्फालक मत कलिकालका बल पाकर जलमें तेलकी बूँदकी तरह सब लोगोंमें फैल गया[१]। उन्होंने इस मतको श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके अन्तमें उत्पन्न हुआ बतलाया है और अन्तमें लिखा है कि वल्लभीपुरमें पूरी तरहसे श्वेतवस्त्र ग्रहण करनेके कारण विक्रम राजाके मृत्युकालसे १३६ वर्षके बाद श्वेताम्बरमत प्रसिद्ध हुआ। श्रीरत्ननन्दिके मतसे कुछ दिगम्बर मुनियोंने जब अपनी नग्नताको छिपानेके लिये खण्डवस्त्र स्वीकार कर लिया तो उनसे अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ। और अर्द्धस्फालक सम्प्रदायसे ही श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई।

---

(१) "अतोऽर्द्धफालकं लोके व्यानसे मतमद्भुतम्।
कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत् ॥ ३०४॥"

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन पुरातत्त्वमें कुछ ऐसे आयागपट प्राप्त हुए हैं, जिनमें जैन साधु यद्यपि नग्न अंकित हैं परन्तु वे अपनी नग्नताको एक वस्त्रखण्डसे छिपाये हुए हैं। प्लेट नं० २२ में कण्ह श्रमणका चित्र अंकित है, उनके बाएँ हाथकी कलाईपर एक वस्त्रखण्ड लटक रहा है जिसे आगे करके वे अपनी नग्नताको छिपाये हुए हैं। यही अर्द्धस्फालक सम्प्रदायका रूप जान पड़ता है।

उधर श्वेताम्बर[1] भी कहते हैं कि छठे स्थविर भद्रबाहुके समयमें अर्धफालक सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। इनमेंसे ई० स० ८० में दिगम्बरोंका उद्भव हुआ जो मूलसंघ कहलाया।

इससे भी इस सम्प्रदायका अस्तित्व सिद्ध होता है। अब रह जाता है यह प्रश्न कि अर्द्धस्फालक श्वेताम्बरोंके पूर्वज हैं या दिगम्बरोंके? इसका समाधान भी मथुरासे प्राप्त पुरातत्त्वसे ही हो जाता है। वहाँ के एक शिलापटमें भगवान् महावीरके गर्भ-परिवर्तनका दृश्य अंकित है और उसीके पास एक छोटी सी मूर्ति ऐसे दिगम्बर साधुकी है जिसकी कलाईपर खण्ड वस्त्र लटकता है। गर्भापहार श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है अतः उसके पास अंकित साधुका रूप भी उसी सम्प्रदाय मान्य होना चाहिये।

उपसंहार

सारांश यह है कि मुख्यरूपसे जैनधर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शाखाओंमें विभाजित हुआ। पीछेसे प्रत्येकमें अनेक गच्छ, उपशाखा और उपसम्प्रदाय आदि उत्पन्न हुए। फिर भी

---

(१) 'जैन संस्कृतिका प्राणस्थल' विश्ववाणी सितम्बर १९४२ में।

सब महावीर भगवानकी सन्तान हैं और एक वीतराग देवके ही माननेवाले हैं।

४—जैनपर्व

दशलक्षण या पर्युषणपर्व

जैनोंका सबसे पवित्र पर्व दशलक्षणपर्व है। दिगम्बर सम्प्रदायमें यह पर्व प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे चतुर्दशी तक मनाया जाता है। इन दिनोंमें जैन मन्दिरोंमें खूब आनन्द छाया रहता है। प्रतिदिन प्रातःकालसे ही सब स्त्री-पुरुष स्नान करके मन्दिरोंमें पहुँच जाते हैं और बड़े आनन्दके साथ भगवानका पूजन करते हैं। पूजन समाप्त होनेपर प्रतिदिन श्रीतत्त्वार्थसूत्रके दस अध्यायोंमेंसे एक एक अध्यायका व्याख्यान और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोंमेंसे एक एक धर्मका विवेचन होता है। इन दस धर्मोंके कारण इस पर्वको दशलक्षणपर्व कहते हैं; क्योंकि धर्मके उक्त दस लक्षणोंका इस पर्वमें खासतौरसे आराधन किया जाता है। व्याख्यानके लिये बाहरसे बड़े बड़े विद्वान् बुलाये जाते हैं, और प्रायः सभी स्त्री-पुरुष उनके उपदेशसे लाभ उठाते हैं। त्याग धर्मके दिन परोपकारी संस्थाओंको दान दिया जाता है और आश्विन कृष्णा प्रतिपदाके दिन पर्वकी समाप्ति होनेपर सब पुरुष एकत्र होकर परस्परमें गले मिलते हैं और गतवर्षकी अपनी गलतियोंके लिये परस्परमें क्षमायाचना करते हैं। जो लोग दूर देशान्तरमें बसते हैं उन्हें पत्र लिखकर क्षमायाचना की जाती है।

इन दिनोंमें प्रायः सभी स्त्री-पुरुष अपनी अपनी शक्तिके अनुसार व्रत उपवास वगैरह करते हैं। कोई कोई दसों दिन

उपवास करते हैं, बहुत से दसों दिन एक बार भोजन करते हैं। इन्हीं दिनोंमें भाद्रपद शुक्ला दशमीको सुगन्धदशमीपर्व होता है, इस दिन सब जैन स्त्री-पुरुष एकत्र होकर मन्दिरोंमें धूप खेनेके लिये जाते हैं; इन्दौर वगैरहमें यह उत्सव दर्शनीय होता है।

भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी अनन्त चतुर्दशी कहलाती है। इसका जैनोंमें बड़ा महत्त्व है। जैन शास्त्रोंके अनुसार इस दिन व्रत करनेसे बड़ा लाभ होता है। दूसरे यह दशलक्षण पर्वका अन्तिम दिन भी है, इसलिये इस दिन प्रायः सभी जैन स्त्री-पुरुष व्रत रखते हैं और तमाम दिन मन्दिरमें ही बिताते हैं। अनेक स्थानोंपर इस दिन जलूस भी निकलता है। कुछ लोग इन्द्र बनकर जलूसके साथ जल लाते हैं और उस जलसे भगवानका अभिषेक करते हैं। फिर पूजन होती है और पूजनके बाद अनन्तचतुर्दशी व्रत कथा होती है। जो व्रती निर्जल उपवास नहीं करते वे कथा सुनकर ही जल ग्रहण करते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इसे पर्युषणपर्व कहते हैं। यह पर्व भाद्रपद कृष्ण १२से भाद्रपद शुक्ला चौथ तक मनाया जाता है। उनमें इन दिनों खास करके कल्पसूत्र बांचा जाता है। पर्युषणका अन्तिम दिन संवत्सरी कहलाता है। उस दिन प्रतिक्रमण किया जाता है। उसमें यही भावना की जाती है कि नये वर्षमें कोई नया पाप न हो। तथा गतवर्षमें जिस जिसके साथ कलह हुई हो उन सबसे इस दिन क्षमा माँगी जाती है जैसा दिगम्बरोंमें आश्विन कृष्णा प्रतिपदाको होता है। इस पर्वका सन्मान मुगल-बादशाह भी करते थे। सम्राट् अकबरने जैनाचार्य हीरविजय सूरिके उपदेशसे प्रभावित होकर पर्युषण पर्वमें हिंसा बन्द रखने-का फर्मान अपने साम्राज्यमें जारी किया था।

अष्टाह्निकापर्व

दिगम्बर सम्प्रदायका दूसरा महत्त्वपूर्ण पर्व अष्टाह्निकापर्व है। यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आसाढ़ मासके अन्तके आठ दिनोंमें मनाया जाता है। जैन मान्यताके अनुसार इस पृथ्वी-पर आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। उस द्वीपमें ५२ जिनालय बने हुए हैं। उनकी पूजा करनेके लिये स्वर्गसे देवगण उक्त दिनोंमें जाते हैं। चूँकि मनुष्य वहाँ तक जा नहीं सकते इस लिये वे उक्त दिनोंमें पर्व मनाकर यहीं पर उनकी पूजा कर लेते हैं। इन्हीं दिनोंमें सिद्धचक्र पूजा विधानका आयोजन किया जाता है। यह पूजा महोत्सव दर्शनीय होता है। श्वेताम्बरोंमें भी पर्युषणाके बाद सबसे महत्त्वका जैन पर्व सिद्धचक्र पूजा विधान ही है। किन्तु उनमें यह पूजा वर्षमें दो बार—चैत्र और आसौजमें होती है और सप्तमीसे पूनम तक ६ दिन चलती है।

महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भगवान महावीरको जन्मतिथि है। इस दिन भारतवर्षके सभी जैन अपना कारोबार बन्द रखकर अपने अपने स्थानोंपर बड़ी धूम-धामसे महावीरकी जयन्ती मनाते हैं। प्रातःकाल जलूस निकालते हैं और रात्रिमें सार्वजनिक सभाका आयोजन होता है। भारत भरमें बहुत-सो स्टेटोंने अपने राज्यमें महावीर जयन्तीकी छुट्टी घोषित कर दी है। प्रान्तीय सरकारोंसे भी जैनोंकी यही माँग है। मध्य-प्रान्तकी कांग्रेसी सरकारने इसे छुट्टीका दिन घोषित कर दिया है।

वीरशासन जयन्ती

जैनोंके अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरको पूर्ण-ज्ञानकी

प्राप्ति हो जानेपर उनकी सबसे पहली धर्मदेशना मगधदेशकी राजगृही नगरीके विपुलाचल पर्वतपर प्रातःकालके समय हुई थी। उसीके उपलक्षमें प्रतिवर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको वीर-शासन जयन्ती मनाई जाती है। गत वि० सं० २००१ में पहले राजगृहीमें और बादको कलकत्तामें अढ़ाई हजारवाँ वीर शासन महोत्सव बड़ी धूम-धामसे मनाया गया था।

श्रुत पञ्चमी

दिगम्बर सम्प्रदायमें धीरे धीरे जब अंग ज्ञान लुप्त हो गया तो अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए। वे सोरठ देशके गिरनार पर्वतकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे। उन्हें इस बातकी चिन्ता हुई कि उनके बाद श्रुत ज्ञानका लोप हो जायेगा, अतः उन्होंने महिमा नगरीमें होनेवाले मुनि सम्मेलनको पत्र लिखा, जिसके फलस्वरूप वहाँसे दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया और विदा कर दिया। उन दोनों मुनियोंका नाम पुष्पदन्त और भूतबलि था। उन्होंने वहाँसे आकर षट्खण्डागम नामक सिद्धान्त ग्रन्थकी रचना की। रचना हो जानेपर भूतबलि आचार्यने उसे पुस्तकारूढ करके ज्येष्ठ[1] शुक्ला पंचमीके दिन चतुर्विध संघके साथ उसकी पूजा की जिससे श्रुत पञ्चमी तिथि दि० जैनियोंमें प्रख्यात हो गई। उस तिथिको वे

(१) "ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यं संघ समवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥"
इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार।

शास्त्रोंकी पूजा करते हैं। उनकी देख भाल करते हैं, धूप तथा जीव-जन्तुसे उनकी सफाई करते हैं। श्वेताम्बरोंमें कार्तिक सुदी पंचमीको *ज्ञानपंचमी* माना जाता है। उस दिन वे धर्मग्रन्थोंकी पूजा तथा सफाई वगैरह करते हैं।

उक्त पर्वोंके सिवा प्रत्येक तीर्थङ्करके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाणके दिन कल्याणक दिन कहे जाते हैं। उन दिनोंमें भी जगह जगह उत्सव मनाये जाते हैं। जैसे अनेक जगह प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवकी ज्ञान जयन्ती या निर्वाणतिथि मनाई जाती है।

दीपावली

ऊपर जो जैन पर्व बतलाये गये हैं वे ऐसे हैं जिन्हें केवल जैन धर्मानुयायी ही मनाते हैं। इनके सिवा कुछ पर्व ऐसे भी हैं जिन्हें जैनोंके सिवा हिन्दू जनता भी मनाती है। ऐसे पर्वोंमें सबसे अधिक उल्लेखनीय दीपावली या दिवालीका पर्व है। यह पर्व कार्तिक मासकी अमावस्याको मनाया जाता है। साफ सुथरे मकान कार्तिकी अमावस्याकी सन्ध्याको दीपोंके प्रकाशसे जगमगा उठते हैं। घर घर लक्ष्मीका पूजन होता है। सदियोंसे यह त्यौहार मनाया जाता है, किन्तु किसीको इसका पता नहीं है कि यह त्यौहार कब चला, क्यों चला और किसने चलाया? कोई इसका सम्बन्ध रामचन्द्रजीके अयोध्या लौटनेसे लगाते हैं, कोई इसे सम्राट् अशोककी दिग्विजयका सूचक बतलाते हैं। किन्तु रामायणमें इस तरहका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इतना ही नहीं, किन्तु किसी हिन्दू पुराण वगैरहमें भी इस सम्बन्धमें कोई उल्लेख नहीं मिलता। बौद्धधर्ममें तो यह त्यौहार मनाया ही नहीं जाता। रह जाता है जैन सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायमें शक

सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) का रचा हुआ हरिवंश पुराण है। उसमें भगवान महावीरके निर्वाणका वर्णन करते हुए लिखा[1] है कि—"महावीर भगवान भव्यजीवोंको उपदेश देते हुए पावा नगरीमें पधारे, और वहाँके एक मनोहर उद्यानमें, चतुर्थकालमें तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जानेपर कार्तिक अमावस्याके प्रभातकालीन सन्ध्याके समय, योगका निरोध करके कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त हुए। चारों प्रकारके देवताओंने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकोंके प्रकाशसे पावानगरीका आकाश प्रदीपित हो रहा था। उसी समयसे भक्त लोग जिनेश्वरकी पूजा करनेके लिये भारतवर्षमें प्रति वर्ष उनके निर्वाण दिवसके उपलक्षमें दीपावली मनाते हैं।"

जैनधर्मकी आजकी स्थितिको देखते हुए कोई इस बातपर विश्वास नहीं कर सकता कि महावीर निर्वाणके उपलक्षमें दीपावली मनाई जा सकती है। किन्तु उस समयके प्रसिद्ध प्रसिद्ध

---

(१) "जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य संततं समंततो भव्यसमूहसंतति।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके ॥१५॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकै विहीनताविश्चतुरब्दशेषके ।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः ॥१६॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीं घनवद्विबंधनं।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम् ॥१७॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समंततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१९॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥२०॥"

राजघरानोंके साथ महावीरका जो कुलक्रमागत सम्बन्ध था तथा उनपर जो प्रभाव था उसे देखते हुए ऐसा हो सकना असंभव तो नहीं कहा जा सकता। मझिमनिकायके सामगामसुत्तके अनुसार जब चुन्द महात्मा बुद्धके प्रियशिष्य आनन्दको महावीरके मरनेका समाचार देता है तो आयुष्यमान आनन्द कहते हैं—'आवुस चुन्द! भगवान् बुद्धके दर्शनके लिए यह बात भेंट स्वरूप है'। इस घटनासे ही स्पष्ट हो जाता है कि अपने समयमें महावीर भगवानका कितना प्रभाव था।

इसके सिवा दीपावलीके पूजनको जो पद्धति प्रचलित है, उससे भी इस समस्यापर प्रकाश पड़ता है। दीपावलीके दिन क्यों लक्ष्मीपूजन होता है इसका सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलता। दूसरी ओर, जिस समय भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ उसी समय उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरको पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हुई। यह गौतम ब्राह्मण थे। मुक्ति और ज्ञानको जैनधर्ममें सबसे बड़ी लक्ष्मी माना है और प्रायः मुक्तिलक्ष्मी और ज्ञानलक्ष्मीके नामसे ही शास्त्रोंमें उनका उल्लेख किया गया है। अतः सम्भव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मीके पूजनकी प्रथाने धीरे धीरे जनसमुदायमें बाह्य लक्ष्मीके पूजनका रूप ले लिया हो। बाह्य दृष्टि प्रधान मनुष्यसमाजमें ऐसा प्रायः देखा जाता है। लक्ष्मीपूजनके समय मिट्टीका घरौंदा और खेल खिलौने भी रखे जाते हैं। हमारे बड़े कहा करते थे कि यह घरौंदा भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधरकी उपदेश सभा (समवशरण) की यादगार है और चूँकि उनका उपदेश सुननेके लिये मनुष्य पशु सभी जाते थे अतः उनकी यादगारमें उनकी मूर्तियाँ (खिलौने) रखे जाते हैं। इस तरह दीपावलीके प्रकाशमें हम प्रतिवर्ष भगवानकी निर्वाण लक्ष्मीका पूजन करते हैं। और

जिस रूपमें उनकी उपदेश सभा लगती थी उसका साज सजाते हैं।

दीपावलीके प्रातःकालमें सभी जैन मन्दिरोंमें महावीर निर्वाणकी स्मृतिमें बड़ा उत्सव मनाया जाता है और नैवेद्य (लाडू) से भगवान्‌की पूजाकी जाती है। इस ढंगकी पूजाका आयोजन केवल इसी दिन होता है। इससे घर घरमें उस दिन जो मिष्टान्न बनता है उसका उद्देश्य भी समझमें आ जाता है।

सलूनो या रक्षाबन्धन

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्यौहार, जिसे जैनी मनाते हैं, सलूनो या रक्षाबन्धन पर्व है। साधारणतः इस त्यौहारके दिन घरोंमें सीमियाँ बनती हैं और ब्राह्मण लोग लोगोंके हाथोंमें राखियाँ, जिन्हें रक्षाबन्धन कहते हैं, बाँधकर दक्षिणा लेते हैं। राखी बाँधते समय वे एक[1] श्लोक पढ़ते हैं जिसका भाव यह है—'जिस राखीसे दानवोंका इन्द्र महाबली बलिराजा बाँधा गया उससे मैं तुम्हें भी बाँधता हूँ। मेरी रक्षा करो और उससे कभी डिगना नहीं।'

साथ ही साथ उत्तर भारतमें एक प्रथा और है। उस दिन हिन्दू मात्रके द्वारपर दोनों ओर मनुष्यके चित्र बनाये जाते हैं उन्हें 'सौन' कहते हैं। पहले उन्हें जिमाकर उनके राखी बाँधी जाती है तब घरके लोग भोजन करते हैं। हमने अनेकों विद्वानों और पौराणिकोंसे इस त्यौहारके बारेमें जानना चाहा कि यह कब कैसे चला किन्तु किसीसे भी कोई बात ज्ञात नहीं हो सकी। बलि राजाकी कथा वामनावतारके सिलसिलेमें आती है, किन्तु

---

(१) 'येन बद्धो बलीराजा दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा चल ॥'

उससे इस पर्वके बारेमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता। जैनपुराणोंमें अवश्य एक कथा मिलती है जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

किसी समय उज्जैनी नगरीमें श्रीधर्म नामका राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे—बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद। एक बार जैनमुनि अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियोंके संघके साथ उज्जैनीमें पधारे। मंत्रियोंके मना करनेपर भी राजा मुनियोंके दर्शनके लिये गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्गमें एक मुनिसे मंत्रियोंका शास्त्रार्थ हो गया मंत्री पराजित हो गये। क्रुद्ध मंत्री रात्रिमें तलवार लेकर मुनियों-को मारनेके लिये निकले। मार्गमें गुरुकी आज्ञासे उसी शास्त्रार्थके स्थानपर ध्यानमें मग्न अपने प्रतिद्वन्दी मुनिको देखकर मंत्रियोंने उनपर वार करनेके लिये जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्योंके त्यों रह गये। दिन निकलनेपर राजाने मंत्रियोंको देशसे निकाल दिया। चारों मत्री अपमानित होकर हस्तिनापुरके राजा पद्मकी शरणमें आये। वहाँ बलिने कौशलसे पद्म राजाके एक शत्रुको पकड़ कर उसके सुपुर्द कर दिया। पद्मने प्रसन्न होकर मुँहमाँगा वरदान दिया। बलिने वरदान समयपर माँगनेके लिये कह दिया।

कुछ समय बाद मुनि अकम्पनाचार्यका संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और उसने वहीं वर्षावास करना तय किया। जब बलि वगैरहको इस बातका पता चला तो पहले तो वे बहुत घबराये, पीछे उन्हें अपने अपमानका बदला चुकानेकी युक्ति सूझ गई। उन्होंने वरदानका स्मरण दिलाकर राजा पद्मसे सात दिनका राज्य माँग लिया। राज्य पाकर बलिने मुनिसंघके चारों ओर एक बाड़ा खड़ा करा दिया और उसके अन्दर पुरुष-मेध यज्ञ करनेका प्रबन्ध किया।

इधर मुनियोंपर यह उपसर्ग प्रारम्भ हुआ उधर मिथिला नगरीमें वर्तमान एक निमित्तज्ञानी मुनिको इस उपसर्गका पता लग गया। उनके मुँहसे 'हा हा' निकला। पासमें वर्तमान एक क्षुल्लकने इसका कारण पूछा तो उन्होंने सब हाल बतलाया और कहा कि विष्णुकुमार मुनिको विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है वे इस संकटको दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक तत्काल मुनि विष्णुकुमारके पास गये और उनको सब समाचार सुनाया। विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुरके राजा पद्मके भाई थे। वे तुरन्त अपने भाई पद्मके पास पहुँचे और बोले—'पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है? कुरु वंशमें ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि राजा ही तपस्वियोंपर अनर्थ करने लगे तो उसे कौन दूर कर सकेगा? यदि जल ही आगको भड़काने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा।' उत्तरमें पद्मने बलिको राज्य दे देनेका सब समाचार सुनाया और कुछ कर सकनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामनरूप धारण करके बलिके यज्ञमें पहुँचे और बलिके प्रार्थना करनेपर तीन पैर धरती उससे माँगी। जब बलिने दानका संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमारने विक्रिया ऋद्धिके द्वारा अपने शरीरको बढ़ाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरु पर्वतपर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वतपर रखा, और तीसरा पैर स्थान न होनेसे आकाशमें डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनिसे प्रार्थना की कि—'भगवन्! अपनी इस विक्रियाको समेटिये। आपके तपके प्रभावसे तीनों लोक चञ्चल हो उठे हैं।' तब उन्होंने अपनी विक्रियाको समेटा। मुनियोंका उपसर्ग दूर हुआ और बलिको देशसे निकाल दिया गया।

बलिके अत्याचारसे सर्वत्र हाहाकार मच गया था और

लोगोंने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियोंका संकट दूर होगा तो उन्हें आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होनेपर सब लोगोंने दूधकी सीमियोंका हल्का भोजन तैयार किया; क्योंकि मुनि कई दिनके उपवाससे थे। मुनि केवल सात सौ थे अतः वे केवल सात सौ घर पर ही पहुँच सकते थे। इसलिये शेष घरोंमें उनकी प्रतिकृति बनाकर और उसे आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्परमें रक्षा करनेका बन्धन बाँधा, जिसकी स्मृति त्यौहारके रूपमें अबतक चली आती है। दीवारोंपर जो चित्र रचना की जाती है उसे 'सौन' कहा जाता है, सो यह 'सौन' शब्द 'श्रमण' शब्दका अपभ्रंश जान पड़ता है। प्राचीनकालमें जैन साधु श्रमण कहलाते थे। इस प्रकारसे सलूनो या रक्षाबन्धनका त्यौहार जैन त्यौहारके रूपमें जैनोंमें आज भी मनाया जाता है। उस दिन विष्णुकुमार और सात सौ मुनियोंकी पूजन की जाती है। उसके बाद परस्परमें राखी बाँधकर दीवारोंपर चित्रित 'सौनों' को आहार दान दिया जाता है। तब सब भोजन करते हैं और गरीबों तथा ब्राह्मणों को दान भी देते हैं।

५—तीर्थक्षेत्र

साधारणतः जिस स्थानकी यात्रा करनेके लिये यात्री जाते हैं, उसे तीर्थ कहते हैं। तीर्थ शब्दका अर्थ घाट अर्थात् स्नान करनेका स्थान भी होता है; किन्तु जैनोंमें कोई स्नानस्थान तीर्थ नहीं है। नदियोंके जलमें पापनाशक शक्ति है यह बात हिन्दू मानते हैं किन्तु जैन नहीं मानते। इसी प्रकार सती होनेकी प्रथा हिन्दुओंकी दृष्टिसे मान्य है और इसलिये वे सतियोंके स्थानोंको भी तीर्थकी तरह पूजते हैं, किन्तु जैन उन्हें नहीं मानते। जैन

दृष्टिसे तो तीर्थशब्दका एक ही अर्थ लिया जाता है—'भवसागरसे पार उतरनेका मार्ग बतलानेवाला स्थान'। इसलिये जिन स्थानों-पर तीथङ्करोंने जन्म लिया हो, दीक्षा धारण की हो, तप किया हो, पूर्णज्ञान प्राप्त किया हो, या मोक्ष प्राप्त किया हो, उन स्थानोंको जैनी तीर्थस्थान मानते हैं। अथवा जहाँ कोई पूज्य वस्तु वर्तमान हो, तीर्थङ्करोंके सिवा अन्य महापुरुष जहाँ रहे हों या उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया हो वे स्थान भी तीर्थ माने जाते हैं।

जैनोंके तीर्थोंकी संख्या बहुत है। उन सबको बतला सकना शक्य नहीं है; क्योंकि जैन धर्मको अवनतिके कारण अनेक प्राचीन तीर्थ आज विस्मृत हो चुके हैं, अनेक स्थान दूसरोंके द्वारा अपनाये जा चुके हैं। कई प्रसिद्ध स्थानोंपर जैनमूर्तियाँ दूसरे देवताओंके रूपमें पूजी जाती हैं। उदाहरणके लिये प्रख्यात बद्री-नाथ तीर्थके मन्दिरमें भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति बद्रीविशालके रूपमें तमाम हिन्दू यात्रियोंके द्वारा पूजी जाती है। उसपर चन्दनका मोटा लेप थोपकर तथा हाथ वगैरह लगाकर उसका रूप बदल दिया जाता है, इसी लिये जब प्रातःकाल शृङ्गार किया जाता है तो किसीको देखने नहीं दिया जाता। क्या आश्चर्य है जो कभी वह जैन मन्दिर रहा हो और शंकराचार्यके द्वारा इस रूपमें कर दिया गया हो, जैसा कि वहाँके पुराने बूढ़ोंके मुँहसे सुना जाता है। अस्तु,

जैनधर्मके दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही मुख्य सम्प्र-दायोंके तीर्थस्थान हैं। उनमें बहुतसे ऐसे हैं जिन्हें दोनों ही मानते पूजते हैं और बहुतसे ऐसे हैं जिन्हें या तो दिगम्बर ही मानते पूजते हैं या केवल श्वेताम्बर; अथवा एक सम्प्रदाय एक स्थानमें मानता है तो दूसरा दूसरे स्थानमें। कैलास, चम्पापुर, पावापुर, गिरनार, शत्रुञ्जय और सम्मेद शिखर आदि ऐसे तीर्थ

हैं जिनको दोनों ही सम्प्रदाय मानते हैं। गजपन्था, तुङ्गी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुंथुगिरि, सिद्धवरकूट, बड़वानी आदि तीर्थ ऐसे हैं, जिन्हें केवल दिगम्बर सम्प्रदाय ही मानता है। और इसी तरह आबूगिरि, शंखेश्वर आदि कुछ ऐसे तीर्थ हैं जिन्हें श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही मानता है। यहाँ प्रसिद्ध प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्रोंका सामान्य परिचय प्रान्तवार कराया जाता है—

बिहार प्रान्त

सम्मेद शिखर—हजारीबाग जिलेमें जैनोंका यह एक अति-प्रसिद्ध और अत्यन्त पूज्य सिद्धक्षेत्र है। इसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही समानरूपसे मानते और पूजते हैं। श्री-ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीरके सिवा शेष बीस तीर्थङ्करोंने इसी पर्वतसे निर्वाण प्राप्त किया था। २३वें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथके नामके ऊपरसे आज यह पर्वत 'पारसनाथ हिल' के नामसे प्रसिद्ध है। ई० आई० रेलवेपर इसके रेलवे स्टेशनका नाम भी कुछ वर्षोंसे पारसनाथ हो गया है। इस पर्वतकी चोटियोंपर बने अनेक मन्दिरोंका दर्शन करनेके लिये प्रतिवर्ष हजारों दिगम्बर और श्वेताम्बर स्त्री पुरुष आते हैं। इसकी यात्रामें १८ मीलका चक्कर पड़ता है और ८ घंटे लगते हैं।

कुलुआ पहाड़—यह पहाड़ जंगलमें है। गयासे जाया जाता है। इसकी चढ़ाई २ मील है। इसपर सैकड़ों जैन प्रतिमाएँ खण्डित पड़ी हैं। अनेक जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष भी पड़े हैं। कुछ जैन मन्दिर और प्रतिमाएँ अखण्डित भी हैं। कहा जाता है कि इस पहाड़पर १०वें तीर्थङ्कर शीतलनाथने तप करके केवल-ज्ञान प्राप्त किया था। इण्डियन एन्टीक्वेरी (मार्च १९०१) में एक अँग्रेज लेखकने इसके सम्बन्धमें लिखा था—'पूर्वकालमें यह

पहाड़ अवश्य जैनियोंका एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा होगा; क्योंकि सिवाय दुर्गादेवीकी नवीन मूर्तिके और बौद्धमूर्तिके एक खण्डके अन्य सब चिन्ह जो पहाड़पर हैं वे सब जैन तीर्थङ्करोंको ही प्रकट करते हैं।'

गुणावा—यह भगवान महावीरके प्रथम गणधर गौतम स्वामीका निर्वाणक्षेत्र है। गया-पटना (ई० आई० आर०) लाईनमें स्थित नवादा स्टेशनसे डेढ़ मील है।

पावापुर—गुणावासे १३ मीलपर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरका यह निर्वाणक्षेत्र है। उसके स्मारकस्वरूप तालाबके मध्यमें एक विशाल मन्दिर है, जिसको जलमन्दिर कहते हैं। जलमन्दिरमें महावीर स्वामी, गौतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी-के चरण स्थापित हैं। कार्तिक कृष्णा अमावस्याको भगवान महावीरके निर्वाण दिवसके उपलक्षमें यहाँ बहुत बड़ा मेला भरता है।

राजगृही या पंच पहाड़ी—पावापुरीसे ११ मील राजगृही है। एक समय यह मगध देशकी राजधानी थी। यहाँ २०वें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथका जन्म हुआ था। राजगृहीके चारों ओर पाँच पर्वत हैं उनके बीचमें राजगृही बसी थी इसीसे इसे पंचपहाड़ी भी कहते हैं। महावीर भगवानका प्रथम उपदेश इसी नगरीके विपुलाचल पर्वतपर हुआ था। पाँचों पहाड़ोंके ऊपर जैन मन्दिर बने हैं। इन सभी की वन्दना करनेमें १५-१६ मीलका चक्कर पड़ जाता है।

कुण्डलपुर—यह राजगृहीसे १० मीलपर है। भगवान महा-वीरका जन्म स्थान होनेसे पूजा जाता है।

मन्दारगिरि—भागलपुरसे ३० मीलपर यह एक छोटा सा

पहाड़ है। इसीको बारहवें तीर्थङ्कर श्रीवासुपूज्य स्वामीका मोक्ष-स्थान माना जाता है। किन्तु वर्तमानमें चम्पापुरको ही पाँचों कल्याणकोंका स्थान माना जाता है। भागलपुरसे ४ मील नाथ-नगर है और वहाँसे २ मीलपर चंपापुर है।

पटना—यह बिहार प्रान्तकी राजधानी है। पटना सिटीमें गुलजारबाग स्टेशनके पासमें ही एक छोटी सी टीकरीपर चरण-पादुकाएँ स्थापित हैं। यहाँसे सेठ सुदर्शनने मुक्तिलाभ किया था। इनकी जीवन कथा अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद है।

संयुक्त प्रान्त

बनारस—इस नगरके भदैनीघाट मुहालमें गंगाके किनारेपर दो विशाल दि० जैन मन्दिर तथा एक श्वे० मन्दिर बने हैं जो सातवें तीर्थङ्कर भगवान सुपार्श्वनाथके जन्म स्थान रूपसे माने जाते हैं। यहींपर जैनोंका अतिप्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय स्थापित है जिसमें संस्कृत और जैनधर्मकी ऊँचोसे ऊँची शिक्षा दी जाती है। भेलुपुर मुहालमें भी दानो सम्प्रदायोंके मन्दिर हैं, यह स्थान तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथकी जन्मभूमि होनेसे पूजनीय है। इस प्रकार बनारस दो तीर्थङ्करोंका जन्म-स्थान है। शहरमें अन्य भी कई जैन मन्दिर है।

सिंहपुरी—बनारससे ६ मीलकी दूरीपर सारनाथ नामका ग्राम है जो कि बौद्ध पुरातत्त्वकी दृष्टिसे अतिप्रसिद्ध है। यहींपर किसी समय सिंहपुरी नामकी नगरी बसी हुई थी—जिसमें ११ वें तीर्थङ्कर श्रीश्रेयांसनाथने जन्म लिया था। यहाँपर जैन मन्दिर और जैन धर्मशाला है। दिगम्बर जैनोंका मन्दिर तो बौद्ध मन्दिरके ही पासमें है किन्तु श्वेताम्बर मन्दिर कुछ दूरीपर रेलवे स्टेशनके पास बना है।

चन्द्रपुरी—सारनाथसे ६ मीलपर चन्द्रवटी नामका गाँव है जो चन्द्रपुरीका भग्नावशेष कहा जा सकता है। यहाँपर आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु भगवानने जन्म लिया था। यहाँ गंगाके तटपर दोनों सम्प्रदायोंके मन्दिर अलग अलग बने हुए हैं।

प्रयाग—यहाँ त्रिवेणी संगमके पास ही एक पुराना किला है। किलेके भीतर जमीनके अन्दर एक अक्षयवट (बड़का पेड़) है। कहते हैं कि श्रीऋषभदेवने यहाँ तप किया था। किलेमें प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी हैं।

फफौसा—इलाहाबाद कानपुरके बीचमें ई० आई० रेलवेपर भरवारी नामका स्टेशन है। वहाँसे २०–२५ मीलपर यह एक छोटा सा गाँव है। उसके पासमें ही प्रभास नामसे एक पहाड़ है। चढ़नेके लिये ११६ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। कहा जाता है कि इस पहाड़पर छठे तीर्थङ्कर पद्मप्रभु भगवानने तप किया था और यहींपर उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। यहाँ एक मन्दिर है और मन्दिरके आगे चट्टानमें उकेरी हुई प्रतिमाएँ हैं।

कौशाम्बी—फफौसासे ४ मीलपर गढ़वाय नामका गाँव है। उसके पास हीमें कुशंबा नामका गाँव है, जिसे प्राचीन कौशाम्बी नगरी माना जाता है। इस नगरीमें भगवान पद्मप्रभुका जन्म हुआ था।

अयोध्या—जैन शास्त्रोंके अनुसार यह प्रसिद्ध नगरी अतिप्राचीनकालसे जैनोंका मुख्य स्थान रही है। जैनोंके ५ तीर्थङ्करोंका जन्म इसी नगरीमें हुआ था। आज भी यहाँ अनेक जैन मन्दिर और धर्मशालाएँ वर्तमान हैं।

खखूंद—गोरखपुरसे ओ० टी० रेलवेका नोनखार स्टेशन ३६ मील है। वहाँसे २ मील खखूंद गाँव है। इसका प्राचीन नाम

किष्किन्धा बतलाया जाता है। यह श्रीपुष्पदन्त तीर्थङ्करका जन्म स्थान है। यहाँके मन्दिरमें श्रीपुष्पदन्त भगवानकी मूर्ति विराजमान है।

सेटमेंट—फैजाबादसे गोंडा रोडपर २१ मील बलरामपुर है। बलरामपुरसे १० मील पर सेंटमेंट है। इसका प्राचीन नाम श्रावस्ती बतलाया जाता है जो कि तीसरे तीर्थङ्कर संभवनाथकी जन्म-भूमि है।

रत्नपुरी—यह स्थान फैजाबाद जिलेमें सोहावल स्टेशनसे १॥ मील है। यह श्रीधर्मनाथ स्वामीकी जन्मभूमि है। एक मन्दिर श्वेताम्बरोंका व दो दिगम्बरोंके हैं।

काम्पला—यह तीर्थक्षेत्र जिला फर्रुखाबादमें बी० बी० सी० आई० रेलवेके कायमगंज स्टेशनसे ८ मील है। यहाँ तेरहवें तीर्थङ्कर श्रीविमलनाथके ४ कल्याणक हुए हैं। प्रतिवर्ष चैत्र मासमें यहाँ मेला भी भरता है और रथोत्सव होता है।

अहिक्षेत्र—ई० आई० आर० की बरेली–अलीगढ़ लाइन पर आँवला स्टेशन है। वहाँसे ८ मील रामनगर गाँव है। उसीसे लगा हुआ यह क्षेत्र है। इस क्षेत्र पर तपस्या करते हुए भगवान पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीवने घोर उपसर्ग किया था और उन्हें केवल ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। प्रतिवर्ष चैत्र वदी ८से द्वादशी तक यहाँ मेला होता है।

हस्तिनागपुर—यह क्षेत्र मेरठसे २२ मील है। यहाँ श्रीशान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ तीर्थङ्करोंके गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान इस तरह चार कल्याणक हुए हैं। तथा १९वें मल्लिनाथ तीर्थङ्करका समवशरण भी आया था। यहाँ पर दिल्लीके लाला हरसुखदासजीका बनवाया हुआ एक विशाल दिगम्बर जैन

मन्दिर और धर्मशाला है। पासमें ही श्वेताम्बरोंका भी मन्दिर है। धर्मशालासे लगभग २-३ मील पर चारों तीर्थङ्करोंकी चार दि० जैन नशियाँ बनी हुई हैं जो प्राचीन हैं। प्रति वर्ष कार्तिक सुदी ८ से पूर्णमासी तक दिगम्बर जैनोंका बहुत बड़ा मेला भरता है।

चौरासी—मथुरा शहरसे करीब १॥ मील पर दिगम्बर जैनोंका यह प्रसिद्ध सिद्ध क्षेत्र है, परम्पराके अनुसार यह अन्तिम केवली श्रीजम्बु स्वामीका मोक्ष स्थान माना जाता है। यहाँपर एक विशाल जैन मन्दिर है जिसमें उनके चरण चिन्ह स्थापित हैं। प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्णा २ से अष्टमी तक रथोत्सव होता है। यहाँसे पासमें ही प्रसिद्ध कंकाली टीला है जहाँसे जैन पुरातत्वकी अति प्राचीन सामग्री प्राप्त हुई है। यहाँ पर ही भा० दि० जैन संघका संघभवन बना हुआ है जिसमें उसका प्रधान कार्यालय तथा एक विशाल सरस्वती भवन है। पासमें ही श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित है।

सौरीपुर—मैनपुरी जिलेके शिकोहाबाद नामक स्थानसे १३ मीलपर यमुना नदीके तटपर बटेश्वर नामका एक प्राचीन गाँव है। गाँवके बीचमें विशाल जैन मन्दिर है। नीचे धर्मशाला है। यहाँसे १ मील जंगलमें कई प्राचीन मन्दिर हैं और एक छतरी है जिसमें श्रीनेमिनाथके चरण चिन्ह स्थापित हैं। इस स्थानको श्रीनेमिनाथका जन्म स्थान माना जाता है।

बुन्देलखण्ड व मध्यप्रान्त

ग्वालियर—यह कोई तीर्थ क्षेत्र तो नहीं है किन्तु यहाँके किलेके आस पास चट्टानोंमें बहुत सी दिगम्बर जैन मूर्तियाँ बनी हुई हैं। एक मूर्ति श्रीनेमिनाथजीकी ३० फुट ऊँची है और दूसरी

आदिनाथकी मूर्ति उससे भी विशाल है। लश्कर और ग्वालियरमें लगभग २५ दिगम्बर जैन मन्दिर हैं जिनमेंसे अनेक मन्दिर बहुत विशाल हैं।

सोनागिरि—ग्वालियर-झाँसी लाइनपर सोनागिर नामका स्टेशन है, उससे लगभग २ मील पर यह सिद्ध क्षेत्र है। वहाँ एक छोटी सी पहाड़ी है। पहाड़ पर ७७ दिगम्बर जैन मन्दिर हैं, जिनकी वंदनामें १॥ मीलका चक्कर पड़ता है। यहाँसे बहुतसे मुनि मोक्ष गये हैं। तलहटीमें चार धर्मशालाएँ और १७ मन्दिर हैं। यहाँ एक विद्यालय भी स्थापित है।

अजयगढ़—यह अजयगढ़ स्टेटकी राजधानी है। इसके पास ही एक पहाड़ है, उस पर एक किला है। उसकी दीवारोंकी दो शिलाओंमें लगभग ५० दिगम्बर जैन मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। पासमें ही तालाब है। उसकी भी दीवारमें बहुत सी प्राचीन प्रतिमाएँ हैं, जिनमेंसे एककी ऊँचाई १५ फुट और दूसरीकी १० फुट है। एक मानस्तम्भ भी है उसमें भी अनेक मूर्तियाँ बनी हैं।

खजराहा—पन्ना स्टेटसे छतरपुरको जाते हुए २१वें मील पर एक तिराहा पड़ता है, वहाँसे खजराहा ७ मील है। यह छोटा सा गाँव है। दो धर्मशालाएँ हैं। यहाँ इस समय ३१ दि० जैन मन्दिर हैं। यहाँके मन्दिरोंकी स्थापत्यकला दर्शनीय है।

द्रोणगिरि—छतरपुरसे सागर रोडपर ४० मील सादनवाँ है वहाँसे दाहिनी ओर कच्ची रोडसे ६ मीलपर सेंधपा नामका गाँव है। गाँवके पास ही एक पर्वत है जिसे द्रोणगिरि कहते हैं। यहाँसे गुरुदत्त आदि मुनि मोक्षको गये हैं। पहाड़पर २४ मन्दिर हैं। प्रतिवर्ष चैत सुदी ८ से १४ तक मेला भरता है।

नैनागिरि—यह क्षेत्र जी० आई० पी० रेलवेके सागर स्टेशनसे

३० मीलपर है। गाँवमें एक धर्मशाला और ७ मन्दिर हैं। धर्मशालासे २ फर्लांगपर रेसन्दीगिरि पर्वत है, यहाँसे श्रीवरदत्त आदि मुनि मोक्ष गये हैं। पर्वतपर २५ मन्दिर हैं। एक मन्दिर तालाबके बीचमें है। प्रतिवर्ष कार्तिक सुदी ८ से १५ तक मेला भरता है।

कुण्डलपुर—जी० आई० पी० रेलवेकी कटनी-बीना लाईन-पर दमोह स्टेशन है। वहाँसे लगभग २५ मीलपर यह क्षेत्र है। इस क्षेत्रपर कुण्डलके आकारका एक पर्वत है इसीसे शायद इसका नाम कुण्डलपुर पड़ा है। पर्वतपर तथा उसकी तलैहटीमें सब मिलाकर ५६ मन्दिर हैं। पर्वतके मन्दिरोंके बीचमें एक बड़ा मन्दिर है, इसमें एक जैन मूर्ति विराजमान है जो पहाड़को काट-कर बनाई गई जान पड़ती है। यह मूर्ति पद्मासन है फिर भी इसकी ऊँचाई ६-१० फुटसे कम नहीं है। यह भगवान महावीरकी मूर्ति मानी जाती है। इस प्रान्तमें इस मूर्तिकी बड़ी मान्यता है। दूर दूरसे लोग इसकी पूजा करनेके लिये आते हैं। इसके माहात्म्यके सम्बन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। महाराजा छत्रसालके समयमें उन्हींकी प्रेरणासे इसका जीर्णोद्धार हुआ था, जिसका शिलालेख अंकित है।

सागरसे ४८ मीलपर बीनाजी क्षेत्र हैं यहाँ तीन जैन मन्दिर है जिनमें एक प्रतिमा शान्तिनाथ भगवानकी १४ फुट ऊँची तथा एक प्रतिमा महावीर भगवानकी १२ फुट ऊँची विराजमान है। और भी अनेक मनोहर मूर्तियाँ हैं। सागरसे ३८ मील मालथौन गाँव है। गाँवसे १ मीलपर एक जैन मन्दिर है। इसमें १० गजसे लेकर २४ गजतककी ऊँची खड्गासनकी अनेक प्रतिमाएँ हैं। ललितपुरसे १० मीलपर सैरोन गाँव है। वहाँसे आधा मीलपर ५-६ प्राचीन जैन मन्दिर हैं। चारों ओर कोट है।

यहाँ एक मूर्ति २० गज ऊँची शान्तिनाथ भगवानकी है, तथा चार पाँच फुट ऊँची सेकड़ों खण्डित मूर्तियाँ हैं।

देवगढ़—जी० आई० पी० रेल्वेके ललितपुर स्टेशनसे १६ मील एक पहाड़ीपर यह क्षेत्र स्थित है। यह सचमुच देवगढ़ है। यहाँ अनेक प्राचीन जिनालय हैं और अगणित खण्डित मूर्तियाँ हैं। कलाकी दृष्टिसे भी यहाँकी मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। कुशल कारीगरोंने पत्थरको मोम कर दिया है। करीब २०० शिला-लेख यहाँ उत्कीर्ण हैं। ८ मनोहर मानस्तंभ हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य भी अनुपम है। यहाँसे ६ मीलपर चाँदपुर स्थान है। वहाँ भी अनेक जैनमूर्तियाँ हैं जिनमें १४ गज ऊँची एक मूर्ति शान्ति-नाथ तीर्थङ्करकी है।

पपौरा—टीकमगढ़ रियासतमें टीकमगढ़से कुछ दूरीपर जंगलमें यह क्षेत्र स्थित है। इसके चारों ओर कोट बना है जिसके अन्दर लगभग ८० मन्दिर हैं। एक वीर विद्यालय भी है। कार्तिक सुदी १४ को प्रतिवर्ष मेला भरता है।

अहार—टीकमगढ़से ३ मीलपर अहार गाँव है। वहाँसे करीब ६ मीलपर एक उजड़ स्थानमें तीन दिगम्बर जैन-मन्दिर हैं। एक मन्दिरमें २१ फुटकी ऊँची शान्तिनाथ भगवानकी अति मनोज्ञमूर्ति विराजमान है जो खण्डित है किन्तु बादमें जोड़कर ठीक की गई है। यह प्रतिमा वि० सं० १२३७ में प्रतिष्ठित की गई थी। इन मन्दिरोंके सिवा यहाँ अन्य भी अनेक मन्दिर बने हुए थे, किन्तु बादशाही जमानेमें वे सब नष्ट कर दिये गये और अब अगणित खण्डित मूर्तियाँ वहाँ वर्तमान हैं। क्षेत्र कला-प्रेमियोंके लिये भी दर्शनीय है। अब यहाँ एक पाठशाला भी चालू है।

चन्देरी—यह ललितपुरसे बीस मील है। यहाँ एक जैन

मन्दिरमें चौबीस वेदियाँ बनी हुई हैं और उनमें जिस तीर्थङ्करके शरीरका जैसा रंग था उसी रंगकी चौबीसों तीर्थङ्करोंकी चौबीस मूर्तियाँ विराजमान हैं। ऐसी चौबीसी अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यहाँसे उत्तरमें ६ मीलपर बूढ़ी चन्देरी है। यहाँपर सैकड़ों जैन मन्दिर जीर्णशीर्ण दशामें हैं, जिनमें बड़ी ही सौम्य और चित्ताकर्षक मूर्तियाँ हैं।

पचराई—चन्देरीसे ३४ मील खनियाधाना स्थान है और वहाँसे ८ मीलपर पचराई गाँव है। यहाँपर २८ जिनमन्दिर हैं जिनमें लगभग एक हजार मूर्तियाँ हैं, इनमें आधेके लगभग साबित हैं शेष खण्डित हैं।

थूवनजी—चन्देरीसे ८ मील थूवनजी है। यहाँ २५ मन्दिर हैं। प्रायः सभी प्रतिमाएँ पत्थरोंमें उकेरी हुई हैं, खड़े योग हैं और २०-३० फुट तक की ऊँचाईकी हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि बुन्देलखण्डके उक्त सभी क्षेत्र दिगम्बर जैन ही हैं। वहाँ श्वेताम्बरोंका निवास न होनेसे उनका एक भी तीर्थक्षेत्र नहीं है।

अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ—जी० आई० पी० रेल्वेके अकोला (बरार) स्टेशनसे लगभग ४० मीलपर शिरपुर नामका गाँव है। गाँवके मध्य धर्मशालाओंके बीचमें एक बहुत बड़ा प्राचीन विशाल दुमंजला जैन मन्दिर है। नीचेकी मंजिलमें एक श्याम-वर्ण ३॥ फुट ऊँची पार्श्वनाथजीकी प्राचीन प्रतिमा है जो वेदीमें अधर विराजमान है। सिर्फ दक्षिण घुटना जमीनमें सटा हुआ है। इसीसे यह प्रतिमा अन्तरिक्ष पार्श्वनाथके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ दोनों सम्प्रदायोंके लिये पूजाका समय नियत है। सुबह ६ से ६ और १२ से ३ तक श्वेताम्बर पूजन करते हैं और ६ से १२ तथा ३ से ६ तक दिगम्बर लोग पूजन करते हैं।

कारंजा—अकोला जिलेमें मूर्तिजापुर स्टेशनसे (जी० आई० पी०) यवतमालको जानेवाली रेलवे लाईनपर यह एक कसबा है। यहाँपर तीन विशाल प्राचीन जैनमन्दिर हैं। एक मन्दिरमें चाँदी, सोने, हीरे, मूँगे और पन्नेकी प्रतिमाएँ हैं। यहाँ दो भट्टारकोंकी गद्दियाँ हैं एक बलात्कार गणकी दूसरी सेन गणको। सेनगणके भट्टारकके मन्दिरमें संस्कृत प्राकृतके प्राचीन जैनग्रन्थोंका बहुत बड़ा भंडार है। यहाँ महावीर ब्रह्मचर्याश्रम नामकी एक आदर्श शिक्षा सस्था भी है।

मुक्तागिरि—यह सिद्धक्षेत्र बराड़के एलचपुरसे १२ मीलपर पहाड़ी जंगलमें है। नीचे धर्मशाला है। पासमें ही एक छोटी पहाड़ी है, जिसपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। ऊपर कई गुफाएँ हैं जिनमें बहुत सी प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। गुफाओंके आसपास ५२ मन्दिर हैं। यहाँसे बहुतसे मुनियोंने मोक्ष प्राप्त किया था।

भातकुली—यह अतिशय क्षेत्र अमरावतीसे १० मीलपर है। यहाँ ३ दि० जैनमन्दिर हैं जिनमेंसे एकमें श्रीऋषभदेव स्वामीकी पद्मासनयुक्त तीन फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। इसकी यहाँ बहुत मान्यता है। प्रति वर्ष कार्तिक बदी पंचमीको मेला भरता है।

रामटेक—यह स्थान नागपुरसे २४ मीलपर है। यहाँ दि० जैनोंके आठ मन्दिर हैं, जिनमेंसे एक प्राचीन मन्दिरमें सोलहवें तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथ स्वामीकी १५ फीट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है।

राजपूताना व मालवा प्रान्त

श्रीमहावीरजी—बी० बी० सी० आई० रेलवेकी नागदा-मथुरा लाईनपर 'श्रीमहावीरजी' नामका स्टेशन है। यहाँसे

४ मील पर यह क्षेत्र है। यहाँ एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर है, उसमें महावीर स्वामीकी एक अति मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। यह प्रतिमा पासके ही एक टीलेके अन्दरसे निकली थी। इसे जैन और जैनेतर खास करके जयपुर रियासतके मीना और गूजर बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे पूजते हैं। यात्रियोंका सदा तांता लगा रहता है। प्रतिवर्ष बैसाख वदी एकमको महावीर भगवानकी सवारी रियासती लवाज़मेके साथ निकलती है। लाखों मीना एकत्र होते है। वे ही सवारीको नदी तक ले जाते हैं। उधर गूजर तैयार खड़े रहते हैं। मीना चले जाते हैं और गूजर सवारीको लौटाकर लाते हैं। फिर गूजरोंका मेला भरता है।

चाँद् खेड़ी—कोटा रियासतमें खानपुर नामका एक प्राचीन नगर है। खानपुरसे २ फर्लांगकी दूरी पर चाँद् खेड़ी नामकी पुरानी बस्ती है। यहाँ भूगर्भमें एक अतिविशाल जैन मन्दिर है। इसमें अनेक विशाल जैन प्रतिमाएँ है। सब प्रतिमाएँ ४७७ हैं। द्वारके उत्तर भागमें एक ही पाषाणका १० फुट ऊँचा कीर्तिस्तम्भ है, इसमें चारों ओर दिगम्बर-प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं, तीन तरफ लेख भी हैं।

मक्सीपार्श्वनाथ—ग्वालियर रियासतमें जी० आई० पी० रेलवेकी भूपाल-उज्जैन शाखामें इस नामका स्टेशन है। यहाँसे एक मीलपर एक प्राचीन जैन मन्दिर है। उसमें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी ढाई फुट ऊँची पद्मासन मूर्ति विराजमान है जो बड़ी ही मनोज्ञ है। इसको दोनों सम्प्रदायवाले पूजते हैं। परन्तु समय नियत है। सुबह ६ से ९ तक दिगम्बर सम्प्रदायवाले पूजते हैं फिर शेष समय श्वेताम्बरोंके लिये नियत है।

बिजौलिया पार्श्वनाथ—नीमचसे ६८ मीलपर बिजौलिया रियासत है। बिजौलिया गाँवके समीपमें ही श्रीपार्श्वनाथ स्वामी

का अतिप्राचीन और रमणीय अतिशय क्षेत्र है। एक मन्दिरमें एक ताकके महरावके ऊपर २३ प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। चारों तरफ दीवारोंपर भी मुनियोंकी बहुत सी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। एक विशाल सभामण्डप, चार गुमटियाँ और दो मानस्तंभ भी हैं। मानस्तम्भोंपर प्रतिमाएँ और शिलालेख हैं।

श्रीऋषभदेव (केशरियाजी)—उदयपुरसे करीब ४० मीलपर यह क्षेत्र है। यहाँ श्रीऋषभदेवजीका एक बहुत विशाल मन्दिर बना हुआ है। उसके चारों ओर कोट है। भीतर मध्य में संगमरमरका एक बड़ा मन्दिर है जिसके ४८ ऊँचे ऊँचे शिखर हैं। इसके भीतर जानेसे श्रीऋषभदेवजीका बड़ा मन्दिर मिलता है। जिसमें श्रीऋषभदेवकी ६–७ फुट ऊँची पद्मासनयुक्त श्यामवर्णकी दिगम्बर जैनमूर्ति है। यहाँ केशर चढ़ानेका इतना रिवाज है कि सारी मूर्ति केशरसे ढक जाती है। इसीलिये इसे केशरियाजी भी कहते हैं। श्वेताम्बरोंकी ओरसे मूर्तिपर आंगी, मुकुट और सिंदूर भी चढ़ता है। इसकी बड़ी मान्यता है। दोनों सम्प्रदायवाले इसकी पूजा करते हैं। एक बार तो पूजाके ऊपरसे खूब मार पीट हो गई थी, जिसमें कई दिगम्बरी जानसे मार डाले गये थे।

आबू पहाड़—बी० बी० सी० आई० रेलवेके आबू रोड स्टेशनसे आबू पहाड़के लिये मोटरें जाती हैं। पहाड़पर सड़कके दाईं ओर एक दिगम्बर जैन मन्दिर है, तथा बाईं ओर दैलवाड़ाके प्रसिद्ध श्वेताम्बर मन्दिर बने हुए हैं। जिनमेंसे एक मन्दिर विमलशाहने वि० सं० १०८८ में १८ करोड़ ५३ लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। दूसरा मन्दिर वस्तुपाल तेजपालने बारह करोड़ ५३ लाख रुपये खर्च करके बनवाया था। संगमरमरपर छीनीके द्वारा जो नक्काशी की गई है वह देखनेकी

हो चीज है। दोनों विशाल मन्दिरोंके बीचमें एक छोटा सा दि० जैन मन्दिर भी है।

अचलगढ़—देलवाड़ासे पाँच मील अचलगढ़ है। यहाँ तीन श्वेताम्बर मन्दिर हैं। उनमेंसे एक मन्दिरमें १४४४ मन सोनेकी १४ प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

सिद्धवर कूट—इन्दौरसे खण्डवा लाईनपर मोरटक्का नामका स्टेशन है। वहाँसे ओंकारजी जाते हैं जो नर्मदाके तटपर है। यहाँसे नावमें सवार होकर सिद्धवर कूटको जाते हैं। यह क्षेत्र रेवानदीके तटपर है। यहाँसे दो चक्रवर्ती व दस कामदेव तथा साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्त हुए हैं।

ऊन—खण्डवासे ऊन मोटरके द्वारा जाया जाता है। ३-४ घंटेका रास्ता है। यहाँ एक प्राचीन मन्दिर है जो सं० १२१८ का बना हुआ है। दो और भी प्राचीन मन्दिर है जो जीर्ण हो गये हैं। यह क्षेत्र कुछ ही वर्ष पहले प्रकाशमें आया है। इसे पावागिरि सिद्ध क्षेत्र कहा जाता है।

बड़वानी—बड़वानीसे ५ मील पहाड़पर जानेसे बड़वानी क्षेत्र मिलता है। बड़वानीसे निकट होनेके कारण इस क्षेत्रको बड़वानी कहते हैं वैसे इसका नाम चूलगिरि है। इस चूलगिरिसे इन्द्रजीत और कुम्भकर्णने मुक्ति प्राप्त की थी। क्षेत्रकी वन्दनाको जाते हुए सबसे पहले एक विशालकाय मूर्तिके दर्शन होते हैं। यह खड़ी हुई मूर्ति भगवान ऋषभदेवकी है, इसकी ऊँचाई ८४ फीट है। इसे बावन गजाजी भी कहते हैं। सं० १२२३ में इसके जीर्णोद्धार होनेका उल्लेख मिलता है। पहाड़ पर २२ मन्दिर हैं। प्रतिवर्ष पौष सुदी ८ से १५ तक मेला होता है।

बम्बई प्रान्त

तारंगा—यह प्राचीन सिद्ध क्षेत्र गुजरात प्रान्तके महीकाँटा

जिले में बी० बी० सी० आई० रेल्वेके तारंगा हिल नामके स्टेशनसे तीन मील पहाड़के ऊपर है। यहाँसे वरदत्त आदि साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्त हुए हैं। यहाँपर दोनों सम्प्रदायोंके अनेक मन्दिर और गुमटियाँ हैं।

गिरनार—गुजरात प्रान्तकी जूनागढ़ स्टेटमें यह सिद्धक्षेत्र वर्तमान है। जूनागढ़ स्टेशनसे ४-५ मीलकी दूरीपर गिरिनार पर्वतकी तलैहटी है, वहाँ दोनों सम्प्रदायोंकी धर्मशालाएँ हैं। पहाड़पर चढ़नेके लिये धर्मशालाके पाससे ही पक्की सीढ़ियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और अन्ततक चली जाती हैं। २२ वें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथने इसी पहाड़के सहस्राम्र वनमें दीक्षा धारण करके तप किया था। यहीं उन्हें केवलज्ञान हुआ था और यहीं से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजुलने भी यहीं दीक्षा ली थी। पहले पहाड़पर पहुँचनेपर एक गुफामें राजुलकी मूर्ति बनी हुई है। तथा दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके अनेक मन्दिर बने हुए हैं। दूसरे पहाड़पर चरण चिन्ह है यहाँसे अनिरुद्ध कुमारने निर्वाण प्राप्त किया था। तीसरेसे शम्भु कुमारने निर्वाण लाभ किया था। चौथे पहाड़पर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ नहीं हैं इसलिये उसपर चढ़ना बहुत कठिन है। यहाँसे श्रीकृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्न कुमारने मोक्ष प्राप्त किया है और पाँचवें पहाड़से भगवान् नेमिनाथ मुक्त हुए हैं। सब जगह चरण चिन्ह हैं तथा कहीं कहीं पहाड़में उकेरी हुई जिन मूर्तियाँ भी हैं। जैन सम्प्रदायमें शिखरजीकी तरह इस क्षेत्रकी भी बड़ी प्रतिष्ठा है।

शत्रुंजय—बी० बी० सी० आई० रेलवेके पालीताना स्टेशनसे १॥–२ मील तलहटी है। वहाँसे पहाड़की चढ़ाई आरम्भ हो जाती है। रास्ता साफ है। पहाड़के ऊपर श्वेताम्बरोंके करीब साढ़े

तीन हजार मन्दिर हैं जिनकी लागत करोड़ों रुपया है। श्वेताम्बर भाई सब तीर्थोंसे इस तीर्थको बड़ा मानते हैं। दिगम्बरोंका तो केवल एक मन्दिर है। पालीताना शहरमें भी श्वेताम्बरोंकी २०-२५ धर्मशालाएँ और अनेक मन्दिर हैं। यहाँ एक आगम-मन्दिर अभी ही बनकर तैयार हुआ है उसमें पत्थरोंपर श्वेताम्बरोंके सब आगम खोदे गये हैं। यहाँसे तीन पाण्डुपुत्रों और बहुतसे मुनियोंने मोक्ष लाभ किया था।

पावागढ़—बड़ौदासे २८ मीलकी दूरीपर चांपानेरके पास पावागढ़ सिद्ध क्षेत्र है। यह पावागढ़ एक बहुत विशाल पहाड़ी किला है। पहाड़ पर चढ़नेका मार्ग एक दम कंकरीला है। पहाड़के ऊपर आठ दस मन्दिरोंके खण्डहर हैं, जिनका जीर्णोद्धार कराया गया है। यहाँसे श्रीरामचन्द्रके पुत्र लव और कुशको तथा अन्य बहुतसे मुनियोंको निर्वाण लाभ हुआ था।

मांगीतुंगी—यह क्षेत्र गजपन्था (नासिक) से लगभग अस्सी मील पर है। वहाँ पास ही पास दो पर्वतशिखर हैं जिनमेंसे एकका नाम मांगी और दूसरेका नाम तुंगी है। मांगी शिखरकी गुफाओंमें लगभग साढ़े तीन सौ प्रतिमाएँ और चरण हैं और तुंगीमें लगभग तीस। यहाँ अनेक प्रतिमाएँ साधुओंकी हैं जिनके साथ पीछी और कमंडलु भी है और पासमें ही उन साधुओंके नाम भी लिखे हैं। दोनों पर्वतोंके बीचमें एक स्थान है वहाँ बलभद्रने श्रीकृष्णका दाह संस्कार किया था। यहाँसे श्रीरामचन्द्र, हनुमान, सुग्रीव वगैरह ने निर्वाण लाभ किया था।

गजपन्था—नासिकके निकट मसरूल गाँवकी एक छोटी सी पहाड़ीपर यह सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से बलभद्र और यदुवंशी राजाओंने मोक्ष प्राप्त किया था।

एलौरा—मनमाड़ जंकशनसे ६० मील एलौरा ग्राम है। यह ग्राम गुफा मन्दिरोंके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध है। इससे सटा हुआ एक पहाड़ है। ऊपर दो गुफाएँ हैं, नीचे उतरनेपर सात गुफाएँ और हैं जिनमें हजारों जैन प्रतिमाएँ हैं।

कुंथलगिरि—यह क्षेत्र निजाम स्टेटमें है और बार्सी टाऊन रेलवे स्टेशनसे लगभग २१ मील दूर एक छोटी सी पहाड़ी पर स्थित है। यहाँ से श्रीदेशभूषण कुलभूषण मुनि मुक्त हुए हैं। पर्वतपर मुनियोंके चरणमन्दिर सहित १० मन्दिर हैं। माघमासमें पूर्णिमाको प्रतिवर्ष मेला भरता है। यहाँ गुरुकुल भी है।

करकण्डुकी गुफाएँ—शोलापुरसे मोटरके द्वारा कुन्थलगिरि जाते हुए मार्गमें उस्मानाबाद नामका नगर आता है, जिसका पुराना नाम धाराशिव है। धाराशिवसे कुछ मीलकी दूरीपर 'तेर' नामका स्थान है। तेरके पास पहाड़ी है। उसको बाजूमें गुफाएँ हैं। प्रधान गुफा बड़ी विशाल है। इसमें पाँच फुटकी पार्श्वनाथ भगवानकी काले पाषाणकी पद्मासन मूर्ति विराजमान है। इसके दूसरे कमरेमें एक सप्तफणी नाग सहित पार्श्वनाथकी प्रतिमा है। दो पत्थर और भी हैं जिनपर जिन प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। प्रधान गुफा सहित यहाँ चार गुफाएँ हैं। इन सब गुफाओंमें जो प्रतिमाएँ हैं वे अधिकतः पार्श्वनाथ भगवानकी ही हैं, महावीर भगवानकी तो एक भी प्रतिमा नहीं है। इससे इस स्थानके पार्श्वनाथ भगवानके समयमें निर्माण किये जाने की बातकी पुष्टि होती है। करकण्डु चरितके अनुसार राजा करकण्डुने जो गुफाएँ बनवाई थीं, वे ये ही गुफाएँ बतलाई जाती हैं।

बीजापुर—मद्रास सदर्न मरहठा रेलवेपर बीजापुर नामका पुराना नगर है। स्टेशनके करीब ही संग्रहालय है। इसमें अनेक

जैन मूर्तियाँ रखी हुई हैं। एक मूर्ति करीब तीन हाथ ऊँची पद्मासन भगवान पार्श्वनाथकी है उस पर सं० १२३२ खुदा है। बीजापुरसे करीब दो मील पर एक मन्दिर है, इसमें श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी सहस्रफणा सहित एक मूर्ति विराजमान है जो दर्शनीय है। बीजापुरसे १७ मीलपर बाबानगर है। वहाँपर एक प्राचीन मन्दिर है, उसमें भगवान पार्श्वनाथकी हरे पाषाणकी १।। हाथ ऊँची पद्मासन मूर्ति विराजमान है। इसका बहुत अतिशय है तथा अनेक दन्तकथाएँ सुनी जाती हैं।

बादामीके गुफा मन्दिर—बीजापुर जिलेमें बादामी एक छोटा सा कसबा है। इसके पासमें दो प्राचीन पहाड़ी किले हैं। दक्षिण-पहाड़ोकी बगलमें छठी सदीके बने हुए हिन्दुओंके तीन और जैनियोंका एक गुफामन्दिर है। जैन गुफा मन्दिरमें अनेक मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। यह गुफा मन्दिर बादामीके प्रसिद्ध चालुक्यवंशके राजा पुलकेशीने बनवाया था।

बेलगांव—सदर्न मरहठा रेलवेपर यह शहर बसा है। शहरसे पूर्वकी ओर एक प्राचीन किला है। कहते हैं कि पहले यहाँ १०८ जैन मन्दिर थे। उनको तुड़वाकर बीजापुरके बादशाहके सरदार-ने यह किला बनवाया था। अब केवल तीन मन्दिर शेष हैं। जिनकी कारीगरी दर्शनीय है। बेलगाँव जिलेमें ही स्तवनिधि नामका क्षेत्र है। यहाँ ५–६ जैन मन्दिर हैं जिनमें सैकड़ों जिन-मूर्तियाँ विराजमान हैं।

मद्रास प्रान्त

हुम्मच पद्मावती—मैसूर स्टेटमें शिमोगा शहर है। वहाँसे तीर्थल्ली होकर हुम्मच पद्मावती क्षेत्रको जाते हैं। यहाँ कई

मन्दिर हैं जिनमें एक मन्दिर बड़ा विशाल बेशकीमत है। यहाँ पर बड़ी बड़ी विशाल गुफाएँ और प्रतिमाएँ हैं।

वरांग—दक्षिण कनाड़ा जिलेमें यह एक छोटा-सा गाँव है। थोड़ी ही दूरपर प्राकारके अन्दर एक बहुत विशाल मन्दिर है। मन्दिरमें पाँच वेदियाँ हैं, जिनमें बहुत-सी प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। एक मन्दिर पास ही तालाबमें है। यद्यपि मन्दिर छोटा है परन्तु बहुत सुन्दर है।

कारकल—वरांगसे १४ मीलपर यह एक अच्छा स्थान है। यह दिगम्बर जैनोंका बहुत प्राचीन तीर्थस्थान है। यहाँ १८ जैन मन्दिर हैं। एक पर्वतपर श्रीबाहुबलि स्वामीकी ३२ फोट ऊँची खड़े आसनवाली मूर्ति विराजमान है। इसके सामने एक दूसरा पर्वत है, उसपर एक मन्दिर है। उसमें चारों ओर खड़े आसनकी तीन तीन विशाल प्रतिमाएँ स्थित हैं। यह मन्दिर कारीगरीकी दृष्टिसे भी दर्शनीय है।

मूडबिद्री—कारकलसे दस मीलपर यह एक अच्छा कसबा है। यहाँ १८ मन्दिर हैं जिनमें एक मन्दिर बहुत विशाल है। उसका नाम त्रिभुवन तिलक चूड़ामणि है। यह एक कोटसे घिरा है। तीन मंजिलका है। नीचे ८ वेदियाँ हैं, इसके ऊपर ४ वेदियाँ हैं और उसके भी ऊपर तीन वेदियाँ हैं। एक मन्दिर सिद्धान्तबसति कहलाता है। यह दुमंजिला है। इस मन्दिरमें दिगम्बर जैनोंके प्रख्यात ग्रन्थ श्रीधवल, जयधवल और महाबंध कनड़ी लिपिमें ताड़पत्रोंपर लिखे हुए सुरक्षित हैं। इसमें ३७ मूर्तियाँ पन्ना, पुखराज, गोमेद, मूँगा, नीलम आदि रत्नोंकी हैं। यहाँ श्रीभट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्य महाराजकी गद्दी है। प्राचीन जैन ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह है।

वेणूर—नदीके किनारे यह एक छोटा सा गाँव है। गाँवके पश्चिममें एक कोट है उसके अन्दर श्रीगोमट स्वामीकी ३१ फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। गाँवमें अनेक जैन मन्दिर हैं।

बेलुर-हलेबिड—बेलूर और हलेबोड़, मैसूर राज्यके हासन शहरके उत्तरमें एक दूसरेसे दस बारह मीलके अन्तरपर स्थित है। यहाँका मूर्तिनिर्माण दुनियामें अपूर्व माना जाता है। एक समयमें यह दोनों स्थान राजधानीके रूपमें मशहूर थे आज कलाधानीके रूपमें ख्यात हैं। दोनों स्थानोंके आस-पास जैन मन्दिर हैं। सभी मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदायके हैं और उच्चकोटिकी कारीगरीको व्यक्त करते हैं।

श्रवण बेलगोला—हासन जिलेके अन्तर्गत जिन तीन स्थानोंने मैसूर राज्यको विश्वविख्यात बना दिया है वे हैं बेलूर, हलेबीड और श्रवण बेलगोळा। हासनसे पश्चिममें श्रवण बेलगोला है जो हासनसे मोटरके द्वारा ४ घंटेका मार्ग है। श्रवण बेल-गोळामें चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि नामकी दो पहाड़ियाँ पास पास हैं। इन दोनों पहाड़ियोंके बीचमें एक चोकोर तालाब है। इसका नाम बेलगोल अथवा सफेद तालाब था। यहाँ श्रमणोंके आकर रहनेके कारण इस गाँवका नाम श्रमण बेलगोल पड़ा। यह दिगम्बर जैनोंका एक महान् तीर्थस्थान है। मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त अपने गुरु भद्रबाहुके साथ अपने जीवनके अन्तिम दिन बितानेके लिये यहाँ आया था। गुरुने वृद्धावस्थाके कारण चन्द्र-गिरिपर सल्लेखना धारण करके शरीर त्याग दिया। चन्द्रगुप्तने गुरुकी पादुकाकी बारह वर्ष तक पूजा की और अन्तमें समाधि धारण करके इह जीवन लीला समाप्त की।

विन्ध्यगिरि नामकी पहाड़ीपर गोमटेश्वरकी विशालकाय

मूर्ति विराजमान है। विन्ध्यगिरिकी ऊँचाई चार सौ सत्तर फ़ीट है और ऊपर जानेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। काका कालेलकरके शब्दोंमें मूर्तिका सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमान है। एक ही पत्थरसे निर्मित इतनी सुन्दर मूर्ति संसारमें और कहीं नहीं। इतनी बड़ी मूर्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्तिके साथ कुछ प्रेमकी भी यह अधिकारिणी बनती है। धूप, हवा और पानीके प्रभावसे पीछेकी ओर ऊपरकी पपड़ी खिर पड़नेपर भी इस मूर्तिका लावण्य खण्डित नहीं हुआ है। इसकी स्थापना आजसे एक हजार वर्ष पहले गंगवंशके सेनापति और मंत्री चामुण्डरायने कराई थी। इस पर्वतपर छोटे बड़े सब १० मन्दिर हैं।

चन्द्रगिरिपर चढ़नेके लिये भी सीढ़ियाँ बनी हैं। पर्वतके ऊपर मध्यमें एक कोट बना है उसके अन्दर बड़े बड़े प्राचीन १४ मन्दिर हैं। मन्दिरोंमें बड़ी बड़ी विशाल प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। एक गुफामें श्रीभद्रबाहु स्वामीके चरण चिन्ह बने हुए हैं जो लगभग एक फुट लम्बे हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे यह पहाड़ी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस पर बहुतसे प्राचीन शिलालेख अंकित हैं, जो मुद्रित हो चुके हैं।

नीचे ग्राममें भी सात मन्दिर और १३ चैत्यालय हैं। एक मन्दिरमें चित्रकलासे शोभित कसौटी पाषणके स्तंभ हैं। यहाँ भी श्रीभट्टारक चारुकीर्ति जी महाराजकी गद्दी है। उनके मन्दिरमें भी कुछ रत्नोंकी प्रतिमाएँ हैं। बड़ा अच्छा शास्त्र भंडार है। एक दिगम्बर जैन पाठशाला भी है।

इस प्रान्तमें अन्य भी अनेक स्थान हैं जहाँ जैन मन्दिर और मूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

उड़ीसा प्रान्त

खण्डगिरि—उड़ीसा प्रान्तकी राजधानी कटक है। कटकके आस-पास हजारों जैन प्रतिमाएँ हैं। किन्तु उड़ीसेमें जैनियोंकी संख्या कम होनेसे उनकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं है। कटकसे ही सुप्रसिद्ध खण्डगिरि उदयगिरिको जाते हैं। भुवनेश्वरसे पाँच मील पश्चिम पुरी जिलेमें खण्डगिरि उदयगिरि नामकी दो पहाड़ियाँ हैं। दोनोंपर पत्थर काटकर अनेक गुफाएँ और मन्दिर बनाये गये हैं, जो ईसासे लगभग ५० वर्ष पहलेसे लेकर ५०० वर्ष बाद तकके बने हुए हैं। उदयगिरिकी हाथी गुफामें कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेलका प्रसिद्ध शिलालेख अंकित है।

६—जैनधर्म और इतर धर्म

जैनधर्मकी आवश्यक बातोंका परिचय करा चुकनेके बाद 'उसका इतर धर्मोंके साथ क्या कुछ सम्बन्ध है' आदि बातोंपर भी एक सरसरी निगाह डालनेका प्रयत्न करना अनुचित न होगा; क्योंकि उससे उक्त बातोंपर अधिक प्रकाश पड़नेके साथ ही साथ जैनधर्मकी स्थितिको समझनेमें तथा अनेक भ्रामक धारणाओंके दूर होनेमें अधिक सहायता मिल सकेगी।

भारतके धर्मोंमें हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म ये दो ही धर्म ऐसे हैं, जिनके साथ जैनधर्मका गहरा जोड़-तोड़ रहा है। भारतीय होनेके नाते तीनों ही साथ साथ रहे हैं, प्रत्येकने शेष दोनोंके उतार या चढ़ावके दिन देखे हैं, और परस्परमें प्रहार किये और झेले हैं, फिर भी एककी दूसरेके ऊपर छाप पड़े बिना नहीं रही है।

जैनधर्म और हिन्दू धर्म

यहाँ हिन्दूधर्मसे मतलब वैदिक धर्मसे है, जिसे सनातनधर्म

भी कहा जाता है; क्योंकि अब यह शब्द इसी अर्थमें रूढ़ कर दिया गया है। कहनेके लिये 'हिन्दू' शब्दकी ऐसी व्याख्याएँ भी की जाती हैं जिनसे जैनधर्म भी हिन्दूधर्म कहा जा सकता है, किन्तु एक तो रूढ़के सामने यौगिक शब्दार्थको कौन मानता और जानता है? दूसरे, उन व्याख्याओंके पीछे प्राय: यह भाव पाया जाता है कि जैनधर्म हिन्दूधर्मके नामसे कहे जानेवाले वैदिकधर्मकी विद्रोही कन्या है। किन्तु जिन निष्पक्ष विद्वानोंने जैनधर्मका गहरा आलोडन किया है वे उसे भारतका एक स्वतंत्र धर्म मानते हैं। दोनों धर्मोंके तत्त्वोंपर दृष्टि डालनेसे भी यही निष्कर्ष निकलता है। तथा इस बातका निर्णय दोनों धर्मोंके शास्त्रोंकी आन्तरिक साक्षीके आधारपर ही किया जा सकता है; क्योंकि अन्य कोई बाह्य प्रमाण ऐसा नहीं मिलता जो इस समस्यापर प्रकाश डाल सके।

सबसे प्रथम हम वैदिक साहित्यके क्रमिक विकासका परिचय उन भारतीय दार्शनिकोंके साहित्यके आधारपर कराते हैं जो उपनिषदोंको ही सब दर्शनोंका मूल आधार बतलाते हैं।

इतिहासज्ञोंने भारतीय दर्शनका काल विभाग इस प्रकार किया है—(१) वैदिक काल—१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक (२) पौराणिक गाथा काल—६०० ई० पू० से २०० ई० तक और (३) सूत्रकाल—२०० ई० से आगे।

हिन्दू धर्मकी सबसे प्राचीन पोथी वेद हैं। वेद चार हैं ऋक्, यजु, साम और अथर्व। पौराणिकोंका कहना है कि इन चारों वेदोंका संकलन वेदव्यासने यज्ञकी आवश्यकताओंको दृष्टिमें रखकर किया था। यज्ञानुष्ठानके लिये चार ऋत्विजोंकी आवश्यकता होती है-होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता मंत्रोंका उच्चारण करके देवताओंका आह्वान करता है। इस मंत्र समुदाय-

का संकलन ऋक्वेदमें है। उद्गाता ऋचाओंको मधुर स्वरसे गाता है इसके लिये सामवेदका संकलन किया गया है। यज्ञके विविध अनुष्ठानोंका सम्पादन करना अध्वर्युका कर्तव्य है। इसके लिये यजुर्वेद है। ब्रह्मा सम्पूर्ण यागका निरीक्षक होता है, जिससे अनुष्ठानमें कोई त्रुटि न रहे, उसमें विघ्न न आवे। इसके लिये अथर्ववेद है। इस प्रकार यज्ञानुष्ठानको अच्छी तरहसे करनेके लिये भिन्न भिन्न वेदोंका संकलन भिन्न भिन्न ऋत्विजोंके लिये किया गया है।

वेदके तीन विभाग हैं–मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मंत्रोंके समुदायको संहिता कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें यज्ञ यागादिके अनुष्ठानका विस्तृत वर्णन है, इन्हें वेदमन्त्रोंका व्याख्या ग्रन्थ कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थोंका अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं, इनमें दार्शनिक तत्त्वोंका विवेचन है। उपनिषद्को ही वेदान्त कहते हैं।

विषय विभागकी दृष्टिसे वेदके दो विभाग हैं कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकोंका अन्तर्भाव कर्मकाण्डमें होता है और उपनिषद्का ज्ञानकाण्डमें; क्योंकि पहलेमें मुख्यतया क्रियाकाण्डकी चर्चा है और दूसरेमें मुख्यतया ज्ञानकी।

वेदोंका प्रधान विषय देवतास्तुति है, और वे देवता हैं अग्नि, इन्द्र, सूर्य वगैरह। आगे चलकर देवताओंकी संख्यामें वृद्धिह्रास भी होता रहा है। विचारकोंके अनुसार वैदिक आर्योंका यह विश्वास था कि इन्हीं देवताओंके अनुग्रहसे जगत्का सब काम चलता है। इसीसे वे उनकी स्तुति किया करते थे। जब ये आर्य लोग भारतवर्षमें आये तो अपने साथ उन देवी स्तुतियोंको भी लाये। और जब वे इस नये देशमें अन्य

देवताओंके पूजकोंके परिचयमें आये तो उन्हें अपने गीतोंको संग्रह करनेका उत्साह हुआ। वह संग्रह ही ऋग्वेद[1] है।

कहा जाता है कि जब वैदिक आर्य भारतवर्षमें आये तो उनकी मुठभेड़ असभ्य और जंगली जातियोंसे हुई। जब ऋग्वेदमें गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दस्युओंके विरोधका वर्णन मिलता है तो अथर्ववेदमें आदान-प्रदानके द्वारा दोनोंके मिलकर रहनेका उल्लेख मिलता है। इस समझौतेका यह फल होता है कि अथर्ववेद जादू टोनेका ग्रन्थ बन जाता है। जब हम ऋग्वेद और अथर्ववेदसे यजुर्वेद, सामवेद और ब्राह्मणोंकी ओर आते हैं तो हम एक विलक्षण परिवर्तन पाते हैं। यज्ञ यागादिकका जोर है, ब्राह्मण ग्रन्थ वेदोंके आवश्यक भाग बन गये हैं क्योंकि उनमें यागादिककी विधिका वर्णन है, पुरोहितोंका राज्य है और ऋग्वेदसे ऋचाएँ लेकर उनका उपयोग यज्ञानुष्ठानमें किया जाता है।

[2]जब हम ब्राह्मण साहित्यकी ओर आते हैं तो हम उस समयमें जा पहुँचते हैं जब वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान होनेकी मान्यताको सत्यरूपमें स्वीकार किया जा चुका था। इसका कारण यह था कि वेदका उत्तराधिकार स्मृतिके आधारपर एकसे दूसरेको मिलता आता था और आदर भाव बनाये रखनेके लिये कुछ पवित्रताका उससे सम्बद्ध होना जरूरी था। अस्तु, ब्राह्मण साहित्यकी दृष्टिमें वैदिक ऋचाओंका धर्म केवल यज्ञ था। और मनुष्यका देवताओंके साथ केवल यांत्रिक सम्बन्ध था और वह था-'इस हाथ दे उस हाथ ले।'

---

(१) इंडियन फिलोसोफी (सर एस० राधाकृष्णन्) पृ० ६४, १ भा० ।
(२) इंडियन फिलोसोफी (सर एस० राधाकृष्णन्) पृ० १२६ ।

जब हम आरण्यकोंकी ओर आते हैं, जिनके बारेमें कहा जाता है कि वे वनवासियोंके लिये बनाये गये थे तो उनमें हमें यज्ञादि कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति अश्रद्धाका भाव दीख पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोरे कर्मसे लोगोंकी अभिरुचि हटने लगी थी और चूँकि यागादिकसे मिलनेवाला स्वर्ग स्थायी नहीं था अतः उसे आत्यन्तिक सुखका सम्पादक नहीं माना जा सकता था।

जब हम उपनिषदोंकी ओर आते हैं तो हमें लगता है कि [1]उपनिषदोंकी स्थिति वेदोंके अनुकूल नहीं है। युक्तिका अनुसरण करनेवाले उत्तरकालीन विचारकोंको तरह वे वेदकी मान्यताके प्रति दुमुखी ढंग स्वीकार करते हैं। एक ओर वे वेदकी मौलिकताको स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर वे कहते हैं कि वैदिक ज्ञान उस सत्य दैवी परिज्ञानसे बहुत ही न्यून है, और हमें मुक्ति नहीं दिला सकता। नारद कहता है-'मैं ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको जानता हूँ किन्तु इससे मैं केवल मंत्रों और शास्त्रोंको जानता हूँ-अपनेको नहीं जानता।' माण्डूक्य उपनिषद्में लिखा है-'दो प्रकारकी विद्याएँ अवश्य जाननी चाहियें-एक ऊँची-दूसरी नीची। नीची विद्या वह है जो वेदोंसे प्राप्त होती है किन्तु उच्च विद्या वह है जिससे अविनाशी ब्रह्म प्राप्त होता है।'

वैदिक साहित्यके इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य जब भारतवर्षमें आये तो उनका संघर्ष यहाँके आदिवासियोंसे हुआ। यद्यपि 'कठ उपनिषद्' (१-१-२०) से उपनिषत्कालमें वैदिक धर्मसे विरोध रखनेवाले दार्शनिकोंका सद्भाव पाया जाता है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि उपनिषत्-

---

(१) इंडियन फिलोसफी (सर एस० राधाकृष्णन्) भा० १, पृ० १४९।

कालसे पहले वैदिकधर्मका विरोध करनेवाले नहीं थे। किसी देशमें बाहरसे आकर बसनेवालों और फिर धीरे-धीरे उस देश-पर अधिकार जमानेवालोंकी प्रायः यह प्रवृत्ति होती है कि वे उस देशके आदिवासियोंको जंगली और अज्ञानी ही दिखानेका प्रयत्न करते हैं। ऐसा ही प्रारम्भमें अँग्रेजोंने किया और सम्भवतः ऐसा ही वैदिक आर्यों और उनके उत्तराधिकारियोंने किया है। वे अब भी इसी मान्यताको लेकर चलते हैं कि जैनधर्मका उद्गम बौद्धधर्मके साथ साथ या उससे कुछ पहले उपनिषत्कालके बहुत बादमें उपनिषदोंकी शिक्षाके आधारपर हुआ। जब कि निश्चित रीतिसे प्रायः सभी इतिहासज्ञोंने यह स्वीकार कर लिया है कि जैनोंके २३वें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ जो कि ८०० ई० पू० में उत्पन्न हुए थे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। किन्तु वे भी जैन-धर्मके संस्थापक नहीं थे।

सर राधाकृष्णन् अपने भारतीय[२] दर्शनमें लिखते हैं–"जैन परम्पराके अनुसार जैनधर्मके संस्थापक श्रीऋषभदेव थे जो कि शताब्दियों पहले हो गये हैं। इस बातका प्रमाण है कि ई० पू० प्रथम शताब्दीमें प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवकी पूजा होती थी। इसमें सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान या पार्श्वनाथसे भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेदमें ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरोंके नामोंका निर्देश है। भागवत-पुराण इस बातकी पुष्टि करता है कि ऋषभदेव जैनधर्मके संस्थापक थे।"

ऐसी स्थितिमें उपनिषदोंकी शिक्षाको जैन धर्मका आधार बतलाना कैसे उचित कहा जा सकता है? क्योंकि जिसे उप-

---

(२) इंडियन फिलोसफी (सर एस० राधाकृष्णन्) भा० १, पृ० २८७।

निषद्काल कहा जाता है उस कालमें तो वाराणसी नगरीमें भगवान पार्श्वनाथका ही जन्म हुआ था। एक दिन कुमार अवस्थामें पार्श्वनाथ गंगाके किनारे घूमनेके लिये गये थे। वहाँ कुछ तापस पञ्चाग्नि तप तप रहे थे। पार्श्वनाथने आत्मज्ञान हीन इस कोरे तपका विरोध किया और बतलाया कि जो लकड़ियाँ जल रही हैं इनमें नाग-नागिनीका जोड़ा मौजूद है और उसके प्राण कंठगत हैं। जब लकड़ीको चीरा गया तो बात सत्य निकली। इस घटनाके बाद ही पार्श्वनाथने प्रव्रज्या धारण कर ली थी और पूर्ण ज्ञानको प्राप्त करके जैन धर्मके सिद्धान्तोंका उपदेश जनताको दिया था। भगवान पार्श्वनाथसे लगभग अढ़ाई सौ वर्षके पश्चात् महावीर हुए और उनके बहुत पहले भगवान ऋषभदेव हुए। अतः जिस समय वैदिक आर्य भारतवर्षमें आये उस समय भी यहाँ ऋषभदेवका धर्म मौजूद था और उनके अनुयायिओंसे भी वैदिक आर्योंका संघर्ष अवश्य हुआ होगा। द्राविड़-वंश मूलतः भारतीय है और द्रविड़ संस्कृति भारतीय संस्कृति है; क्योंकि द्राविड़ भाषाएँ केवल भारतवर्षमें ही पाई जाती हैं। यह द्रविड़ संस्कृति अवश्य ही जैनधर्मसे प्रभावित रही है। यही कारण है जो जैनधर्ममें द्रविड़ नामसे भी एक संघ पाया जाता है। द्राविड़ वंशका एक मात्र घर दक्षिण भारत ही है अतः उनके सम्पर्कमें वैदिक आर्य बहुत बादमें आये होंगे। यही वजह है जो ऋग्वेदके बादमें संकलित किये गये यजुर्वेदमें कुछ जैन तीर्थङ्करोंके नाम पाये जाते हैं।

जब वैदिक धर्म यज्ञप्रधान बन गया और पुरोहितोंका राज्य हो गया तो उसके बादमें हम जनतामें जो उसके प्रति अरुचि पाते हैं, जिसका उल्लेख ऊपर किया है वह आकस्मिक नहीं है किन्तु शुष्क क्रियाकाण्डकी विरोधिनी उस श्रमण संस्कृतिके

विरोधका परिणाम है जिसके जन्मदाता ऋषभदेव थे। उसीके फलस्वरूप उपनिषदोंकी रचना की गई, जिनमें वेदका प्रामाण्य तो स्वीकार किया गया किन्तु उससे प्राप्त होनेवाले ज्ञानको नीचा ज्ञान बतलाया गया और आत्मज्ञानको ऊँचा ज्ञान बतलाया गया। इस प्रकार उपनिषदोंने ऊँचे आध्यात्मिक सिद्धान्तका प्रतिपादन तो किया किन्तु वैदिक क्रियाकाण्डका विरोध नहीं किया। सर राधाकृष्णन्‌के अनुसार[1]—'जब समय आध्यात्मिक सिद्धान्तके प्रति एक निष्ठा चाहता था तब हम उपनिषदोंमें टालनेकी नीतिका व्यवहार होता हुआ पाते हैं। वे प्रारम्भ तो करते हैं आत्माको समस्त बाह्य प्रवृत्तियोंसे स्वतंत्र करनेसे, किन्तु उसका अन्त होता है उसी पुरानी लड़ीको जोड़ने में। जीवनका नया आदर्श स्थापित करनेके बदले वे पुराने मार्गको ही फैलाते हुए दिखाई देते हैं। आध्यात्मिक राज्यका उपदेश देना उसको स्थापित करनेसे एक बिल्कुल ही जुदी वस्तु है। उपनिषदोंने प्राचीन वैदिक क्रियाकाण्डको ऊँचे अध्यात्मवादसे जोड़नेका प्रयत्न किया, किन्तु तत्कालीन पीढ़ीने इसमें कतई अभिरुचि नहीं दिखलाई। फलतः उपनिषदोंका ऊँचा अध्यात्मवाद लोकप्रिय नहीं हो सका। इसने पूरे समाजको कभी प्रभावित नहीं किया। एक ओर यह दशा थी, दूसरी ओर याज्ञिक धर्म अब भी बलशाली था। फल यह हुआ कि निम्न ज्ञानके द्वारा उच्च ज्ञान दलदलमें फँसा दिया गया।'

भारतके एक माने हुए दार्शनिकके उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान वैदिक आर्योंकी उपज नहीं था बल्कि वह भारतके आदिवासी द्रविड़ों आदिसे लिया गया था,

---

१ इंडियन फिलोसॉफी, भा० १ पृ० १४४-४५।

इतना ही नहीं, बल्कि परिस्थितिवश लेना पड़ा था। यही कारण है कि उसे अपना कर भी वैदिक आर्य उसका उपदेश तो देते रहे किन्तु वैदिक क्रियाकाण्डके स्थानमें उसकी स्थापना नहीं कर सके; क्योंकि वैदिक क्रियाकाण्ड उनकी अपनी चीज थी, उसका मोह वे कैसे छोड़ सकते थे? फलतः सर राधाकृष्णन्के शब्दोंमें 'झूठेके द्वारा सच्चा कुचल डाला गया और उपनिषद्-कालके पीछे ब्राह्मण धर्मका यह विद्रोह अपने सब परस्पर विरोधी सिद्धान्तोंके साथ जल्दी ही शिखर पर आ पहुँचा।'

इस कालका वर्णन करते हुए सर राधाकृष्णन् लिखते हैं—"वह[1] समय आध्यात्मिक शुष्कताका था, जिसमें सत्यको परम्पराओंसे बाँध दिया गया था। मनुष्यका दिमाग नियमित क्रियाकाण्डकी परिधिमें ही घूमा करता था। समस्त वातावरण विधि विधानोंसे रुँधा हुआ था। कुछ मंत्रोंका उच्चारण किये बिना या कुछ विधि विधानोंका अनुष्ठान किये बिना कोई न जाग सकता था, न उठ सकता था, न स्नान कर सकता था, न बाल बनवा सकता था, न मुँह धो सकता था और न कुछ खा सकता था। यह वह समय था जब एक क्षुद्र और निष्फल धर्मने कोरे मूढ़ विश्वासों और सारहीन वस्तुओंके द्वारा अपना कोष भर लिया था। किन्तु एक शुष्क और हृदयहीन दर्शन, जिसके पीछे अहंकार और अयुक्तियोंसे पूर्ण एक शुष्क और स्वमताभिमानी धर्म हो, विचारशील पुरुषोंको कभी भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता और न जनताको ही अधिक समयतक सन्तुष्ट रख सकता है। इसके बाद एक ऐसा समय आया जब इस विद्रोहको और भी अच्छे ढगसे सफल बनानेका प्रयत्न किया गया।

१ 'इंडियन फिलासॉफी' भा० १ पृ० २६५-६६।

उपनिषदोंका ब्रह्मवाद और वेदोंका बहुदेवतावाद, उपनिषदोंका आध्यात्मिक जीवन और वेदोंका याज्ञिक क्रियाकाण्ड, उपनिषदोंका मोक्ष और संसार तथा वेदोंका स्वर्ग और नरक, यह तर्कविरुद्ध संयोग अधिक दिनोंतक नहीं चल सकता था। अतः पुनर्निर्माणकी सख्त जरूरत थी। समय एक ऐसे धर्मकी प्रतीक्षा कर रहा था जो गम्भीर और अधिक आध्यात्मिक हो तथा मनुष्योंके साधारण जीवनमें उतर सके या लाया जा सके। धर्मके सिद्धान्तोंका उचित सम्मिश्रण करनेके पहले यह आवश्यक था कि सिद्धान्तोंके उस बनावटी सम्बन्धको तोड़ डाला जाये जिसमें लाकर उन्हें एक दूसरेके सर्वथा विरुद्ध स्थापित किया गया था। बौद्धों, जैनों और चार्वाकोंने प्रचलित धर्मकी बनावटी दशाको भाँपा। इनमेंसे प्रथम दोने आत्माकी नैतिक आवश्यकताओंपर जोर देते हुए नव निर्माणका प्रयत्न किया। किन्तु उनका यह प्रयत्न क्रान्तिकारी ढंगपर था। एक ओर तो उन्होंने उपनिषदोंके ब्रह्मवाद (ethical universalism) को पूर्ण करनेका प्रयत्न किया दूसरी ओर उन्होंने सोचा कि हमें ब्राह्मणोंके प्रभुत्वसे यानी याज्ञिक क्रियाकाण्ड और प्रचलित धर्मसे पूरी तरह पृथक् हो जाना चाहिये। भगवद्गीता और बादके उपनिषदोंने अतीतका हिसाब बैठानेका और पहलेसे भी अधिक कट्टरतासे तर्क विरुद्ध सिद्धान्तोंके सम्मिश्रण करनेका प्रयत्न किया। इस प्रकार उपनिषद्कालके पश्चात् प्रचलित धर्मके इन उग्रपन्थी और स्थिति पालक विरोधियोंके केन्द्र भारतके विभिन्न भागोंमें स्थापित हुए—पूर्वमें बौद्ध और जैनधर्मने पैर जमाया और वैदिक धर्मके प्राचीनगढ़ पश्चिममें भगवद्गीताने।"

उक्त चित्रणमें जहाँ जैनधर्म और बौद्धधर्मके उत्थानकी बात आती है वहाँ हम सर राधाकृष्णन्को भी उसी पुरानी बातको

दुहराते हुए पाते हैं कि जैनधर्मने उपनिषद्‌की शिक्षाओंको माना। किन्तु वैदिकधर्म और उपनिषद्‌के सिद्धान्तोंके मिश्रणको तर्क-विरुद्ध बतलाकर भी और यह मानकर भी कि पार्श्वनाथ जैन-धर्मके तीर्थङ्कर थे जिनका निर्वाण ७७६ ई० पू० में हुआ था तथा जैनधम उससे पहले भी मौजूद था, वे उपनिषद्के उन सिद्धान्तों-को जो जैनधर्मसे मेल खाते हैं किन्तु वैदिक धर्मसे मेल नहीं खाते, जैनधर्मके सिद्धान्त माननेके लिये शायद तैयार नहीं हैं। किन्तु उन्होंने हो वैदिककालका जो खाका खींचा है उससे तो यही प्रमाणित होता है कि जब वैदिक क्रियाकाण्डका विरोध हुआ और जनताकी रुचि उससे हटने लगी तो वैदिकोंने अपनी स्थिति बनाये रखनेके लिये अपने विरोधी धर्मोंकी–जिनमें जैनधर्म प्रमुख था–आध्यात्मिक शिक्षाओंके आधारपर उपनिषदोंकी रचना की। किन्तु उपनिषद् भी बातें तो अध्यात्मकी करते थे और समर्थन वैदिक क्रियाकाण्डका ही किये जाते थे, जिसके विरोधी बराबर मोजूद थे। फलतः विरोध बढ़ने लगा। इसी समयके लगभग भगवान पार्श्वनाथ हुए। उनके उपदेशोंने भी अपना असर दिखलाया। भगवान पार्श्वनाथके लगभग २०० वर्षके बाद ही बिहारमें महावीर और बुद्धका जन्म हुआ। वैदिकधर्ममें विचारशास्त्र तथा विद्वानोंकी ही वस्तु बनी हुई थी, परन्तु इस युगमें इसका प्रचार साधारण जनतामें किया जाने लगा। भगवान पार्श्वनाथने ७० वर्षतक स्थान स्थानपर विहार करके जनसाधारणमें धर्मोपदेश दिया। इसीका अनुसरण महावीर तथा बुद्धने अवान्तरकालमें किया। अपने आध्यात्मिक विचारोंको व्यावहारिक रूप देनेकी तथा अपने विचारोंके अनुरूप जीवन यापन करनेकी प्रवृत्तिकी ओर भी इसी युगमें विशेष लक्ष्य दिया गया क्योंकि उक्त महापुरुषोंने ऐसा ही किया था। वैदिक युगमें

इन्द्र, वरुण आदिको ही देवताके रूपमें पूजा जाता था, किन्तु उक्त धर्मोंमें मनुष्यको उन्नत बनाकर उसमें देवत्वकी प्रतिष्ठा करके उसको पूजा की जाती थी। विरोधियोंके इन सिद्धान्तोंने वैदिक धर्मकी स्थितिको एकदम डांवाडोल कर दिया था। उसको कायम रखनेके लिये फिर कुछ नई बातोंको अपनानेकी वैसी ही आवश्यकता प्रतीत हुई, जैसी आवश्यकता उपनिषदों-की रचना होनेसे पूर्व प्रतीत हुई थी। इसी कालमें रामायण और महाभारतका उदय[१] हुआ, और राम तथा कृष्णको ईश्वरका अवतार मानकर मनुष्यमें देवत्वकी प्रतिष्ठासे आकर्षित होनेवाली जनताको उधर आकृष्ट होनेसे रोका। जैन और बौद्धधर्ममें स्त्री और शूद्रोंको भी धर्माचरणका अधिकार था जब कि वेदोंका पठन-पाठन तक दोनोंके लिये वर्जित था। इसकी पूर्ति भी महाभारतने की। जनताको रुचि अहिंसाकी ओर 'स्वतः नहीं' बल्कि वेदविरोधी उक्त धर्मोंके कारण बढ़ रही थी और उन्हींके कारण पशुयाग उसके लिये आलोचना और घृणाका विषय बन रहा था। महाभारतमें एक कथाके द्वारा पशुयज्ञको बुरा बतलाकर

---

१ सर राधाकृष्णन् लिखते हैं—"जब जनताकी आध्यात्मिक चेतना उपनिषदोंके कमजोर विचारोंसे, या वेदोंके दिखावटी देवताओंसे तथा जैनों और बौद्धोंके नैतिक सिद्धान्तोंके संदिग्ध आदर्शवादसे सन्तुष्ट नहीं हो सकी तो पुनर्निमाणने एक धर्मको जन्म दिया, जो उतना नियमबद्ध नहीं था तथा उपनिषदोंके धर्मसे अधिक सन्तोषप्रद था। उसने एक संदिग्ध और शुष्क ईश्वरके बदलेमें एक जीवित मानवीय परमात्मा दिया। भगवद्गीता, जिसमें कृष्ण विष्णुके अवतार तथा उपनिषदोंके परंब्रह्म माने गये हैं, पंचरात्र सम्प्रदाय और श्वेताश्वर तथा बादके अन्य उपनिषदोंका शैवधर्म इसी धार्मिक क्रान्तिके फल हैं।" इं० फि० पृ० २७५—७६।

हवियज्ञको ही श्रेष्ठ बतलाया गया। नारायणखंडमें बतलाया है कि वसुने हवियज्ञ किया। उससे प्रसन्न होकर विष्णुने यज्ञद्रव्यको प्रत्यक्ष होकर स्वीकार किया। यह सब देखकर ही निष्पक्ष विद्वानोंका यह मत है कि महाभारत श्रमणसंस्कृतिसे प्रभावित है।

आदान प्रदानकी प्रथा धर्मोंमें सदासे चली आई है। एकबार हिंद तत्त्वज्ञाननो इतिहास' के लेखक श्रीनर्मदाशंकर देवशंकर मेहताने जैनों और हिन्दुओंके बीच संस्कारोंका पारस्परिक आदान प्रदान' विषयपर गुजरातीमें बोलते हुए कहा था— "भारतवर्षके मुख्य तीन धर्मों १ ब्राह्मणधर्म जिसे हिन्दूधर्म कहते हैं, २ बौद्धधर्म और ३ जैनधर्ममेंसे बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमिसे निष्कासित हो गया और शेष दो धर्म किस कारणसे टिके रहे इसपर बहुतसे विद्वानोंने विचार किया है। मैंने भी अपनी बुद्धिके अनुसार विचार किया है। सब विचारोंके फलस्वरूप मैं यह समझा हूँ कि दूसरे धर्मके आचार और विचारोंको अपनेमें शामिल करनेकी अद्भुतशक्ति ब्राह्मणोंमें है। इस शक्तिके प्रभावसे वे दूसरोंकी वस्तुको अपना कर लेते हैं। जैसे कोई जबर बेल छोटेसे झाड़पर लगी हो तो उस झाड़के रसको चूसकर सर्वत्र फैल जाती है और आधार वृक्षका दर्शन भी न हो सके इस तरह उसे हृदयंगम कर लेती है, उसी तरह ब्राह्मणोंके आचार-विचारकी जटिलतामें जो कोई दूसरे धर्मका आचार-विचार घुस जाता है वह ब्राह्मणोंका अपना बन जाता है और पीछे वह किसका था इसका निर्णय करना अशक्य हो जाता है। ब्राह्मणोंके इस आत्मसात् करनेके बलके सामने बौद्धधर्म टिक नहीं सका। बौद्धधर्मने अपना स्वत्व और व्यक्तित्व जमानेके बदले ब्राह्मणधर्मके खंडनमें अधिक यत्न किया। इससे दोनों धर्मोंके अनुयायिओंमें द्वेष और निन्दाका भाव बढ़ गया। दूसरे, ब्राह्मणोंने

उस धर्मके ग्रहण करने योग्य बातोंको अपना लिया और सामान्य अशिक्षित प्रजाको यह समझाया कि—'बौद्धधर्मका जो मुख्य सार कहा जाता है वह तो अपने वैदिकोंका अपना ही है। बौद्धोंने तो अपनेसे ही ले लिया है। ब्राह्मणोंके इस 'व्याप्तिजाल' को जानना हो तो नीचेके मुद्दोंपर विचार करें—

(१) भगवान बुद्धको विष्णुका अवतार मान लिया, उनका दयाधर्म वैष्णवोंमें समा गया।

(२ ब्राह्मणोंकी यज्ञ हिंसा और श्राद्धमें गौवध किया जाता था उसे कलिवार्ह्य ? करार दे दिया।

(३) बुद्धके शरीरके अंशोंको लेकर जो रथ-यात्रादि उत्सव होते थे वे वैष्णवोंकी रथयात्रारूप हो गये।

(४) बौद्धोंके जाति खण्डन सम्बन्धी आचार-विचार ब्रह्मवादमें समा गये।

(५) बौद्धधर्मका पंचबुद्ध शैवधर्मके पंचमुख शिवमें समा गया।

(६) अश्वघोषका वज्रसूची प्रकरण, जो जातिभेदका विध्वंसक है, वह जान या अनजानमें ब्राह्मणोंके उपनिषदोंमें उपनिषद्रूपसे जा बैठा।

(७) ब्राह्मणोंके परिव्राजक और बौद्धभिक्षु ब्राह्मण-शरमण (श्रमण) रूपसे एकमेक हो गये।

इस प्रकार बौद्धधर्म अनेकरूपसे वर्तमान हिन्दूधर्मके अनेक गली कूँचोंमें फैल गया। तथा शांकर वेदान्तके मायावादमें बौद्ध विज्ञानवादियोंका मायावाद गुप्त रीतिसे इस प्रकार समाया कि मानो मायावाद सीधे मूल उपनिषदोंमेंसे ही निकला है, ऐसा हिन्दू वेदान्तियोंका दृढ़ मन्तव्य हो गया। जो आचार-विचार हजम नहीं किये जा सकते थे जैसे क्षणिकवाद, अपोहवाद

वगैरह, उन्हें बौद्धोंका पाखंडधर्म बतलाया गया। और पौरा-णिकरूपमें हिन्दूधर्मकी नई दुकान खुली। परिणाम यह हुआ कि बौद्धधर्म आर्यावर्तसे निष्कासित हो गया। जो अभ्यासी हैं वे इस वस्तुस्थितिको सरलतासे समझ सकेंगे।"

इस प्रकार बौद्धधर्मके लुप्त होनेके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट करनेके बाद महताजीने ब्राह्मणधर्मी हिन्दुओंने कौनसे ग्राह्य अंश अथवा गुण जैनोंसे प्राप्त किये हैं यह बतलाते हुए कहा—"यज्ञ हिंसाके प्रति अरुचि दिखानेवाले प्रथम तो सांख्याचार्य कपिल थे। उन्होंने यज्ञकर्मको सदोषकर्म बतलाया। और अमुक यज्ञसे स्वर्ग मिलता होय तो भी वह स्वर्गसुख समय पाकर हिंसाका फल प्रकट किये बिना नहीं रहता ऐसा कहा। उसके बाद भागवत सम्प्रदायमें वासुदेव श्रीकृष्णने अहिंसाका कथन किया। किन्तु भगवान कृष्णके यादवकुलमें मदिरापानका चलन होनेसे मद्यकी सहभावी हिंसा सर्वांशमें दूर नहीं हो सकी। कुरु-पाँचाल युद्धके समयमें पारस्परिक वैरके कारण रौद्रध्यान और आर्तध्यानके सिवा धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अवकाश न था। आखिरमें हिंसा पूरे वेगसे बढ़ी और भाग-वतधर्म अहिंसाका पक्षपाती होते हुए भी हिंसाको रोक नहीं सका। इस समयमें अहिंसाका पालन करनेवाले यतिजन भी थे। परन्तु वे वनोंमें रहते थे। अहिंसाके ऊपर जोर देनेवाले यतियोंका एक वर्ग मुंडक शाखाका था, किन्तु वह भी यह माननेके लिये तैयार न था कि वैदिकी हिंसा वेद प्रतिपादित होनेपर भी गौण रूप है अथवा हलके धर्मरूप है।

'हिंसा अथवा प्राणातिपात स्वतः दोषरूप है, जिस जीवको मोक्षके मार्गमें लगना हो उसे इस दोषका पूरी तरहसे त्याग

करनेके लिये बलवान प्रयत्न करना चाहिये, प्राणिवधके द्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करनेकी भावना अपधर्म है, विधर्म है अथवा अधर्म है' ऐसा स्पष्ट कथन करनेवाले जैन तीर्थङ्कर थे।'

किन्तु उन चौबीस तीर्थङ्करोंमेंसे पार्श्वनाथ (तेईसवें) और महावीर चौबीसवें वास्तवमें ऐतिहासिक महापुरुष हैं। वे वासुदेव कृष्णके पीछे हुए हैं। इन दोनों महापुरुषोंमेंसे पार्श्वनाथ भगवान बुद्धके पहले हुए हैं। और महावीर बुद्ध समकालीन थे। इन दोनों महापुरुषोंने स्पष्ट रूपसे कहा कि हिंसा और शुद्धधर्म इन दोनोंका मेल संभव नहीं है, तथा धर्मके बहानेसे पशुवध करना पुण्य नहीं, किन्तु पाप है। इस निश्चयको उन्होंने अपने शुद्ध चारित्रके द्वारा और संघके प्रभावसे प्रजामें फैलाया। और उसका हिन्दुओंपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि यज्ञमें हिंसा करना धर्म है ऐसा कहनेके लिये कोई हिन्दू तैयार नहीं है। आज विद्वान् और धर्मचिन्तक शास्त्रीगण उस हिंसाका प्रतिपादन मात्र कर सकते हैं। किन्तु यदि कोई ठेठ वैदिकधर्मके अनुसार श्रौत कर्म करनेवाला सोमयाग करानेको तत्पर हो तो हिन्दु उसको तिरस्कारपूर्वक निकाल दें और 'स्लाटर हाउस में' पशुवध करनेवाले कसाईकी तरह उसकी दुर्गति करें।"

महताजीके उक्त विवेचनसे भी यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्ममें दूसरोंकी बातोंको अपनानेकी अद्भुत शक्ति है। और उत्तरकालीन उपनिषदोंके द्वारा बौद्धोंके अनेक मन्तव्योंको इस प्रकारसे अपनेमें सम्मिलित कर लिया गया मानों वह उपनिषदोंकी ही वस्तु हो। (सर राधाकृष्णन्का भी मत है कि कुछ उपनिषदोंकी रचना बुद्धके बादमें भी हुई है।) इससे भी हमारे उक्त विश्वासकी ही पुष्टि होती है। अतः उपनिषदोंमें जो जैन आचार विचारका

पूर्व रूप पाया जाता है, उससे यह निर्णय करना कि जैनधर्म [1]उपनिषदोंसे निकला है और इसलिये वह हिन्दू धर्मकी विद्रोही सन्तान है, सर्वथा भ्रान्त है। जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म है। उसके आद्य तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेव थे जो राम और कृष्णसे भी पहले हो गये हैं और जिन्हें हिन्दुओंने विष्णुका अवतार माना है। उन्हींके विचारोंकी झलक उपनिषदोंमें मिलती है। जैसा कि [2]'उपनिषद् विचारणा' के निम्न शब्दोंसे भी स्पष्ट है—

"उपनिषदोंना छेवटना भागमां वेद बाह्य विचारवाला साधुओंना आचारविचारो अरण्यवासिओंमा पेठेला जणाय छे, अने तेमां जैन अने बौद्ध सिद्धान्तोना प्रथम बीजे उग्यां होय एम जणाय छे। उदाहरण तरीके "सर्वाजीव ब्रह्मचक्रमां हंस एटले जीव भमे छे, जीवघन परमात्मा छे, जीव जे जे शरीरमां प्रवेश छे ते ते शरीरमय थइ जाय छे, केटलाक परमहंसो "निर्ग्रन्थ अने शुक्लध्यान परायण हता" आ विगेरे उपनिषद् वाक्यों श्रीमहावीर पूर्वभावी निर्ग्रन्थ साधुओंना विचारोंनां पूर्व रूप छे। जैनाना आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव आवर्गनर 'निर्ग्रन्थ' साधु हता। अने पाछलथी तेमने हिन्दुधर्मीओए विष्णुना अवतार मान्या छे।"

(१) जर्मन विद्वान् ग्लैजनपने अपने जैनधर्म नामक ग्रन्थमें लिखा है कि प्रो० हर्टलेका कहना है कि ब्रह्मलोक और मुक्तिविषयक जैन भावना उपनिषदोंकी भावनासे जुदी प्रकारकी है और ये दोनों समान नहीं हो सकतीं। दोनोंमें जो समानता है वह केवल शाब्दिक है।

(२) पृ० २०१।

हिन्दुधर्म और जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें बहुत अन्तर है। जैन वेदको नहीं मानते, स्मृति ग्रन्थों तथा ब्राह्मणोंके अन्य प्रमाणभूत ग्रन्थोंको भी प्रमाण नहीं मानते। इसके सिवा दोनोंमें महत्त्वका भेद तो यह है कि जैनधर्मके धार्मिक तत्त्व और उनकी सरणि स्पष्ट और निश्चित है, किन्तु हिन्दुधर्ममें परस्पर विरोधी अनेक सिद्धान्त हैं और वे सब अपने सच्चे होनेका दावा करते हैं। हिन्दू जगत्का नियामक और रचयिता ईश्वरको मानते हैं, जैनी नहीं मानते। हिन्दू युग-युगमें जगतकी सृष्टि और प्रलयको मानते हैं, जैन जगतको अनादि अनन्त मानते हैं। हिन्दू मानते हैं कि सनातन धर्मको ईश्वरकी प्रेरणासे ब्रह्माने प्रकट किया, जैनी मानते हैं कि युग युगमें तीर्थङ्कर होते हैं और वे अपने जोवनके अनुभवके आधारपर सत्य धर्मका उपदेश देते हैं। हिन्दू मानते हैं कि देवता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, जैन मानते हैं कि मोक्ष केवल मानवीय अधिकारकी वस्तु है। यदि देवताओंको मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो उन्हें मनुष्य योनिमें जन्म लेना चाहिये और कर्मोंके नाशके लिये तप करना चाहिये। हिन्दू कर्मको अदृष्ट सत्ताके रूपमें मानते हैं और जैन मानते हैं कि कर्म सूक्ष्म पौद्गलिक तत्त्व है जो जीवकी क्रियासे आकृष्ट होकर उसके साथ बँध जाता है। हिन्दू मानते हैं कि ईश्वरकी भक्ति करनेसे उसकी कृपासे सुख मिलता है, जैनी मानते हैं कि अपने अच्छे या बुरे कर्मोंके अनुसार जीव स्वयं ही सुखी या दुखी होता है। हिन्दू मानते हैं कि मुक्त हुआ जीव वैकुण्ठमें अनादि कालतक सुख भोगता है अथवा ब्रह्ममें लीन हो जाता है, जैनी मानते हैं कि मुक्त जीव लोकके अग्रभागमें सदा काल विराजमान रहता है। जैनधर्ममें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, गुणस्थान मार्गणा आदि अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो हिन्दूधर्ममें नहीं हैं तथा

जैन न्यायमें भी स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि बहुतसे ऐसे तत्त्व हैं जो जैनेतर न्यायमें नहीं हैं। यह सब भेद होते हुए भी दोनों धर्मोंके अनुयायिओंमें सांस्कृतिक दृष्टिसे आज एकरूपता दिखाई देती है और कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें दोनों धर्मोंके अनुयायी पाये जाते हैं और उनमें परस्परमें रोटी बेटी व्यवहार भी चालू है।

जैनधर्म और बौद्धधर्म

पहले अनेक विद्वानोंका यह मत था कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा है। किन्तु स्व० याकोबीने इस भ्रमका परिमार्जन करते हुए स्पष्ट रीतिसे यह साबित कर दिया कि ये दोनों दो स्वतंत्र धर्म हैं, और इन दोनोंमें जो कुछ समानता है उसपरसे यह प्रमाणित नहीं होता कि एक धर्ममेंसे दूसरा धर्म निकला है।

दोनोंमें समानता

जैनधर्म और बौद्धधर्ममें अनेक समानताएँ हैं। दोनों वेदको प्रमाण नहीं मानते। दोनों यज्ञहिंसाके विरोधी हैं। दोनों जगन्नियन्ता ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानते। दोनों पुरुषमें देवत्वकी स्थापना करके उसकी पूजा करते हैं। दोनोंके धर्मसंस्थापक 'अर्हत् और जिन' कहलाते हैं। दोनों अहिंसाके सिद्धान्तके अनुयायी हैं। दोनोंके संघमें साधु और साध्वीको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन समानताओंके सिवा महत्त्वकी समानता तो यह है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनोंका जन्म बिहारमें हुआ था। महावीरके पिताका नाम सिद्धार्थ था और यही नाम कुमार अवस्थामें बुद्धका था। बुद्धकी पत्नीका नाम यशोधरा था और श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताके अनुसार महावीरकी पत्नीका नाम यशोदा था। किन्तु इन समानताओंके होते हुए भी दोनों धर्मोंमें जो मौलिक अन्तर है उससे ये दोनों धर्म जुदे ही प्रमाणित होते हैं।

दोनोंमें भेद

दोनोंके धार्मिक ग्रन्थ जुदे हैं, इतिहास जुदा है, कथाएँ जुदी हैं। इतना ही नहीं, किन्तु धार्मिक सिद्धान्त भी बिल्कुल जुदे हैं। जैनधर्म नित्य और अभौतिक जीवतत्त्वका अस्तित्व मानता है, तथा मानता है कि जबतक यह जीव पौद्गलिक कर्मोंसे बँधा रहता है तबतक संसारमें रहता है, फिर मुक्त होकर ऊपर सिद्धशिलापर जा विराजता है और अनन्त कालतक आत्मिक गुणोंमें मग्न रहता हुआ शाश्वत सुखको भोगता है। किन्तु बौद्ध जीवतत्वको नहीं मानते। उनके मतसे जिसे आत्मा या जीव कहते हैं वह कोई नित्य पदार्थ नहीं है, किन्तु क्षणिक धर्मोंकी एक सन्तान है। उस सन्तानका विनाश ही मोक्ष है जैसे तेल और बत्तीके जल चुकनेपर दीपकका विनाश हो जाता है वैसे ही उस सन्तानका भी नाश हो जाता है। बौद्धधर्मका यह सिद्धान्त जैनधर्मके सिद्धान्तसे बिल्कुल विपरीत है।

'महावीर केवल साधु न थे बल्कि तपस्वी भी थे। किन्तु बोध प्राप्त होनेके बाद बुद्ध तपस्वी नहीं रहे, केवल साधु ही रहे और उन्होंने अपना पूरा पुरुषार्थ जीवनधर्मकी ओर लगाया। अतः महावीरका लक्ष्य आत्मधर्म हुआ और बुद्धका लक्ष्य लोकधर्म हुआ। इसीसे बुद्ध अधिक प्रसिद्ध हुए। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि महावीर लोक समाजसे सर्वथा दूर ही रहते थे। अर्हत् हो जानेके बाद वे भी लोकसमाजमें विहार करते थे, बुद्धकी ही तरह उनके अनेक शिष्य थे, उनका एक संघ भी था और यह संघ बराबर फैलता गया, किन्तु भारतकी सीमाके बाहर उसका फैलाव न हो सका।'

महावीर और बुद्धके जीवनका उक्त विश्लेषण करते हुए

जर्मन विद्वान् प्रो० लुइमानने आगे लिखा है—"महावीर संकुचित प्रकृतिके थे और बुद्ध विशाल प्रकृतिके थे। महावीर लोक-समाजमें मिलनेसे दूर रहते थे और बुद्ध लोकसमाजकी सेवा करते थे। यह बात इस प्रसंगसे और भी स्पष्ट हो जाती है कि यदि बुद्धको उनका कोई शिष्य जीमनेका निमंत्रण देता था तो वह उसे स्वीकार करके उसके घर चले जाते थे, किन्तु महावीर यह मानते थे कि समाज जीवनके साथ साधुका इस प्रकारका सम्बन्ध ठीक नहीं है। यह बात इससे और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध विहार करते समय जिस तिसके साथ बातें करते जाते थे और अपने विचार और आचारमें फेरफार करनेके साथ साथ लोगोंको उपदेश देने और अपनेमें सम्मिलित करनेकी पद्धतिमें भी फेरफार कर लेते थे। किन्तु महावीरमें यह बात नहीं पाई जाती। आध्यात्मिक उपदेश करने या शिक्षा देनेके लिये महावीरने किसीको बुलाया हो ऐसा जान नहीं पड़ता। यदि कोई मनुष्य धार्मिक चर्चा करनेके लिये उनके पास जाता था तो महावीर अपने कठिन सिद्धान्तोंके अनुसार उसका उत्तर मात्र दे देते थे, किन्तु उसकी परवा नहीं करते थे।'

अतः ऊपर बतलाये गये कारणोंसे जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों स्वतंत्र धर्म है, एकमेंसे दूसरा नहीं निकला है। फिर भी दोनों धर्म एक सुदीर्घ कालतक एक ही क्षेत्रमें फले फूले हैं अतः एकका असर दूसरेपर न हुआ हो यह संभव नहीं है।

जैनधर्म और मुसलमान धर्म

इस्लामका उदय यद्यपि अरबमें हुआ किन्तु शताब्दियों तक दोनों धर्मोंका भारतके नाते निकट सम्बन्ध रहा है। और फल स्वरूप एकका दूसरेपर असर भी पड़ा है। मुसलमानोंका सबसे

अधिक असर तो जैनोंकी स्थापत्यकला और चित्रकलापर पड़ा है। साथ साथ जैनोंकी स्थापत्यकलाका असर मुसलमानोंकी स्थापत्यकलाके ऊपर भी पड़ा है। किन्तु इससे हमारा प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन तो धार्मिक क्षेत्रमें मुसलमान धर्मने जैनधर्मके ऊपर या जैनधर्मने मुसलमान धर्मके ऊपर जो प्रभाव डाला है उससे है। मुसलमान धर्मका जैनधर्मके ऊपर महत्त्वका असर तो उसके अन्दर उत्पन्न होनेवाले मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदायोंका जन्म लेना है। मुसलमानोंके मूर्तिपूजा विरोध और मूर्ति खण्डनने ही लोंकाशाह वगैरहके चित्तमें इस भावनाको जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय और तारणपन्थकी स्थापना हुई।

मुसलमान धर्मपर जैनधर्मका असर बतलाते हुए प्रो० ग्लेज़-नपने अपने 'जैनिज्म' नामक ग्रन्थमें A. furher. V. Kremer के एक निबन्धका हवाला देते हुए लिखा है कि अरब कवि और दार्शनिक अबुल् अलाने (९७३-१०५८) अपने नैतिक-सिद्धान्त जैनधर्मके प्रभावमें स्थापित किये थे। इसका वर्णन करते हुए क्रेमरने लिखा है—'अबुल् अला केवल अन्नाहार करता था और दूध तक नहीं पीता था। कारण, वह मानता था कि माताके स्तनमेंसे बच्चेके हिस्सेका दूध भी दुह लिया जाता है इसलिये इसे वह पाप मानता था। जहाँ तक बनता था वह आहार भी नहीं करता था। उसने मधुका भी त्याग कर दिया था। अंडा भी नहीं खाता था। आहार और वस्त्रकी दृष्टिसे वह संन्या-सियोंकी तरह रहता था। पैरमें लकड़ीकी पावड़ी पहरता था। कारण, पशुको मारना और उसका चमड़ा काममें लाना पाप है। एक स्थानपर वह नग्न रहनेकी भी प्रशंसा करता है और कहता है—'ऋतु ही तुम्हारे लिये सम्पूर्ण वस्त्र हैं।' उसका कहना है

कि भिखारीको पैसा देनेके बदले मक्खीको जीवनदान देना श्रेष्ठ है।

नग्नता, जीवरक्षा, अन्नाहार और मधुका त्याग आदि विषयोंपर उसका पक्षपात यह बतलाता है कि इसके विचारोंके ऊपर जैनधर्मका, खास करके दिगम्बर सम्प्रदायका असर था। अबुल् अला बहुत समयतक बगदादमें रहा था। यह नगर व्यापारका केन्द्र था। सम्भव है कि जैन व्यापारी वहाँ गये हों और उनके साथ कविका सम्बन्ध हुआ हो।

उसके लेखोंपरसे जाना जाता है कि उसे भारतके अनेक धर्मोंका ज्ञान था। भारतके साधु नख नहीं कटाते इस बातका उसने उल्लेख किया है। वह मुर्दा जलानेकी पद्धतिकी प्रशंसा करता है। भारतके साधु चिताकी अग्निज्वालामें कूद पड़ते हैं इस बातपर अबुल अलाको बहुत आश्चर्य हुआ था। मृत्युके इस ढंगको जैन अधर्म मानते हैं। 'बन सके तो केवल आहारका त्याग करो' अबुल अलाके इस वचनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसे जैनोंके सल्लेखनाव्रतका ज्ञान था। किन्तु यह व्रत वह स्वयं पाल सकता इतना उसका आत्मा सबल नहीं था। इन सब बातोंसे ऐसा लगता है कि अबुल् अला जैनोंके परिचयमें आया था और उनके कितने ही धार्मिक सिद्धान्तोंको उसने स्वीकार किया था।'

---

७ जैन सूक्तियाँ

प्राकृत—

१ णो लोगस्सेसणं चरे। —आचारांग।

अर्थ—लोकैषणाका अनुसरण करना—लोगोंकी देखादेखी चलना नहीं चाहिये।

२ सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा
पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।
—आचारांग।

अर्थ—समस्त जीवोंको अपना अपना जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है, वे दुःख नहीं चाहते, वध नहीं चाहते, सब जीनेकी इच्छा करते हैं। (अतएव सबकी रक्षा करनी चाहिये)।

३ सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं णिग्गंथा वज्जयंति णं॥ —दशवैकालिक।

अर्थ—सब जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। अतएव निर्ग्रन्थ मुनि घोर प्राणिवधका परित्याग करते हैं।

४ णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि॥
—शिवार्य।

अर्थ—परिग्रहरहित साधु ही सदा कषायोंको कृश करनेमें समर्थ होता है। क्योंकि परिग्रह ही कषायोंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं, जैसे कि सूखी लकड़ियाँ अग्निको उत्पन्न करतीं और बढ़ाती हैं।

५ समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंद समो ।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥
—कुन्दकुन्दाचार्य ।

अर्थ—जो शत्रु और मित्रमें, सुख और दुःखमें, प्रशंसा और निन्दामें, मिट्टी और सोनेमें तथा जीने और मरनेमें सम है, वही श्रमण—जैनसाधु है ।

६ भावरहिओ न सिज्झइ जइवि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥
—कुन्दकुन्दाचार्य ।

अर्थ—भावरहितको सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती, भले ही वह बिल्कुल नग्न हुआ, हाथोंको लम्बे करके करोड़ों जन्मोंतक नाना प्रकारके तप करता रहे ।

७ जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥
—कुन्दकुन्दाचार्य ।

अर्थ—जिनको इन्द्रियविषयोंमें आसक्ति है उनको स्वाभाविक दुःख समझना चाहिये । क्योंकि यदि, उन्हें दुःख स्वाभाविक नहीं है तो वे विषयोंकी प्राप्तिके लिये यत्न ही क्यों करते ?

८ वउ तउ संजमु सीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु ।
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ —योगीन्दु ।

अर्थ—व्रत, तप, संयम और शीलका पालन तबतक निरर्थक है जबतक इस जीवको अपने पवित्र शुद्ध स्वभावका बोध नहीं होता ।

९ राए रंगिए हियवडए, देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलइ बिंबु जिम, एहउ जाणि णिभंतु ॥ योगीन्दु ।

अर्थ—जैसे मैले दर्पणमें मुख दिखलाई नहीं देता, उसी प्रकार रागभावसे रँगे हुए हृदयमें वीतराग शान्त देवका दर्शन नहीं होता, यह सुनिश्चित जानों।

१० जो ण विखादि वियारं तरुणियणकडक्खवाणविद्धोवि।
सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवइ सूरो॥
—स्वामी कार्तिकेय।

अर्थ—तरुणी स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे बींधा जानेपर भी जो विकार भावको प्राप्त नहीं होता, वही शूरवीर है। जो रणमें शूर है वह शूर नहीं है।

११ जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तइ सुद्धि ण जं जि॥
—योगीन्दु।

अर्थ—हे जीव ! तू चाहे जहाँ जाय और चाहे जो क्रिया कर; परन्तु जब तक तेरा चित्त शुद्ध न होगा, तबतक किसी तरह भी तुझे मोक्ष नहीं मिल सकता।

१२ जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटको व्व हिंसा परिहरिदव्वा तदो होदि॥—शिवार्य।

अर्थ—वास्तवमें जीवोंका वध अपना ही वध है और जीवों पर दया अपनेपर ही दया है। इसलिये विषकण्टकके समान हिंसाको दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

१३ रायदोसाइदीहिं य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णिय तच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥ —देवसेन।

अर्थ—जिसका मनोजल राग द्वेष आदिसे नहीं डोलता है, वह आत्मतत्त्वका दर्शन करता है और जिसका मन रागद्वेषादिक रूपी लहरोंसे डाँवाडोल रहता है उसे आत्मतत्त्वका दर्शन नहीं होता।

संस्कृत—

१४ आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः संपदा मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

अर्थ–'इन्द्रियोंका असंयम आपदाओंका–दुखोंका मार्ग है और उन्हें अपने वशमें करना सम्पदाओंका सुखोंका-मार्ग है। इनमेसे जो तुम्हे रुचे, उस पर चलो।'

१५ हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।

—वादीभसिंह ।

अर्थ–'यदि शास्त्रोंको पढ़कर हेय और उपादेयका ज्ञान नहीं हुआ, किसमे आत्माका हित है और किसमे आत्माका अहित है वह समझ पैदा नहीं हुई, तो श्रुताभ्यासमें परिश्रम करना व्यर्थ ही हुआ।'

१६ कोऽन्धो योऽकार्यरतः को वधिरो यः शृणोति न हितानि ।
को मूको यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति ॥

—प्रश्नोत्तर रत्नमाला ।

अर्थ–'अन्धा कौन है ? जो न करने योग्य बुरे कामोंको करनेमे लीन रहता है। बहरा कौन है ? जो हितकी बात नहीं सुनता। गूंगा कौन है ? जो समय पर प्रिय वचन बोलना नहीं जानता।'

१७ पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

—गुणभद्राचार्य ।

अर्थ–'मनुष्य पुण्यका फल सुख तो चाहते हैं किन्तु पुण्य कर्म करना नहीं चाहते। और पापका फल दुःख कभी नहीं चाहते, किन्तु पापको बड़े यत्नसे करते है।'

१८ तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम् ।
न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥

—क्षत्र चूड़ामणि ।

अर्थ–'जो लोग तत्त्वज्ञानसे रहित हैं उनका निग्रन्थ साधु बनना भी निष्फल है, क्योंकि यदि भोजनकी सामग्री चावल वगैरह नहीं है तो केवल बटलोही वगैरह पात्रोंसे ही भोजन नहीं बनाया जा सकता।'

१९ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

—रत्नकरंड श्रा० ।

अर्थ–'जो गृहस्थ होकर भी निर्मोह है वह मोक्षके मार्गमें स्थित है, परन्तु जो मुनि होकर भी मोही है वह मोक्षके मार्गमें स्थित नहीं है। अतः मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

२० यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥

२१ यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥

—पूज्यपादाचार्य ।

अर्थ–'ज्यों ज्यों आत्म तत्त्वका अनुभव होता जाता है त्यों त्यों इन्द्रिय विषय सुलभ होते हुए भी नहीं रुचते। और ज्यों ज्यों इन्द्रिय विषय सुलभ होते हुए भी नहीं रुचते, त्यों त्यों आत्मतत्त्व का अनुभव होता जाता है।'

२२ अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि ।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥

—वादीभसिंह ।

अर्थ–'यदि अपकार करने वालेपर कोप करना है तो फिर कोपपर ही कोप क्यों नहीं करते, क्योंकि कोप-क्रोध धर्म, अर्थ, काम का, तथा मोक्ष और जीवनका भी नाश करने वाला है।

२३ अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोष प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि॥

—वादीभ सिंह।

अर्थ–'जो दूसरोंके दोषोंकी तरह अपने भी दोषको देखता है, उसके समान कौन है ? वह शरीरसे युक्त होते हुए भी वास्तवमें मुक्त है।'

२४ आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
तत्कियद् कियदायाति वृथा व विषयैषिता॥

—गुणभद्र।

अर्थ–'प्रत्येक प्राणीका आशा रूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसके सामने यह पूरा विश्व भी अणुके तुल्य है। ऐसी स्थितिमें यदि इस विश्वका बटवारा किया जाये तो प्रत्येकके हिस्सेमें कितना कितना आयेगा। अतः विषयोंकी चाह व्यर्थ ही है।'

हिन्दी—

२५ राग उदै जग अन्ध भयौ, सहजहि सब लोगन लाज गंवाई।
सीख बिना नर सीखत है विषयादिक सेवनकी सुघराई॥
तापर और रचै रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझनकी अखियानमें डारत है रज राम दुहाई॥

—भूधरदास।

२६ राग उदै भोग भाव लागत सुहावनेसे,
बिना राग ऐसे लागै जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे तनमें सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥

रागसों जगतरीति झूठी सब सांची जानै,
राग मिटै सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी विन रागीके विचारमें बड़ोई भेद,
जैसे भटा पच काहू काहू को बयारे हैं॥

—भूधर दास।

२७ ज्यों समुद्रमें पवनतैं चहुदिसि उठत तरंग।
त्यों आकुलतासों दुखित लहैं न समरस रंग॥

—वृन्दावन।

२८ चाहत हैं धन होय किसी विधि तौ सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करूं गहना कुछ, ब्याहि सुतासुत बांटिय भाजी॥
चिंतत यौं दिन जाहि चले जम आनि अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गये रहि जाय रुपी शतरंजकी बाजी॥

—भूधर दास।

पुस्तकमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची

प्राकृत व संस्कृत ग्रन्थ

अनगार धर्मामृत [श्री माणिक चन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई]
अष्ट सहस्री [गांधी नाथारंग जी शोलापुर]
आप्तमीमांसा [अष्टसहस्रीके अन्तर्गत]
आत्मानुशासन [प्रथम गुच्छकमें, भदैनी बनारस]
गोमट्टसार [श्रीरायचन्द शास्त्रमाला बम्बई]
जयधवला [भा. दि. जै. संघ ग्रन्थमाला मथुरा]
धवला [जैनसाहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती]
तत्त्वार्थराजवार्तिक [सनातन जैनग्रन्थमाला काशी]
त्रिलोक प्रज्ञप्ति [जीवराज दोशी ग्रन्थमाला शोलापुर]
त्रिलोकसार [श्रीमाणिकचन्द दि. जैनग्रन्थमाला बम्बई]
तत्त्वानुशासनादि संग्रह [,, ,,]
दर्शनसार [भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट्की पत्रिकामें मुद्रित]
दशभक्ति [श्रीधर प्रेस शोलापुर]
नियमसार [जैनग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय बम्बई]

पञ्चास्तिकाय [रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई]
प्रवचनसार [,, ,,]
पुरुषार्थसिद्धयुपाय [,, ,,]
पञ्चाध्यायी [गाधी नाथारंगजी शोलापुर]
पंचाशक [ ]
बृहद्द्रव्य संग्रह [रायचन्द शास्त्रमाला बम्बई]
बृहत्स्वयंभुस्तोत्र [प्रथम गुच्छक, भदैनी बनारस]
महाभाष्य [निर्णयसागर प्रेस बम्बई]
मीमांसा श्लोक वार्तिक [चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो बनारस]
यशस्तिलक चम्पू [निर्णयसागर प्रेस बम्बई]
रत्नकरंड श्रावकाचार [श्रीमाणिकचन्द दि. जैनग्रन्थमाला बम्बई]
षट्प्राभृतादि संग्रह [,, ,, ,,]
सर्वार्थसिद्धि [कल्याण पावर प्रिंटिंग प्रेस शोलापुर]
सागारधर्मामृत [श्रीमाणिकचन्द दि. जैनग्रन्थमाला बम्बई]
हरिवंश पुराण [,, ,, ,,]

हिन्दी ग्रन्थ

जैनसाहित्य और इतिहास [हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई]
जैन इतिहासकी पूर्वपीठिका [,, ,, ,,]
जैनसाहित्यमें विकार [हिन्दी जैनग्रन्थमाला देहली]
जैनकर्म सिद्धान्त [स्व. चम्पतराय बैरिस्टर]
पञ्चमकर्म ग्रन्थ [श्री आत्मानन्द पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरा]

बम्बई प्रान्तके प्रा० जै० स्मारक [दिगम्बर जैनपुस्तकालय सूरत]
भगवान महावीरका अचेलक धर्म [दि. जैनसंघ पुस्तकमाला मथुरा]
भारतीय दर्शन [पं बलदेव उपाध्याय]
भारतीय इतिहासकी रूपरेखा [श्री जयचन्द्र विद्यालंकार]
मद्रास प्रान्तके जैनस्मारक [दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत]
मध्य प्रान्तके जैनस्मारक [,, ,, ,, ,,]
विरोध परिहार [भा. दि. जै. संघ पुस्तकमाला मथुरा]
श्रमण भगवान महावीर [मुनि कल्याण विजय जी]
संयुक्त प्रान्तके जैनस्मारक [दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत]

गुजराती ग्रंथ

ऊर्पानपद विचारणा [गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद]
जैनधर्म [प्रो० ग्लैजनपकी पुस्तकका भाषान्तर]
जैनसाहित्यनो इतिहास [जैन श्वे० कांन्फ्रेस आफिस बम्बई]
पर्यूषण व्याख्यान माला [अहमदाबाद]
महावीर अने बुद्ध [प्रो. लुइमैनकी पुस्तकका भाषान्तर]
हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास [गुज० वर्नाक्यूलर सो० अहमदाबाद]

अंग्रेजी पुस्तकें

अर्ली हिस्ट्री आफ् इण्डिया [वीसेन्ट स्मिथ]
इन्डियन फ़िलासफ़ी [सर एस. राधाकृष्णन्]
कर्म फ़िलासफ़ी [वीरचन्द गांधी]

जैनीज्म इन इन्डियन हिस्ट्री [डा. बूलचन्द जैन]
जर्नल आफ दी विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
कोइंस आफ सदर्न इण्डिया [सर वाल्टर इलियट]
स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म [प्रो. रामस्वामी आयंगर]

पत्र-पत्रिकाएँ

अनेकान्त [वीरसेवा मन्दिर सरसावा]
जैनदर्शनका स्याद्वादांक [भा. दि जैन संघ,मथुरा]
जैनसन्देश [" "]
जैनहितैषी [जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई]
जैनसिद्धान्त भास्कर [जैनसिद्धान्त भवन आरा]
जैनसाहित्य संशोधक [अहमदाबाद]
विश्व वाणोका जैनसंस्कृति अंक [साउथ मलाका इलाहाबाद]

अशुद्धि शुद्धि पत्र

[टाईपकी खराबीके कारण इस पुस्तकमें बहुत सी जगह रेफ, अनुस्वार और मात्रा उचट नहीं सकी हैं। जैसे धम (धर्म), दद (दर्द), क्याकि (क्योंकि), हा (ही), नहा (नहीं), जा (जो), हिसा (हिंसा), आदि। पाठकों को उन्हें सुधार लेना चाहिये। शेष अशुद्धियोंका शुद्धि पत्र यहां दिया जाता है।]

अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पं०
यत्त	यतस्त	१४	२२
कर्मंमु	कर्मसु	१५	२४
कात्तय	कत्तिय	२६	६
उसमें	उनमें	२७	१५
क	एक	२९	१४
लिखवा	लिखवाये	३५	११
बह	वह	११४	१९
बर्णन	वर्णन	११७	३
आकर्षितो	आकर्णितो	१२४	१०
नरकगाति	नरकगति	१२८	१६
मूातक	मूर्तिक	१४२	२०
स्वर्तत्र	स्वतंत्र	१४५	३
बंघे	बंवे	,,	५

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पं०
कम	कर्म	१४९	३
तण्णि-	तण्णि-	१७४	७
घर्म	धर्म	१८१	२२
स्वतत्र	स्वतंत्र	१९१	२१
चाट	चोट	,,	२५
ही	हो	१९९	२
दुग्घक	दुग्धक	२०१	२३
परिपूण	परिपूर्ण	२०४	२२
शोघन	शोधन	२१५	१३
अजीविका	आजीविका	२२९	१८
चीटी	चोटी	२४५	८
श्रत	श्रुत	२५६	४
पूर्वो	पूर्वो	,,	१८
महामश्रण	महाश्रमण	२८५	१२
अध्ययन	अध्ययन	२६५	१
आयरक्षित	आर्यरक्षित	३०३	२१
सं ह	संग्रह	३०४	१